प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एव साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष · ३३३४३१

द्वितीय सस्करण १९९५ ई०

मूल्य १२५-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए , बगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० न० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

भीजी मुद्रणालय

वाराणसी

प्राक्कथन

'कायचिकित्सा' आयुर्वेद का उत्तमाङ्ग है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के उत्कर्ष, सम्मान, गौरव और प्रतिष्ठा का समस्त श्रेय कायचिकित्सा को है। चिकित्सा-गङ्गा के हिमगिरि आचार्य चरक हैं और उन्होंने आयुर्वेद के दो प्रयोजनों[1] का उल्लेख किया है—१. स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का सरक्षण और २ रुग्ण व्यक्ति की पीडा का प्रशमन। इन प्रयोजनो की पूर्ति के लिए उन्होंने तीन अति महत्त्वपूर्ण सूत्र बतलाये हैं—१ सशोधन, २ सशमन और ३ निदानपरिवर्जन[2]।

इनमे सशोधन का स्थान प्रथम है, क्योकि सशोधन के द्वारा शुद्ध किये गये दोषो के पुन प्रकुपित होने की सम्भावना नही होती है[3]। अतएव आचार्य चरक ने ऋतुओ मे स्वभावत होनेवाले दोषप्रकोप के शमन के लिए उन-उन ऋतुओ मे सशोधन[4] का उपचार बतलाया है तथा एक 'ऊरुस्तम्भ' रोग को छोडकर प्राय सभी रोगो मे सशोधन करने का निर्देश दिया है।

सशोधन की उपयोगिता स्वस्थ और रोगी—इन दोनो के लिए है। सशोधनार्थ 'पञ्चकर्म' की प्रक्रिया अङ्गीकृत है, जिसके प्रयोग से रोगोत्पादक दोष, मल, विजातीय द्रव्य और अधारणीय पदार्थों का उत्सर्जन होता है। जिसके फलस्वरूप स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का सरक्षण और रोगी व्यक्ति के रोग का प्रशमन—इन दोनो प्रयोजनो का समाधान हो जाता है।

पञ्चकर्म से रोग के हेतुभूत दोषो का शोधन हो जाता है। पञ्चकर्म दैनन्दिन नित्यकर्म मे, ऋतुचर्या मे, अधारणीय वेग-प्रवर्तन मे, विष-प्रतीकार मे और आयुर्वेद के आठो अङ्गो मे प्रयुक्त होता है। शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण—इन सभी मे पञ्चकर्म के द्वारा शोधन कराने की अपेक्षा होती है।

---

१ प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यसरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च।
—चरक० सूत्र० ३०।२६

२. सशोधन सशमन निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ —च० वि० ७।३५

३ ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भव.। —च० सू० १६।२०

४. हैमन्तिक दोषचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ —च० शा० २।४५

'पञ्चकर्म' मे किये जानेवाले समस्त क्रिया-कलापों का 'कायचिकित्सा' के इस चतुर्थ भाग मे साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

तदनन्तर **'रसायन'** मे सम्बद्ध विपयो का विशद निरूपण किया गया है । **'रसायन'** मनुष्य को आधि-व्याधि से मुक्त कर दीर्घ आयु, ऊर्जा, स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति, कान्ति, शारीरिक और मानसिक बल तथा सौन्दर्य आदि श्रेष्ठ गुणो का प्रदाता है । रसायन स्वभावत उत्पन्न होनेवाले क्षुधा, पिपासा, जरा और मृत्यु को भी रोक सकने का सामर्थ्य प्रदान करता है । आयुर्वेद का **आचाररसायन** (चरक० चि० १।४) मनुष्य को देवत्व की ओर ले जानेवाला और ब्राह्मीसम्कृति"[1] का प्रणेता है, जिसके आचरण से मनुष्य के मन का अयम् काञ्चन बन सकता है ।

रसायन शरीर, मन और आयुष्य का उपबृंहण करता है । यह एक ओर च्यवन को भरद्वाज बनाकर उसके वार्धक्य का निराकरण कर उसे पुनर्युवा और स्त्रियो का अतिशय प्रीतिपात्र बनाता है,[2] तो दूसरी ओर इन्द्रियो को सात्त्विक और अध्यात्मप्रवण बनानेवाला पारसमणि है ।

परिपूर्ण रसायन-सेवी व्यक्ति अष्टसिद्धियो की निधि का स्वामी बन सकता है । इसमे एहलौकिक और आमुष्मिक श्रेय का विलक्षण सान्निध्य है । इस **रसायन** आयुर्वेदाङ्ग का इस ग्रन्थ मे व्यावहारिक वर्णन किया गया है ।

आयुर्वेद का आठवाँ अग वाजीकरण है, जिसकी उपयोगिता और प्रयोजन को ध्यान मे रखकर आवश्यक सन्दर्भों का विवेचन भी इस ग्रन्थ मे किया गया है ।

वाजीकरण कामशास्त्र की एक पूरक शाखा है, जो जीवन की मूलतम प्रवृत्ति 'काम' का नियमन करती है । काम एक लोकोत्तर विश्वविजयी भाव है, जिसके झझावात के प्रवाह मे त्रिदेव के मन का सन्तुलन भी आन्दोलित हो उठता है । स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक प्रेमबन्धन को काम की सज्ञा दी गयी है ।

---

१ अभय सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दव ह्रीरचापलम् ॥
तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥ —गीता १६।१-३

२. अनेन च्यवनादयो महर्षय. पुनर्युवत्वमापु नारीणा चेष्टतमा बभूवु । —चरक० चि० १।२।१

काम एक प्रबल सम्मोहन शक्ति है और वाजीकरण काम को लोकैषणा की पूर्ति के लिए धर्मयुक्त श्रेष्ठ साधन के रूप मे प्रस्तुत करने का ज्ञान है।

काम एक अचिन्त्य शक्ति है। इसे किस प्रकार नियन्त्रित कर सन्तानोत्पत्ति योग्य बनाया जाय और सुन्दर, शक्तिशाली एव वीर बालक उत्पन्न हो, इसका उपदेष्टा शास्त्र है—वाजीकरण। जीवन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सन्तानोत्पत्ति है और उसका पथ-प्रदर्शक होने से वाजीकरण एक स्वतन्त्र आयुर्वेदाङ्ग माना गया है। सन्तानोत्पत्ति एक सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आवश्यकता है।

वाजीकरण का उच्च लक्ष्य है—पशुवृत्तिमूलक कामवासना पर विजय पाकर सद्गृहस्थ बनाना और मानव के चरित्र को उदात्त बनाना। यह प्रेम की चिनगारी को शोला बनने से रोकने की कला है। उन्नत चरित्र, वीर्यरक्षा, सन्तानोत्पत्ति और कामसुखोपभोग के लिए वाजीकरणतन्त्र का मानव-जीवन मे महान् योगदान है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ मे—१. पञ्चकर्म, २. रसायन और ३ वाजीकरण, इन तीन विषयो का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान काल मे प्रचलित केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली के कायचिकित्सा के पाठ्यक्रम के चतुर्थ प्रश्नपत्र मे इन तीनो विषयो का सन्निवेश है।

यह आवश्यकता महसूस की गयी कि जिस प्रकार कायचिकित्सा के प्रथम तीन प्रश्नपत्रो के विषयो के लिए अलग-अलग तीन ग्रन्थो का प्रकाशन किया गया, उसी प्रकार चतुर्थ प्रश्नपत्र से सम्बद्ध विषयो को भी स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित किया जाय, और इस प्रकार 'कायचिकित्सा' चतुर्थभाग की रचना की गयी।

इस पुस्तक को सुधीजनो के समक्ष उपस्थापित कर लेखक आशावान् है, कि विद्वज्जन तथा जिज्ञासु अध्येतावृन्द ने जिस सौहार्दभाव से लेखक की पूर्व की रचनाओ का समादर किया है, उसी प्रकार इस चतुर्थ भाग को भी समादृत करेंगे। यह विश्वास है कि इसके पठन-पाठन से कायचिकित्सा के चतुर्थ प्रश्नपत्र के विषयो का यथेष्ट ज्ञान अर्जित किया जा सकेगा और विज्ञजनो को ऊहापोह का अवसर प्राप्त होगा।

इस पुस्तक के प्रणयन मे मेरे आत्मज डॉ० आशुतोष शुक्ल ने सन्दर्भों के सकलन आदि मे अभीप्सित योगदान किया है। भगवान् विश्वनाथ उनकी स्वाध्याय और लेखन की प्रवृत्ति का सवर्धन करे, यही आकाक्षा है।

प्रिय शिष्य डॉ० रामभवन मिश्र ने पर्याप्त समय देकर लेखन-सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार की सहायता की है, उनकी यह अभिरुचि जागृत रहे और स्वाध्याय का अविच्छिन्न क्रम चलता रहे एवं वे एक सफल चिकित्सक का उत्तरदायित्व वहन करें, यही कामना है।

अन्त मे चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी परिवार को अनेकश साधुवाद है, जिन्होंने मुझे प्रेरित कर मुझसे सम्पूर्ण कायचिकित्सा का लेखन सम्पन्न कराया और उसे यथा समय सुरुचिपूर्ण ढग से प्रकाशित किया। माता अन्नपूर्णा उनके आयुर्वेद-वाङ्मय के प्रकाशन को गौरवमण्डित करें, यही प्रार्थना है।

महाशिवरात्रि
२ मार्च, सन् १९९२
आशुतोष औषधालय
जलकल रोड, देवरिया (उ० प्र०)

विद्वज्जनानुचर
विद्याधर शुक्ल

विषय-सूची

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) का पाठ्यक्रम

कायचिकित्सा : चतुर्थ प्रश्नपत्र

(भाग-क : ५० अंक)

पञ्चकर्म मे प्रयुक्त कर्म—पञ्चकर्म मे प्रयुक्त कर्म, उनका प्रयोजन, परिभाषा और उनका विधान। (द्रष्टव्य पृष्ठ १-१४)

स्नेहन, स्वेदन योग्य रोग एव रोगी। अतिस्निग्ध, अतिस्विन्न रोगियों के लक्षण, स्वेदित, अस्वेदित, अतिस्वेदित रोगियों के लक्षण। (पृष्ठ १५-६१)

वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन, अनुवासन कर्मों का उपयोग, अतियोग एवं सम्यग् योगों का ज्ञान, उनका उपयोग तथा अतियोगजन्य उपद्रवों की चिकित्सा का ज्ञान। स्नेह के प्रयोग मे विचारणा, उपादेयता, प्रकार, स्नेह की मात्रा, स्नेह द्रव्यों का ज्ञान, स्वेदन क्रिया मे प्रयुक्त द्रव्यों का ज्ञान। वमन, विरेचन, आस्थापन-अनुवासनक्रिया मे प्रयुज्यमान द्रव्यों और यन्त्रों का ज्ञान। संशोधन योग्य रोगी के बलाबल के अनुसार पञ्चकर्मोपयोगी औषध द्रव्यों का विचार। वमन तथा विरेचनकर्म के उत्तम मध्यम-अवर वेगों का विचार। समर्जन क्रम विधि का ज्ञान। (पृष्ठ ६२-१०४)

वस्ति यन्त्रों के गुण-दोष का विचार, बस्तिप्रयोग-विधि और वमन-विरेचनार्थ कल्पों का ज्ञान। वस्तिकर्म मे प्रयुज्य मान द्रव्यों की मात्रा आदि का निरूपण। वस्तिव्यापद् (उपद्रव) के सन्दर्भ का विचार। (पृष्ठ १०५-१४१)

(भाग-ख . ५० अक)

१ **रसायन**—रसायन की परिभाषा, पर्याय और निरुक्ति। रसायन का प्रयोजन, फल तथा रसायन का ऐतिहासिक महत्त्व। रसायन का प्रकार, कुटीप्रावेशिक तथा वातातपिक कल्प-प्रयोग का ज्ञान। आचाररसायन। रसायन के योग एव उनके प्रयोग विधि का विवरण। रसायन-सेवन का अधिकारी व्यक्ति। कुटीप्रावेशिक कल्प की विधि, पूर्वकर्म, कुटी प्रवेश के बाद संयमपूर्वक निवास, कुटी-प्रवेश का विशेष फल, प्रवेश-कालावधि, वहाँ पर आवश्यक चर्या, बाहर निकलना और उसके नियम। अवस्था के अनुसार रसायनौषधि की मात्रा का निर्धारण तथा मात्रा-भेद का ज्ञान। रसायन-सेवन के बाद प्राकृत आहार-विहार सेवन के नियम और चर्या। रसायनसेवन योग्य व्यक्ति और उसका समय। वातातपिक रसायन-प्रयोग के योग्य व्यक्ति एव काल तथा उसके विस्तृत विधान का वर्णन। रसायन-प्रयोग सिद्धयर्थं आवश्यक भाव। (पृष्ठ १५२-१९३)

जीवतिक्तियों (Vitamines) का रसायन कर्म मे महत्त्व, जीवतिक्ती-हीनताजनित विकार और उसकी चिकित्सा। (पृष्ठ १९४-२०८)

ज्ञातव्य—विषय के आगे कोष्ठक मे उल्लिखित अक पुस्तक की पृष्ठ संख्या के सन्दर्भ है।

२ **वाजीकरण**—वाजीकरण की परिभाषा, पर्याय, निरुक्ति, प्रयोजन एव फल। वाजीकरण का ऐतिहासिक महत्त्व। वाजीकरण के योग्य पुरुष और काल (अवस्था) का ज्ञान (पृष्ठ २०९–२२८), स्त्री-प्रशसा, वाजीकरणार्थ श्रेष्ठ स्त्रियों के लक्षण, सन्तानहीन की निन्दा। (पृष्ठ २२९–३४), वाजीकरण के लिए पूर्वकर्म हेतु सेवन विधि और मात्रा का ज्ञान। प्रशस्त शुक्र के लक्षण। (पृष्ठ २३५–३९); वाजीकरणार्थ औषध-सेवन के बाद तथा मैथुन के बाद सेवनीय पदार्थों का ज्ञान। (पृष्ठ २४०–५१)

३ निम्नलिखित औषधि योगों के मुख्य घटक, मात्रा, अधिकार एव गुणकर्म का वर्णन—

खरलीय योग—१ हिंगुलेश्वररस, २ त्रिभुवनकीर्तिरस, ३ पुटपक्वविषमज्वरान्तक लौह, ४. वसन्तमालतीरस, ५ महालक्ष्मीविलासरस, ६ आनन्दभैरवरस, ७. श्वासकुठाररस, ८ वसन्तकुसुमाकररस, ९ लोकनाथरस, १० प्रवालपञ्चामृत, ११ चन्द्रामृतरस, १२. सूतशेखररस, १३ चन्द्रकलारस, १४ जलोदरारिरस, १५. हृदयार्णवरस, १६. योगेन्द्ररस, १७ बृहद्वातचिन्तामणिरस, १८ इच्छाभेदीरस, १९ पुनर्नवादिमण्डूर, २० नवायसलौह, २१ सप्तामृतलौह, २२ चन्दनादिलौह, २३. बृहत् कस्तूरीभैरवरस, २४. चन्द्रप्रभावटी, २५ गन्धकरसायन। (पृष्ठ २५२)

कूपीपक्व योग—१ रससिन्दूर, २. मकरध्वज, ३ समीरपन्नगरस। (पृष्ठ २६१)

पर्पटी योग—१ पञ्चामृतपर्पटी, २. रसपर्पटी, ३ बोलपर्पटी, ४ श्वेतपर्पटी। (२६३)

अवलेह योग—१ वासावलेह, २ व्याघ्रीहरीतकी, ३. च्यवनप्राशावलेह, ४. कूष्माण्डावलेह। (पृष्ठ २७२)

तैलयोग—१ महानारायणतैल, २ महामाषतैल, ३ बलातैल, ४ षड्बिन्दुतैल, ५ पातितभल्लातकतैल। (पृष्ठ २७९)

चूर्णयोग—१ सितोपलादिचूर्ण, २ हिङ्ग्वष्टकचूर्ण, ३ लवणभास्करचूर्ण। (पृष्ठ २६९)

गुग्गुलुयोग—१ योगराजगुग्गुलु, २ महायोगराजगुग्गुलु, ३ त्रयोदशागगुग्गुलु, ४ रास्नादिगुग्गुलु, ५ त्रिफलादिगुग्गुलु। (पृष्ठ २६७)

लवणयोग—१ नारिकेललवण, २ अर्कलवण। (पृष्ठ २७१)

वटीयोग—१ चित्रकादिवटी, २ लवङ्गादिवटी, ३ खदिरादिवटी ४ व्योषादिवटी, ५ शखवटी। (पृष्ठ २६५)

लेपयोग—१ दशाङ्गलेप। (पृ० २८६)

आसवयोग—१ कुमार्यासव, २ लोहासव, ३ कनकासव। (पृष्ठ २७६)

अरिष्टयोग—१ अशोकारिष्ट, २ सारस्वतारिष्ट, ३ कुटजारिष्ट। (पृष्ठ २७८)

॥ श्री ॥

काय-चिकित्सा

प्रथम अध्याय

पञ्चकर्म और उनकी परिभाषा

निर्वचन

१ वमन, २ विरेचन, ३ अनुवासन, ४ निरूह और ५ नस्य— इन पाँचों कर्मों को पञ्चकर्म कहते हैं[1]। इसी अनुक्रम से उनका प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

आयुर्वेद की प्रतिष्ठा, सम्मान और गौरव कायचिकित्सा अङ्ग से है एवं कायचिकित्सा द्वारा चिकित्स्य रोगों के उपचार में पञ्चकर्म-पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पञ्चकर्म शब्द दो शब्दों से बना है—पञ्च + कर्म। पञ्च शब्द सख्यावाचक है और मङ्गलार्थक है। आयुर्वेद मे पञ्च शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है, जैसे—पञ्चमहाभूत, पञ्चमूल, पञ्चकोल, पञ्च क्षीरीवृक्ष इत्यादि।

कर्म[2]—'क्रियते इति कर्म' अर्थात् जो क्रिया की जाती है, उसे कर्म कहते हैं। कर्म, क्रिया, कार्य का आरम्भ—ये समानार्थक शब्द हैं। यहाँ कर्म का अर्थ 'चिकित्सा' है। कर्ता के अभीष्ट कार्य को कर्म कहते हैं।[3] द्रव्य के कार्य को उस द्रव्य का कर्म कहते हैं[4]।

पञ्चकर्म सशोधन-चिकित्सा का एक प्रकार है, जिसका प्रयोग स्वस्थवृत्त[5]

---

१ (क) प्रथम वमन पश्चाद् विरेकश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्चकर्माणि निरूहो नावन तथा॥ —भा० प्र० पू० ख०

(ख) वमन रेचन नस्य निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्चकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥ —शा० उ० ८।७०

२ प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म, यत्न. कार्यसमारम्भश्च। —च० वि० ८।७७

३. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पाणिनिसूत्र १।४।४९) 'कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतम कारक कर्मसंज्ञं स्यात्'। तथा 'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते'। —च० सू० १।४९

४. द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन् काले तत्तदधिष्ठानमासाद्य ता ता युक्तिमर्थं च तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म। —च० सू० २६।१३

५ हैमन्तिक दोषचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ —च० शा० २।४५

और चिकित्सा इन दोनो स्थलो मे किया जाता है। चिकित्सा मे रसायन तथा वाजीकरण सेवन के पहले भी पञ्चकर्म का प्रयोग[1] अनिवार्य रूप मे करणीय बतलाया गया है।

वक्तव्य—सामान्यत पञ्चकर्म का प्रयोग शोधन के लिए किया जाता हे और शोधनकर्म का क्षेत्र एक ऊरुस्तभ रोग को छोडकर समग्र कायचिकित्सा के रोग है। इसी अभिप्राय से आचार्य चरक ने प्रत्येक रोग मे सशोधन कर्म का निर्देश किया है[2]। आचार्य वाग्भट ने सक्षेपत वातरोग मे वस्ति, पित्तज रोग मे विरेचन और कफज रोग मे वमन चिकित्सा कही है[3]। चरकसहिता मे अनेक ऐसे सन्दर्भ है, जिनके देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चकर्म का मुख्य लक्ष्य दोष-शोधन है[4]। इसका यह तात्पर्य नही समझना चाहिए कि पञ्चकर्म का उद्देश्य मात्र शोधनकर्म ही है, अपितु बृहण वस्ति, बृहण नस्य, शमन वस्ति, लेखन वस्ति, शमन नस्य आदि के प्रयोग शास्त्रो मे निर्दिष्ट है एव अनुवासनवस्ति को तो शोधन मे गिना ही नही जाता है। अत निष्कर्ष यह है कि पञ्चकर्म मात्र शोधन नही हे, प्रायश शोधन है और यह एक चिकित्सा का अद्भुत लाभकारी, व्यापक तथा स्थायी आरोग्य प्रदान करनेवाला विशिष्ट उपक्रम है।

पञ्चकर्म और रक्तमोक्षण

पञ्चकर्म एक शोधन-प्रधान पद्धति है और रक्तमोक्षण भी एक शोधन-प्रधान कर्म है, अत पञ्चकर्म मे इसका भी समावेश होना चाहिए—यह एक प्रश्न है।

इसे पञ्चकर्म का अङ्ग न मानने मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

१ सिद्धान्त रूप मे निकट के मार्ग से दोष-सशोधन शरीर के स्वाभाविक मार्गो से किया जाता है[5]। जैसे—आमाशय के लिए वमन और विरेचन, पक्वाशय के लिए विरेचन और वस्ति, ऊर्ध्वजत्रुगत विकारो के लिए नस्य, योनि, गर्भाशय और मूत्राशय के लिए उत्तरवस्ति दी जाती है, किन्तु रक्तमोक्षण के लिए पूर्वोक्त की भाँति स्वाभाविक मार्ग नही है, अत कृत्रिम मार्ग करना पडता है।

२ रक्तमोक्षण की प्रक्रिया शल्यतन्त्र मे समाविष्ट है और उसका प्रयोग उसी तन्त्र मे किया जाना न्यायोचित है, क्योकि आचार्यों की यह परम्परा है कि वे दूसरे

---

१. च० वि० ७।३५; च० चि० १।४।२४, च० चि० २।१।५० ५१।

२ सशोधन सशमन निदानस्य च वर्जनम्। एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ —च० वि० ७।३५

३ शारीरजाना दोषाणा क्रमेण परमौषधम्। वस्तिर्विरेको वमन तथा तैल घृत मधु॥ —अ० हृ० सू० १।२५

४ तान्युपस्थितदोषाणा स्नेहस्वेदोपपादनै। पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्॥ —च० सू० २।१५

५. हन्त्याशु युक्त वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान्।
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च॥ —अ० हृ० सू० १३।३१

के अधिकार-क्षेत्र मे दखल नही देते। इसी कारण कायचिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ 'चरक-सहिता' आदि मे रक्तमोक्षण को पञ्चकर्म का अङ्ग नही माना गया है।

३ जैसे वमन, विरेचन आदि कर्म किसी विशेष दोष को दूर करने के लिए (कफ के लिए वमन, पित्त के लिए विरेचन और वात के लिए वस्ति) किये जाते है, उसी प्रकार रक्तमोक्षण किसी दोष-विशेष को दूर करने के लिए नही किया जाता। अत **पञ्चकर्म की तरह दोषनिर्हरण व्यवस्थाकारक न होने से रक्तमोक्षण को पञ्चकर्म मे नहीं गिना जाता।**

उक्त कारणो से रक्तमोक्षण को पञ्चकर्म मे महत्त्व न देना अनुचित है, क्योकि—(१) वमनादि की तरह रक्तमोक्षण के लिए भी त्वचा क अन्तर्गत रक्त-वाहिनियाँ प्राकृत एव समीपवर्ती मार्ग है। (२) प्लीहा, यकृत्, गृध्रसी, विश्वाची आदि कायचिकित्सा के रोगो मे भी रक्तमोक्षण किया जाता है, अत कायचिकित्सा मे भी उसका समावेश करना उचित है। इसी प्रकार—(३) दोषविशेष के शोधन मे भी रक्तमोक्षण उपयोगी है, क्योकि आश्रयाश्रयीभाव से इससे पित्त का शोधन होता है एव मतान्तर से जब रक्त को भी दोष मानकर उसका उपचार और शोधन किया जाता है, उस दृष्टि से दुष्ट रक्त का निर्हरणकारक होने से रक्तमोक्षण भी पञ्चकर्म मे समावेश के योग्य है।

इस प्रकार प्रायश शोधनकारक वमन आदि के समकक्ष शोधनधर्मा होने से रक्तमोक्षण का पञ्चकर्म मे परिगणन करना प्रत्येक दृष्टि से युक्तिसगत है। इसी अभिप्राय से सुश्रुत और वाग्भट ने शोधन मे रक्तमोक्षण का उल्लेख किया है।

वस्ति शब्द से निरूह और अनुवासन दोनो का ग्रहण कर पाँचवाँ कर्म रक्त-मोक्षण मानने मे कोई आपत्ति नही है और सिद्धान्तत —१ वमन, २ विरेचन, ३ वस्ति, ४ नस्य और ५ रक्तमोक्षण, ये पञ्चकर्म कहे जाते है[1]।

वमन कर्म : परिचय और परिभाषा

दोषो को मुखमार्ग से बाहर निकालने को वमन कहते है। वमन कराकर कफ दोष को बाहर निकाला जाता है। जो द्रव्य अपक्व पित्त तथा कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख से बाहर निकाल देता है, उसे वमनकारक[2] द्रव्य कहते है जैसे—मदनफल[3]।

वमन के पर्याय—वमि, वमथु, वमन, छर्दि और छर्दन -ये परस्पर पर्यायवाचक शब्द हैं।

वमन का कार्य– कफ का स्थान प्रमुख रूप से आमाशय है और दोषो का

---

१ पञ्चधा शोधन च तद्—निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुति। —अ० हृ० सू० १४

२ अपक्व पित्तश्लेष्माण बलोदूर्ध्वं नयेत्तु यत्। वमनं तद्धि विज्ञेय मदनस्य फल यथा॥ —शा० प्र० ख० ४।८

३. वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनपायित्वात्। —च० क० १।१३

सन्निकृष्ट मार्ग से निकालने का सिद्धान्त है, अत वमन मे आमाशयस्थ कफदोष का समूलोच्छेदन हो जाता है एव कफज रोगो के होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

परिभाषा--वमन सशोधन की एक विधा है। यह ऊर्ध्वभागहर[1] सशोधन है। प्रकुपित कफप्रधान दोष और शरीर मे बाधा उत्पन्न करनेवाले कारकों को मुखमार्ग से बाहर निकालना वमन कहलाता है।

विरेचन कर्म : परिचय और परिभाषा

दोषो को अधोमार्ग (गुदा) से बाहर निकाल देना विरेचन[2] कहलाता है। यह पित्तदोषज विकारो का उपचार है[3]। पित्त के लिए, पित्तप्रधान दोषो के लिए, कफसंसृष्ट पित्त के लिए और पित्तस्थानगत कफ के लिए विरेचन देना उत्तम है[4]। विरेचन आमाशय के पित्त का शोधन कर अन्य पित्तो को भी शान्त कर देता है[5]।

वस्ति कर्म : परिचय और परिभाषा

वस्तिकर्म (मूत्राशय) द्वारा द्रव औषधो को आभ्यन्तर प्रविष्ट करने को वस्ति कहते हैं। वस्ति मूत्राशय को कहते है और वस्ति (Urinary bladder) के द्वारा जो औषध (गुदादि मार्ग मे) शरीर मे प्रविष्ट की जाती है तथा जो शरीर मे कुछ काल तक रहती है, उसे वस्ति कहते है। इस प्रकार वस्तिकर्म का अर्थ है— 'मूत्राशय या वस्ति द्वारा औषधियो को आभ्यन्तर प्रविष्ट करना'[6]।

वस्ति शब्द से निरूह, अनुवासन और उत्तरवस्ति आदि वस्तियो का बोध होता है। वस्ति वह प्रक्रिया है, जिसमे प्राय गुदामार्ग मे औषध-सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, मासरस आदि को पक्वाशय मे प्रविष्ट कराया जाता है। मूत्रमार्ग या योनिपथ से जो वस्ति दी जाती है, उसे उत्तरवस्ति कहते है। गुद से पक्वाशय मे, मूत्रमार्ग से मूत्राशय मे और योनिमार्ग से गर्भाशय मे वस्ति यन्त्र द्वारा औषध पहुँचाई जाती है।

पूर्वकाल मे जब तक रबर का आविष्कार नही हुआ था, तब तक गाय, बैल, बकरे या भैंस आदि प्राणियो के मूत्राशय (वस्ति) का इस कार्य के लिए प्रयोग होता था[7]।

---

१ तत्र दोषहरणमूर्ध्वभाग वमनसज्ञकम्। —च० क० १।४
तत्र चक्रपाणि —ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरण भजते, इति ऊर्ध्वभागम्।

२ तत्र (दोषहरणम्) अधोभाग विरेचनसज्ञकम्, उभय वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसज्ञां लभते। —च० क० १।४

३. विरेचन पित्तहराणां (श्रेष्ठम्)। —च० सू० २५।४०

४. पित्ते तु विरेक, श्लेष्मसंसृष्टे वातस्थानगते वा श्लेष्मणि (विरेकम्)। —अ० सं० सू० २७

५. विरेचन तु सर्वोपक्रमेभ्य पित्ते प्रधानतम मन्यन्ते भिषज। —च० सू० २०।१९

६. वस्तिना दीयते इति वस्ति.। और भी—
वस्तिभिर्दीयते यस्माद् तस्माद् वस्तिरिति स्मृतः। —शा० उ० ख० ५।१

७. जारद्गवो माहिषहारिणो वा स्याच्छौकरो वस्तिरजस्य वाऽपि। —च० सि० ३।१०

वस्ति एक ऐसी प्रक्रिया है, जो सर्वाङ्ग शरीर के लिए व्यापक लाभकर है। वायुजन्य रोगो के प्रतिकार के लिए वस्ति श्रेष्ठतम चिकित्सा है[1]। यह वातदोषो का नेता है और सर्वाधिक रोग वायु से होते है। इसी कारण वस्तिकर्म आधी चिकित्सा कही जाती है। कुछ विद्वानो की धारणा के अनुसार वस्तिकर्म सम्पूर्ण चिकित्सा है[2]।

नस्य कर्म : परिचय और परिभाषा

परिचय—नासिका के छिद्रो से औषध-चूर्ण सुँघाना अथवा औषध-सिद्ध द्रवो का नासिका मे विन्दु-विन्दु डालना नस्यकर्म कहलाता है और नासिका के छिद्रो से दी जानेवाली चूर्णित औषध को नस्य कहते है[3]।

पर्याय—नस्यकर्म, नस्त कर्म, शिरोविरेचन, शिरोविरेक, मूर्धविरेचन, नस्त. प्रच्छर्दन—ये परस्पर पर्यायवाची शब्द है।

उपयोग—जत्रु के ऊपर के अङ्गो मे होनेवाले विकारो मे विशेपकर नस्य का प्रयोग किया जाता है, क्योकि नासिका शिर का द्वार है और इस द्वार से प्रविष्ट औपध शिर मे व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रुगत विकारो को दूर करती है[4]। वाहुशीर्षगत शूल मे भी नस्य का प्रयोग एक सफल उपचार है[5]।

शिर, ग्रीवा, स्कन्ध, नेत्र, नासिका, मुख, दन्त आदि के रोगो मे, अर्दित मे, स्वरभेद मे, वाग्ग्रह और गद्गद (हकलाने) मे नस्य के प्रयोग का विधान वतलाया गया है[6]।

रक्तमोक्षण

परिचय—शरीर के किसी स्थान-विशेप से रक्त का निकालना रक्तमोक्षण कहलाता है। रक्त का शरीर एक अति महत्त्वपूर्ण धातु है, जिसके दूषित हो जाने पर अनेक प्रकार के रोगो के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है। अत रक्त के दुष्ट होने पर उसका शरीर से वाहर निकालना आवश्यक हो जाता है, जिससे तज्जन्य रोगो के होने की आशङ्का निर्मूल हो जाये। स्वास्थ्य-रक्षण और व्याधि-

१ त पवन सपित्तकफविट्क शुद्धिकरोऽनुलोमयति वस्ति ।
सर्वशरीरगश्च गदसङ्घस्तत्प्रशमात प्रशान्तिमुपयाति ॥ —च० सि० ११।१८

२ शाखागता. कोष्ठगताश्च रोगा. मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषा नहि कश्चिदन्यो वायो पर जन्मनि हेतुरस्ति ॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपसङ्घातकर स यस्मात ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित ॥
तस्माच्चिकित्सार्द्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥ —च० सि० १।४०-४१

३ नस्य तत् कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्य यदौषधम् । —भा० प्र० प्र० ख०

४. ऊर्ध्वजत्रुविकारेपु विशेषान्नस्यमिष्यते । नासा हि शिरसो द्वार तेन तद् व्याप्य हन्ति तान् ॥ —अ० हृ० सू० २०।१

५ वाहुशीर्षगते नस्यम् ।

६ च० सि० २।२२ ।

परिमोक्षण, इन दोनों दृष्टियों से रक्तमोक्षण की उपयोगिता है। रक्त और पित्त का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए रक्तज रोगो मे रक्त-पित्तहरी चिकित्सा, विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण करने का निर्देश दिया गया है।

पर्याय—रक्तावसेचन, रक्तनिर्हरण, रक्तस्रावण, शोणितमोक्षण, रक्तहरण और अस्रविश्रुति—ये परस्पर पर्यायवाची शब्द है। गृध्रसी आदि रोगो मे रक्त-मोक्षण मे सद्य लाभ होते देखा जाता है।

प्रकृति ने सबक दिया है शोधन का

वमन—प्राय देखा जाता है कि जब पशुओ को अजीर्ण होता है अथवा गले मे कफ के जकडने से कष्ट होता है, तो किसी तिक्तरस की घास चबाकर वे वमन करते है। आपने कुत्तो को वमन करते देखा होगा। ज्वर होने पर या उदर मे आध्मान या किसी प्रकार अजीर्ण होने पर वे लघन करते है और खाना छोड देते है।

वस्तिकर्म—आनूप (जलीय) भूभाग मे रहनेवाला एक पक्षी होता है, जिसे **'आइबिस'** कहते है। उसकी चोच लम्बी और नली की तरह होती है। जब उसे उदर मे विबन्ध या कब्जियत की शिकायत होती है, तो वह किसी जलाशय के तट पर जाकर अपनी लम्बी चोच मे पानी भरकर अपनी गुदा मे डालता है, जिसमे उसे दस्त लगते है और उसके मल का शोधन हो जाता है। उस 'आइबिस' पक्षी की उक्त क्रिया को देखकर सर्वप्रथम मिस्र देश के चिकित्सको ने वस्तिकर्म सीखा।

अशोक के शिलालेख से उस समय (ई० पू० २७३-२३३) भारतवर्ष मे मिस्र देश मे चिकित्सको के जाने का सकेत मिलता है। अलेक्जेण्डर भी अपने देश मे भारतीय वैद्यो को आदर के साथ ले गया था। मिस्र और भारत मे परस्पर ज्ञान-विज्ञान एव चिकित्सा-पद्धति का आदान-प्रदान होता था, तदनुसार उनसे भारतीय वैद्यो ने भी वस्तिकर्म सीखा।

रक्तमोक्षण—रक्तमोक्षण या सिरावेधकर्म **'हिपोपोटेमस'** नामक पक्षी के अनुकरण पर किया जाने लगा। यह पक्षी शरीर मे भारीपन या तनाव मालूम पडने पर किसी कुशाग्र (तीखे नोक वाले) तृण से अपनी जानु के पास की सिरा का वेधन करता है और रक्त निकल जाने पर कीचड मे पाँव डाल देता है, जिससे रक्त का बहना बन्द हो जाता है।

पशु-पक्षी भी स्वेदन आदि कर्म करते है

शीत, उष्ण और वर्षा काल से पशु-पक्षी भी प्रभावित होते है और अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करते है। शीत से बचने के लिए कन्दराओ मे शरण लेते है, झुण्ड मे सोते है अथवा घर्म का सेवन करते है। उष्णता से सन्तप्त होकर शीत-प्रदेशो मे शरण लेते है और अपनी रुचि के अनुसार स्थान पर पहुँचने के लिए हजारो किलोमीटर की उडान भरते है। वर्षा ऋतु मे कुछ प्राणी आनन्दविभोर होकर नृत्य करने लगते है। पशु-पक्षियो की मानसिकता पर मौसम का गहरा

प्रकार पञ्चकर्म रोगोत्पत्ति रोकने और रोग को समूल नष्ट करने में उपयोगी भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम चिकित्सा है।

(३) **दैनन्दिन नित्यकर्म**—शौच, दन्तधावन और स्नान की तरह मालिश, स्नेहन, शिरस्तैल, प्रतिमर्श नस्य, कर्णतैल, पादाभ्यङ्ग, मात्रावस्ति आदि पञ्चकर्म के अंगो का नित्य प्रयोग करने से शरीर स्वस्थ तथा सुदृढ बना रहता है। ये दिन-चर्या के अंग के रूप में प्रयोग योग्य है[1]।

(४) **ऋतुचर्या मे उपयोग**—जिस-जिस ऋतु मे जिस-जिस दोष का सञ्चय होता है, उस-उस ऋतु मे उस-उस दोष का शोधन बतलाया है, जिससे ऋतुजन्य विकार न हो। जब सञ्चयकाल मे ही दोष का निर्हरण कर दिया जाता है, तो दोष का प्रकोप आदि रुक जाता है और फिर रोग नही होता[2]।

दोषो के शोधन का काल—१ ग्रीष्मऋतु मे सञ्चित वात का श्रावणमास मे, २ वर्षाऋतु मे सञ्चित पित्त का कार्तिक मे और ३ हेमन्त मे सञ्चित कफ का चैत्र मे शोधन करना चाहिए। ये महीने समशीतोष्ण होने से संशोधन योग्य है। वात में वस्ति, पित्त मे विरेचन एवं कफ मे वमन कराये।

(५) **आधारणीय वेग-प्रवर्तन**—मल-मूत्र एवं अपानवायु के अवरोध में अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, जिनके निराकरण के लिए एवं वेग-प्रवर्तनार्थ यथा योग्य पञ्चकर्म का प्रयोग किया जाता है। वेगावरोधज रोग प्राणघातक हो जाते हैं और उनको दूर करने का सर्वोत्तम उपचार पञ्चकर्म है।

(६) **विष-प्रतिकार**[3]—किसी भी प्रकार के विष-भक्षण या विषदंश में सद्य वमन या विरेचन करा देने से विषाक्तता नही होती और रुग्ण का प्राणसंकट दूर हो जाता है। पंचकर्म के प्रयोग से विष का प्रभाव नष्ट होता है।

(७) **रसायन और वाजीकरण**—ये दोनो उपचार क्रमशः रसादि धातुओ को प्रशस्त बनाते, ऊर्जा देते और पौरुष-शक्ति बढाकर सम्भोग-सामर्थ्य तथा सन्तानोत्पत्ति-क्षमता प्रदान करते है। किन्तु इनका प्रयोग तभी फलप्रद होता है, जब औषधो के प्रयोग से पहले विधिवत् पञ्चकर्म का प्रयोग कर शरीर का शोधन कर

---

१. तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥ —च० सू० ५।१३

२ श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्॥ —अ० हृ० सू० १३।३३

३ विषाक्रान्त होने पर २४ प्रकार की चिकित्सा की जाती है—१ मन्त्र, २ अरिष्टाबन्धन, ३ उत्कर्तन, ४ निष्पीडन, ५ चूषण, ६ अग्नि से जलाना, ७ परिषेचन, ८ अवगाहन, ९ रक्तमोक्षण, १० वमन, ११ विरेचन, १२. उपधान (शिर के ऊपर त्वचा हटाकर औषध का प्रयोग करना), १३. हृदयावरण (हृद्य औषध-प्रयोग), १४. अञ्जन, १५ नस्य, १६. धूम, १७. अवलेह, १८ औषध प्रयोग, १९. प्रशमन, २०. प्रतिसारण, २१ प्रतिविष का प्रयोग, २२ संज्ञास्थापन, २३ लेप और २४. मृतसंजीवन अगद-प्रयोग। —चरक० चि० २३।३५-३७

है। **बालग्रहो** मे अभ्यङ्ग, परिषेक आदि का विधान है। **विषवेग** मे अवस्थानुसार वमन-विरेचन-नस्य, घृतपान एव रक्तमोक्षण का निर्देश है। **शालाक्यतन्त्र** मे विरेचन, नस्य एव रक्तमोक्षण का विधान है। **शल्यतन्त्र** के ६० उपक्रमो मे पञ्चकर्म की गणना है। इस प्रकार पञ्चकर्म आयुर्वेदीय चिकित्सा की आधारशिला है। शल्य-चिकित्सा मे परिषेक, अभ्यङ्ग, स्वेद, स्नेह, वमन, विरेचन, वस्ति और नस्य का सुश्रुत[1] ने उल्लेख किया है, जो पञ्चकर्म के अङ्ग हैं। वातज ववासीर मे स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और पित्तज मे विरेचन का विधान है।

(१०) **जनपदोध्वस[1] मे पञ्चकर्म**—जव वायु, उदक, देश, काल के वैगुण्य मे जनपदव्यापी महामारी फैलती है, तो जिन व्यक्तियो मे अरिष्ट (मृत्युसूचक लक्षण) उत्पन्न हो जाते हे या जो पूर्व मे ग्रामदाह आदि प्रचण्ड पापकर्म किये होते है और उन्हे कर्मफल भोग के सिलसिले मे मृत्युदण्ड भोगना पडता हे। किन्तु सामान्यजन को नीरोग वनाने के लिए यथायोग पञ्चकर्म कराना चाहिए। शरीर को सुदृढ वनाने के लिए रसायनो का प्रयोग कराना चाहिए। आयुष्य के परिपालन के लिए धार्मिक एव सात्त्विक वृद्धजनो के साहचर्य मे रहना चाहिए[2]।

इस प्रकार पञ्चकर्म-चिकित्सा का क्षेत्र वहुत विस्तृत है और चिकित्सा की सभी शाखाओ मे शोधन उपचार के लिए उसकी उपयोगिता स्वय प्रकाशित है। आचार्य चरक चिकित्सा के क्षेत्र मे सर्वोच्च सम्मान और यशोभाजन हुए हैं, जिसके मूल मे उनकी पञ्चकर्म-चिकित्सा के प्रति आस्था और गहरा लगाव रहा है।

पञ्चकर्म के पूरक पूर्वाऽपर कर्म

१ **पूर्वकर्म, २ प्रधानकर्म और ३ पश्चात्कर्म—ये तीन कर्म मिलकर पञ्चकर्म को सफल बनाते है[3]।**

(१) **पूर्वकर्म[4]**—पञ्चकर्म द्वारा जिस व्यक्ति का शोधन करना अभीष्ट होता है, उसकी तैयारी के लिए जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे पूर्वकर्म कहते है। पूर्वकर्म तीन प्रकार के हैं —१ पाचन, २ स्नेहन और ३ स्वेदन।

१ **पाचन**—आहार के सम्यक् पाचनार्थ अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली औषधो यथा—अग्नितुण्डी वटी, अग्निकुमार रस, द्रव्याद रस आदि और आम पाचन के लिए यथा—शिवाक्षारपाचन, हिग्वष्टक, चित्रकादि वटी, हिंग्वादि वटी, पञ्चकोल फाण्ट आदि औषधो का प्रयोग करना पाचनकर्म है।

२ **स्नेहन**—घृत-तैल-वसा-मज्जा ये चार स्नेह है और इनके समानगुण अन्य स्नेह द्रव्य भी स्नेह की कोटि मे आते है। इन स्नेहो का प्रयोग वाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार से किया जाता है। किसी को केवल स्नेह का पान कराया जाता हे और

---

१ सु० चि० ३।८।

२. कर्म पञ्चविध तेषा भेषज परमुच्यते। —च० वि० ३।३७

३ त्रिविध कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म पश्चात्कर्मेति। —सु० सू० ५।१

४. सशोध्यस्य पाचन-स्नेहन स्वेदनानि पूर्वकर्म, वमन विरेचन-वस्ति-नस्य सिरामोक्षणानि प्रधानं कर्म; पेयाद्यन्नमसर्जनं पश्चात् कर्म। —सु० सू० ५।१ पर डल्हण टीका

किसी को (जो मात्र स्नेह का पान न कर सके) भात, यूष, मांसरस, यवागू, शाक आदि में मिलाकर स्नेह दिया जाता है । बाह्य शरीर में तैलों की मालिश की जाती है ।

३ स्वेदन—स्वेदन दो प्रकार से (उपकरण की दृष्टि से) किया जाता है— १ साग्नि और २ निरग्नि । साग्नि में अग्नि से तपाकर बालू, पत्थर, नाड़ी, जेन्ताक आदि तेरह प्रकार से स्वेदन किया जाता है । निरग्नि स्वेद में व्यायाम करवाकर, गरम कमरे में रखकर, भारी ओढ़ना ओढ़ाकर और रोगी को उपवास कराकर तथा अन्य उपायों से बिना आग के स्वेदन कराया जाता है ।

इन पूर्वकर्मों से जब दोष मात्रा को छोड़कर कोष्ठ में चले आते हैं, तो निकट के मार्ग से उनका निर्हरण करने में सहूलियत होती है[1] ।

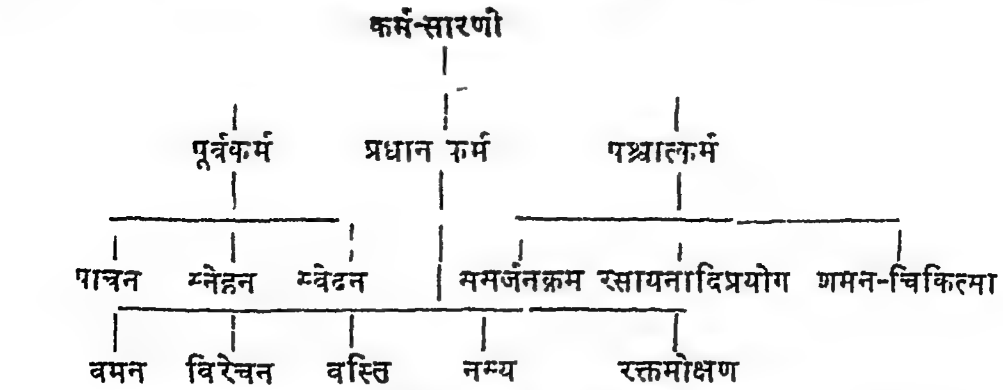
(२) प्रधानकर्म—वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण ये पांच प्रधान कर्म हैं । पूर्व में इनका परिचय दिया जा चुका है ।

(३) पश्चात् कर्म—वमन-विरेचन आदि के द्वारा शरीर का शोधन करने के पश्चात् शोधनकर्मजनित देह की दुर्बलता को शान्त करने, पथ्य देने, रोग-शमन करने और बलाधान के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे पश्चात् कर्म कहे जाते हैं । जैसे— १ संसर्जनक्रम, २ रसायन-वाजीकरण-प्रयोग और ३ शमन-प्रयोग ।

१ संसर्जनक्रम—पञ्चकर्म द्वारा शोधन किये जाने पर जठराग्नि दुर्बल हो जाती है और स्वाभाविक आहार का पाचन करने में असमर्थ होती है, अतः पहले आहार दिया जाता है । पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, अकृत मांसरस और कृत मांसरस, क्रमशः उत्तम-मध्यम-अवर शुद्धि के अनुपात से गिनकर तदनन्तर प्राकृत आहार दिया जाता है । इस क्रम को संसर्जनक्रम कहते हैं ।

२ रसायनादि क्रम—यदि किसी व्यक्ति का शोधन रसायन या वाजीकरण औषध-सेवन कराने के लिए किया गया हो, तो उस व्यक्ति को संसर्जन क्रम से पथ्य देने के पश्चात् रसायन या वाजीकरण औषध का प्रयोग कराना चाहिए ।

३ शमन चिकित्सा—किसी रोगी का शोधन करके उसे संसर्जनक्रम से पथ्याहार देकर, फिर रोगनाशक औषध का प्रयोग कराना चाहिए ।



१. तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः । पञ्च कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥
—च० सू० २।१५

पञ्चकर्म अपतर्पण चिकित्सा की अन्तिम कड़ी

सन्तर्पण (बृहण) और अपतर्पण (लघन) या शमन तथा शोधन[1] के अन्तर्गत चिकित्सा के समस्त प्रकार गतार्थ हो जाते हैं[2]।

आचार्य चरक ने अपतर्पण चिकित्सा को तीन प्रकार का बतलाया है[3]—१ लघन, २ लघनपाचन और ३ दोषावसेचन।

१ **लघन**[4]—जो द्रव्य या उपाय शरीर मे लाघव (हल्कापन) उत्पन्न करता है, उसे लघन कहते है। लघन से शरीर, दोष, धातु एव मलो मे लघुता उत्पन्न होती है।

लघनकारक द्रव्य[5]—जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन गुण वाले होते है, वे प्राय लघन करनेवाले होते ह।

लघन के १० प्रकार[6]—१ वमन, २ विरेचन, ३ नस्य, ४ निरूहवस्ति—ये चार सशोधन तथा ५. पिपासा, ६ वायु का सेवन, ७. धूप का सेवन, ८ पाचन औषधो का प्रयोग, ९ उपवास और १० व्यायाम—ये १० प्रकार के लघन होते हैं।

लघन का काल[7]—त्वचा के रोगी, अतिस्निग्ध व्यक्ति, अभिष्यन्दी (जिनके शरीर मे कफ भरा हो), स्थूल व्यक्ति और वातरोग से पीडित व्यक्ति को शिशिर-ऋतु (माघ-फाल्गुन) मे लघन का प्रयोग करना चाहिए।

लघनयोग्य व्यक्ति और उससे लाभ—जिस व्यक्ति मे दोषो का बल अल्प हो, उसे लघन कराना चाहिए। जिस प्रकार किसी जलाशय का थोडा जल वायु और धूप की प्रखरता से सूख जाता है, उसी तरह अल्प दोष देह मे लघन से अग्नि और वायु के बढने से सूख जाता है[8]।

२. **लघनपाचन**[9]—जिस व्यक्ति मे दोष का बल मध्यम कोटि का हो, उसे

---

१. एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण । बृहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ॥ —अ० स० सू० २४।२

२ शोधन शमन चेति समासादौषधं द्विधा। —अ० हृ० सू० १।२५

३. अपतर्पणमपि च त्रिविधं लङ्घन, लङ्घनपाचन, दोषावसेचन च। —च० वि० ३।४९

४ यत् किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घन स्मृतम्। —च० सू० २२।९

५ लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्ष सूक्ष्म खर सरम्। कठिन चैव यद् द्रव्य प्रायस्तल्लङ्घन स्मृतम् ॥ —च० सू० २२।१२

६ चतुष्प्रकारा सशुद्धि पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ —च० सू० २२।१८

७ त्वग् दोषिणा प्रमीढाना स्निग्धाभिष्यन्दिबृहिणाम्।
शिशिरे लङ्घन शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥

८ तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणाम्। लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्धया वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोष प्रशोषमापद्यते। —च० वि० ३।५०

९ लङ्घनपाचने तु मध्यबलदोषाणाम्। लङ्घनपाचनाभ्या हि सूर्यसन्तापमारुताभ्या पांशु-भस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदक मध्यबलो दोष प्रशोषमापद्यते। —च० वि० ३।५१

कुछ अंश मे लघन कराना चाहिए और प्रधान रूप से पाचन-प्रयोग[1] कराना चाहिए। लघन एव पाचन के प्रयोग से मध्यबल वाले दोष का शोषण हो जाता है, जैसे सूर्य के ताप और वायु के तीव्र प्रवाह लगने तथा धूल या राख पडने से सामान्य जलाशय का जल सूख जाता है।

३ **दोषावसेचन**[2]—जब दोष अधिक बढे होते है तो उनकी चिकित्सा दोषो का अवसेचन अर्थात् बाहर निकालना है।

जिस व्यक्ति के शरीर मे कफ, पित्त, रक्त और मल अधिक मात्रा मे हो तथा जिसके शरीर मे कफ, पित्त, रक्त और मल वायु से युक्त हो, जिसका शरीर बडा और बलवान् हो, उसे सशोधन (यथा —वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य या रक्त-मोक्षण) का प्रयोग कर लघन कराना चाहिए[3]।

जिस प्रकार पानी मे डूबे हुए किसी खेत को सुखाने के लिए उस खेत की मेंड काटकर पानी बाहर निकाल दिया जाता है, वैसे ही 'बहुदोष' का उपचार दोषा-वसेचन है।

पूर्वकर्म का विस्तार

पाचन

'पाचन' गुण युक्त द्रव्य वे कहलाते है, जो जठराग्नि को प्रदीप्त किये बिना ही 'आम' का पाचन करते है[4]। जैसे चूल्हे की अग्नि पतीली मे रखे चावल को पकाती है, किन्तु दीपक की भाँति चारो ओर प्रकाश नही करती, वैसे ही पाचन द्रव्य अग्नि का 'दीपन' करने मे समर्थ नही होता। जैसे—

नागकेशर, भिलावा, कुटकी, समुद्रलवण, जीरा, तक्र, नीबू, हल्दी, दारुहल्दी, सोवा, बडी इलायची, इन्द्रजौ, अतीस, वच, भारगी आदि औषधियाँ पाचन है।

पाचन औषधे आमाशय की क्रिया को बढाकर आहार या आम का पाचन करती है। उसमे निम्नलिखित अनुसार तीन प्रकार की क्रियाएँ होती है —

१ पाचक रस का निःसरण कराकर भुक्त द्रव्य को शोषण और समीकरण योग्य बनाना।

२ आमाशय-गति द्वारा आहार द्रव्य का अणु-अणु मे विभक्त होकर आमाशय रस मे सम्मिलित होना।

---

१ विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासारोचकादयः। पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत् ॥
—च० सू० २२।२१

२ बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्, न हि अभिन्ने केदारसेतौ पल्वलप्रसेकोऽस्ति, तद्वद्दोषावसेचनम्।
—च० वि० ३।४२

३ प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमलाः संसृष्टमारुताः। बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः ॥
—च० सू० २२।१८

४ पचत्यामं न वह्निं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम्। नागकेशरवद्विद्याच्चित्रो दीपनपाचनः ॥
—शार्ङ्गधर

३ अहार के कुछ अंश का आमाशय की पचन-क्रिया द्वारा शोषणयोग्य होकर शोषित हो जाना।

आमाशयरस-स्राव पर कार्यकर औषध

भोजन के पहले क्षार-मिश्रित जल का सेवन करने से आमाशयरस अधिक निकलता है। भोजन के प्रारम्भ मे किञ्चित् नीबू के रस, सेंधानमक और अदरक के सेवन से भी आमाशयिक रसस्राव अधिक होता है। जल-मिश्रित स्वल्प शराव से भी आमाशय मे उत्तेजना आ जाती है।

अम्लरस-मिश्रित क्षार-सेवन से मुख मे लालास्राव अधिक होता है। लालास्राव विशेष होने पर भोजन स्वादिष्ट लगता है। आहार को अच्छी तरह चबाकर खाने से लालास्राव और आमाशयिक रस के नि सरण मे वृद्धि होती है।

निर्बल आमाशय वाले अजीर्ण रोगी को भोजन के प्रारम्भ मे शुष्क पदार्थ का सेवन कराना चाहिए, जिससे उचित मात्रा मे आमाशयिक रस का स्राव हो। तरल पदार्थ के अधिक सेवन से रसस्राव मे न्यूनता होती है।

जिनकी पाचन-शक्ति कमजोर हो, उनको भोजन के साथ स्वल्प जल पीना चाहिए। भोजन के १ घण्टे बाद जल पीना उत्तम है।

अग्निमान्द्य और अपचन मे, भोजन के आरम्भ मे नीबू के रस और नमक के साथ अदरक, भोजन के अन्त मे तक्र, भोजन के साथ लहसुन, अनारदाना और पोदीना की चटनी एव भोजन के दो-तीन घण्टे बाद नीबू का रस या सन्तरे का रस आदि लेना चाहिए।

द्वितीय अध्याय

स्नेहन[1]

परिभाषा और परिचय

परिभाषा—जिस प्रकार के उपचार या प्रक्रिया से शरीर मे स्निग्धता या चिकनापन आता है, शरीरगत किन्ही घटको का विलयन होकर उनमे स्रवणशीलता आती है, कोमलता आती है और जलीय घटको का प्रमाण बढता है तथा चिपचिपापन उत्पन्न होता है, उसे स्नेहन कहते हैं।

परिचय—यह पञ्चकर्म (वमन-विरेचन आदि) का पूर्वकर्म है। वमन आदि कर्मों की सुगमतया सफलता के लिए उन कर्मों के पहले स्नेहन करना आवश्यक होता है। दोषो को अपने स्थान से विचलित करने के लिए स्नेहन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

जहाँ शोधनकर्म करने के उद्देश्य से उसके पहले स्नेहन किया जाता है, वहाँ स्नेहन एक पूर्वकर्म है, किन्तु जब वातप्रधान रोगो मे किसी रोग की चिकित्सा के प्रयोजन मे स्नेह का प्रयोग किया जाता है वहाँ स्नेह एक प्रधान कर्म का स्थान पाता है।

चिकित्सक के लिए स्नेहन चिकित्सा का ज्ञान नितान्त उपयोगी है, क्योंकि सर्वाधिक रोग वात से ही होते है और वात का उपचार है—'स्नेहन-वात स्नेहेन मित्रवत्'। इसकी गणना छह उपक्रमो मे है, देखे—

> लङ्घन बृंहण काले रूक्षण स्नेहन तथा।
> स्वेदन स्तम्भन चैव जानीते य स वै भिषक् ॥ (च० सू० २२।४)

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ **चरकसंहिता**—सूत्र० अ० १, ४, ५, १३, २२। सिद्धि० अ० १।
२ **सुश्रुतसंहिता**—सूत्र० अ० ४५। चिकित्सा० अ० २४, ३१, ४०।
३ **अष्टाङ्गहृदय**—सूत्र० अ० १३, १६।
४ **भावप्रकाश**—पूर्वखण्ड मे स्नेहपान-विधि।

स्नेहन की उपयोगिता और महत्त्व

१ वमन आदि पञ्चकर्मो द्वारा शारीर-दोषो का शोधन किया जाता है और वमनादि क्रियाओं के करने के पहले दोषों को अपने स्थान से विचलित करने के लिए उनमे स्निग्धता, विष्यन्दन (द्रवणशीलता) तथा क्लेदन (आर्द्रता) लाने के लिए स्नेहनकर्म आवश्यक एव उपयोगी होता है। स्नेहन शोधनकर्म का पूर्वकर्म है

---

१. स्नेहन स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्। —च० सू० २२।११

और वमन-विरेचन आदि को प्रवृत्त कराने के लिए अत्यन्त वाञ्छनीय है[१]। बिना स्नेहन किये शोधन करने का प्रयत्न रोगी के शरीर को विदीर्ण कर सकता है, जैसे—बिना तेल की मालिश किये किसी सूखी छडी को झुकाने की कोशिश करने पर वह टूट सकती है।[२]

२ स्नेहन द्रव्यो मे जलीय और पार्थिव गुणो की अधिकता होती है। उनमे—१ द्रव, २ सूक्ष्म, ३ सर, ४ स्निग्ध, ५. पिच्छिल, ६ गुरु, ७ शीत, ८ मन्द और ९ मृदु गुण होते है, जो शोधनकर्म मे उपयोगी है[३]।

३ स्नेहन द्रव्य अपने द्रव गुण से शरीर मे आर्द्रता या तरलता लाता है। यह शरीर मे शीघ्रता से प्रसरण, दोषो का विलयन, उनकी स्थानच्युति, स्रावण एव प्लावन करता है[४]।

४ सूक्ष्म गुण के कारण यह बारीक स्रोतो या छिद्रो मे प्रवेश कर जाता है और अपनी क्रिया करता है[५]।

५ सर गुण के कारण अनुलोमन, प्रसरणशील, खिसकने और सरकने वाला तथा प्रेरणशील होता है[६]।

६ स्निग्ध गुण के कारण स्नेहनकृत्, मार्दवकारक, बलकारक और वर्णकारक होता है[७]।

७ पिच्छिल होने से आयुष्य, बलवर्धक, कफवर्धक और लेपनकारक होता है[८]।

८ गुरु गुण होने से वातनाशक, पुष्टिकर, कफकर, तृप्तिजनक और देहवृद्धिकर होता है[९]।

९ शीत गुण के कारण आनन्दकर, उत्साहवर्धक, मूर्च्छाहरण, तृषाशामक, दाहशामक, दृढताकारक एव स्थैर्यकर होता है[१०]।

१० मन्द गुण होने के कारण स्नेहद्रव्य शरीर मे धीरे-धीरे प्रवेश करते है और

---

१ स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत तत स्वेदमनन्तरम्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सशोधनमथेतरत् ॥ —च० सू० १३।९९

२. स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात् सशोधन तु य। दारुशुष्कमिवानामे शरीर तस्य दीर्यते ॥ —अ० हृ० सू० १८।५९

३ द्रव सूक्ष्म सर स्निग्ध पिच्छिल गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्द मृदु च यद् द्रव्य स्नेहनमुच्यते ॥ —च० सू० २२।१५

४ द्रव प्रक्लेदन. प्रोक्त। —सु० सू० ४६।५२०

५ देहस्य सूक्ष्मछिद्रेषु विशेषत् सूक्ष्ममुच्यते। —भावप्र०

६. सरोऽनुलोमनः प्रोक्त। —सु० सू० ४६।५२२

७. स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा। —सु० सू० ४६।५१८

८. पिच्छिलो जीवनो बल्य. सन्धात. श्लेष्मलो गुरु। —सु० सू० ४६।५१७

९ गुरुर्वातहर पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च। —भावप्र०

१०. ह्लादनः स्तम्भन. शीत मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।

शमन कार्य करते हैं। विलम्ब से कार्य करने के कारण स्नेह द्रव्यों का दोष-धातु-मलों के साथ अधिक काल तक सम्पर्क बना रहता है[१]।

११ मृदु गुण के कारण स्नेहद्रव्य शरीर के अवयवों को कोमल बनाता है, जिससे उनका शिथिलीकरण होता है[२]।

१२ स्नेहद्रव्य शरीर के दोषों को ऊर्ध्व या अधोमार्ग से बाहर निकाल देते हैं। कुछ वमनोपयोगी, कुछ विरेचनोपयोगी और कुछ शिरोविरेचनोपयोगी स्नेह होते हैं[३]।

१३ स्नेह बढे हुए दोषों को कम करने अर्थात् उनका शमन करने के लिए और शरीर के बृंहण एवं पुष्ट बनाने मे भी उपयोगी होते हैं[४]।

१४ स्नेह आप्य एव पार्थिव द्रव्य है और शरीर मे आप्य एव पार्थिव घटकों से महत्त्वपूर्ण अवयव बने हुए हैं, जिनका पोषण स्नेह से होता है[५]।

१५ स्नेह द्रव्य वात को नष्ट करते हैं, शरीर को मृदु बनाते हैं और मल-संघात का भेदन करते हैं[६]।

१६ स्नेह जठराग्नि का दीपन एव कोष्ठ का शोधन करता है और नये-नये धातुओं का निर्माण कर शरीर के बल-वर्ण को बढाता है। इन्द्रियों मे कार्यक्षमता, शरीर मे व्याधिक्षमता एव वार्धक्य की मन्दता लाता है और एक सौ वर्ष की आयु प्रदान करता है[७]।

स्नेहन : एक पूर्वकर्म

१ पञ्चकर्म की तैयारी के लिए स्नेहन एक अत्युपयोगी प्रक्रिया है, जो शोधन का सहयोगी है। स्नेहन और स्वेदन से वात का नाश होता है तथा मल-मूत्र-शुक्र का त्याग निर्बाध होता है[८]।

२ जिस प्रकार जलपात्र के भीतर तेल चुपडा गया हो, फिर उसमे जल भरकर उसे उडेला जाय तो समग्र जल उस पात्र से निकल जायेगा तथा पात्र की दीवार मे

---

१. मन्दो यात्राकर स्मृत । —सु० सू० ४६।५२२

२. शिथिलावयवत्व मृदुत्वम् । —अरुणदत्त

३ शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नर. । —च० सू० १३।६१

४ (क) पिबेत् संशमन स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षित. । —च० सू० १३।६१

(ख) बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पो हित स च । —अ० हृ० सू० १६।२०

५ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठ स्नेह. । —सु० सू० ४१।११

६ स्नेहोऽनिल हन्ति मृदूकरोति देह मलाना विनिहन्ति सङ्गम् । —च० सि० १।७

७ दीप्तान्तराग्नि परिशुद्धकोष्ठ· प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्त ।
दृढेन्द्रियो मन्दजर. शतायु स्नेहोपयोगी पुरुषो भवेत्तु ॥ —सु० चि० ३१।५६

८. स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनाऽवजितेऽनिले । पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥ —च० सू० १४।४

जल नही लगा रहेगा। उसी तरह स्नेहन से उत्क्लेशित दोष पूर्णतया बाहर निकल जाते है[१]।

३ जैसे मलिन वस्त्र को धोने के पहले उसमे साबुन लगाकर मैल को उत्क्लिष्ट (विलोडित या चलायमान) किया जाता है, तब फीचकर धोया जाता है, वैसे ही शोधन करने के पहले शरीर का स्नेहन कर दोषो को उत्क्लिष्ट किया जाता है, तदनन्तर शोधन-औषध के प्रयोग से शोधन कराया जाता है। इस प्रकार दोषो को स्वस्थान से चलायमान बनाने के लिए स्नेहनकर्म अत्युपयोगी पूर्वकर्म है[२]।

४ स्नेहन कर्म से धातुओ मे दोषो का उत्क्लेशन होता है। स्नेह जलीयाश-बहुल होता है, जिससे दोष उसमे घुल जाते है। स्नेह मार्ग को चिकना बना देते है, तदनन्तर स्वेदन से स्रोतो का विकास होने पर स्नेहद्रव्य स्रवण-प्रक्रिया से कोष्ठ मे आते है, जहाँ से शोधन के द्वारा बाहर निकाल दिये जाते है।

निष्कर्ष—सक्षेपत प्रधानरूप से स्नेह के तीन उपयोग या कार्य देखे जाते है, जो महत्त्वपूर्ण है—

१ **बृंहण**—स्नेह मास, मेद, मज्जा, शुक्र आदि धातुओ को बढाकर शरीर के मस्तुलुङ्ग को व्यवस्थित कर धातुओ को पुष्ट कर एव अग्नि को प्रदीप्त कर शरीर का बृहण (सवर्धन) करता है[३]।

२ **शमन**—स्नेहन स्निग्ध, शीत, गुरु आदि गुणो के द्वारा दोषो के शमन मे सहायक होता है। हृदय, मस्तिष्क एव फुप्फुस आदि अवयवो मे तथा त्वचा मे स्नेह का पर्याप्त प्रमाण है। ये अवयव महत्त्वपूर्ण कार्य करते है, जीवन को स्थापित करते है और इनकी सक्रियता मे स्नेह का महान् योगदान है।

स्नेहद्रव्य सभी धातुओ मे अपने-अपने कार्य करते हुए अन्त मे पुरीषोत्सर्ग के साथ निकल जाते है। स्नेह जब बाहर निकलता है, तो उसके साथ शरीर के लिए शल्यतुल्य आबाधकर अनेक अन्य द्रव्य भी निकल जाते है। अत स्नेहन का समुचित प्रयोग एक उत्तम शमन-चिकित्सा है।

३ **शोधन**—स्नेहन दोषो को स्निग्ध कर, विलयन तथा उत्क्लेशन कर उन्हे धातुओ मे से कोष्ठ मे लाकर मल के साथ बाहर निकालकर शोधन-कार्य सम्पन्न करता है।

इस प्रकार स्नेहन-कर्म पञ्चकर्म का पूर्वकर्म एव प्रधान रूप से चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण अग है। शारीर दोषो मे कफ और पित्त पगु है और वायु द्वारा वे सचालित होते है, उनका नेता वायु है। वायु बडा प्रचण्ड होता है, जैसे वह प्रकृति

---

१. स्निग्धात् पात्राद्यथा तोयम् अयत्नेन प्रणुद्यते। कफादय. प्रणुद्यन्ते स्निग्धाद्देहात्तथौषधै.॥ —च० सि० ६।११

२. क्लिष्ट वासो यथोत्क्लेश्य मल सशोध्यतेऽम्भसा।
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मल.॥ —च० सि० ६।१२

३ अन्नादष्टगुणं पिष्ट पिष्टादष्टगुणं पय। पयसोऽष्टगुण मास मासादष्टगुण घृतम्॥
घृतादष्टगुण तैल मर्दनान्न तु भक्षणात्॥

मे सागरो का उन्मथन और पर्वतो का भूपात करता है, वैसे ही शरीरस्थ वायु भी विकृत होने पर महाकाय पहलवानो को शय्याशायी बना देता है ।

उस प्रभञ्जन के वेग को नियन्त्रित करने का काम स्नेह करता है । स्नेह शरीर के लिए अमृत है । आवश्यकता है उसके सम्यक् योग और प्रयोग की ।

स्नेहो के प्रकार

स्नेहो के अनेक प्रकार होते है । जैसे—

१ **उत्पत्ति-भेद से** दो प्रकार—१ स्थावर और २ जङ्गम ।

२ **उपयोग-भेद से** दो प्रकार—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर ।

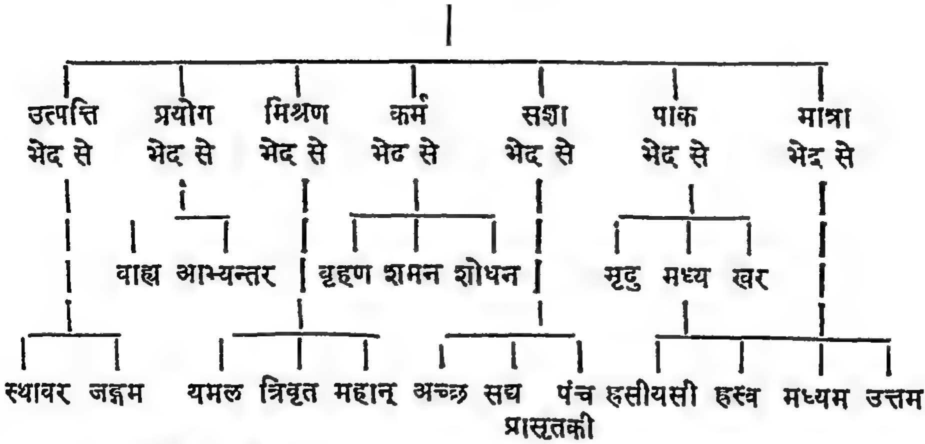
३ **मिश्रण-भेद से** तीन प्रकार—१ यमल, २ त्रिवृत और ३ महास्नेह ।

४ **कर्म-भेद से** तीन प्रकार—१ बृहण, २ शमन और ३ शोधन ।

५ **संज्ञा-भेद से** तीन प्रकार—१ अच्छ, २ सद्य स्नेह, ३ पचप्रासृतिकी पेया ।

६ **पाक-भेद से** तीन प्रकार—१ मृदु, २. मध्य और ३ खर ।

७ **मात्रा-भेद से** चार प्रकार—१. ह्रसीयसी, २ ह्रस्व, ३ मध्यम और ४ उत्तम ।



(१) **उत्पत्ति-भेद से स्नेह**—

१ **स्थावर स्नेह**—चरक ने प्रसिद्ध १८ वनस्पतियो से स्थावर स्नेह की प्राप्ति बतलाया है[१] । जैसे—१ तिल, चिरौजी, ३ अभिपुक, ४ बहेडा, ५ चित्रा, ६ अभया, ७ एरण्ड, ८ मधुक, ९ सर्षप, १० कुसुम्भ, ११ विल्व, १२ भल्लातक, १३. मूली, १४ अतसी, १५ अकोठ, १६ अखरोट, १७ सहिजन, १८ करञ्ज ।

इनके अतिरिक्त जयपाल, मालकागनी, बादाम, शीशम, नीम, जैतू , नीलगिरि, लवग, कोकम, मूगफली आदि द्रव्यो से भी तेल प्राप्त होता है ।

---

१ तिल प्रियालाभिपुकौ बिभीतकश्चित्रामयैरण्टमधूकसर्षपा ।
कुसुम्भविल्वारुकमूलकातमीनिकोठकाक्षोटकरञ्जशिग्रुका ॥
स्नेहाशया स्थावरसज्ञिता· स्यु । —च० सू० १३।१०-११

सुश्रुत ने द्रव्यो के गुण-कर्मानुसार उनका वर्ग बनाया है,[१] जैसे—वमनोपयोगी, विरेचनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी तथा दुष्ट व्रण, कुष्ठ, मूत्रावरोध, अश्मरी, प्रमेह आदि मे प्रयोग-योग्य।

२ **जाङ्गम स्नेह**—जो स्नेह चलने-फिरने वाले (जङ्गम) प्राणियो से प्राप्त किया जाता है, उसे जाङ्गम स्नेह कहते है[२]। जैसे—१ मछली का तेल, २ गाय-भैस-बकरी के घृत, ३ हिरन-वाराह-व्याघ्र आदि की वसा और मज्जा।

(२) उपयोग-भेद से स्नेह—

१ **बाह्य स्नेह**—स्नेह का बाह्य प्रयोग निम्नलिखित रूप मे किया जाता है[३]—१ अभ्यङ्ग, २ लेप, ३ मर्दन, ४ उद्वर्तन,[४] ५ सवाहन, ६ पादाघात, ७ मूर्धतैल, ८ गण्डूष, ९ कर्णपूरण, १० नेत्रतर्पण, ११ परिषेक तथा १२ योनि आदि मे पिचुप्रयोग।

वक्तव्य : अभ्यङ्ग—तेल से शरीर पर अनुलोम गति से मालिश करना 'अभ्यङ्ग' कहलाता है। सन्धिस्थानो मे वर्तुलाकार मालिश करनी चाहिए। तेल को हल्का गरम कर मले, किन्तु शिर पर ठण्डा तेल रखे। ५ से ३५ मिनट तक अभ्यङ्ग करे, फिर आधा घण्टा विश्राम कर देह पोछकर स्नान करे।

लेप—बिना रगड के यो ही तेल लगाना लेप कहलाता है और ज्यादा तेल चुपडकर शरीर को तरबतर कर देना **प्रदेह** कहलाता है। यह आवश्यकतानुसार शीत या उष्ण होता है।

उद्वर्तन—जोर से दबाकर (रगडकर) प्रतिलोम गति से तेल की मालिश या उबटन लगाने को उद्वर्तन कहते है। स्थौल्य मे रूक्ष उद्वर्तन और कार्श्य मे स्निग्ध उद्वर्तन किया जाता है। इससे कफ का शमन, मेद का विलयन और त्वचा का प्रसादन होता है।

---

१ सुश्रुत० चि० अ० ३१।

२. स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगा सपक्षिण ।
तेषां दधिक्षीरघृतामिष वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥ —च० सू० १३।११

३. स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात् । भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढ क्लेशसहो यथा ॥
तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् च जायते । प्रशान्तमारुताबाध क्लेशव्यायामसंसहम् ॥
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायु स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् । त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्त शीलयेन्नर ॥
न चाभिघाताभिहत गात्रमभ्यङ्गसेविन । विकार भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित् ॥
सुखस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शन. । भवत्यभ्यङ्गनित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च ॥
खरत्व स्तब्धता रौक्ष्य श्रम. सुप्तिश्च पादयो: । सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात् ॥
जायते सौकुमार्यं च बल स्थैर्यं च पादयो । दृष्टि प्रसाद लभते मारुतश्चोपशाम्यति ॥
न च स्याद् गृध्रसीवात. पादयो: स्फुटन न च । न सिरास्नायुसङ्कोच पादाभ्यङ्गेन पादयो ॥
—च० सू० ५।८५-९२

४. उद्वर्तनं कफहरं मेदस प्रविलायनम् । स्थिरीकरणमङ्गाना त्वक्प्रसादकरं परम् ॥
—अ० हृ० सू० २।१५

परिषेक—औषध-सिद्ध क्वाथ, दूध, तेल, घी या तक्र का शरीर पर धार से गिराना परिषेक है।

२. आभ्यन्तर स्नेह—१ भोजन, २ पान, ३ नस्य और ४. वस्ति—इन चार प्रकारो से स्नेह का भीतर मे शोषण होता है।

(३) मिश्रण भेद से स्नेह—

कई वार अनेक स्नेहो को एक मे मिलाकर प्रयोग किया जाता है और उनके मिश्रण का अलग-अलग नाम है। जैसे—दो स्नेहो का मिश्रण **यमक** कहलाता है, तीन का **त्रिवृत्** और चार का मिश्रण **महास्नेह** कहा जाता है[1]।

१ **यमकस्नेह**—१ सर्पि + तैल। २ सर्पि + वसा।
३ सर्पि + मज्जा। ४ तैल + वसा।
५ तैल + मज्जा। ६ वसा + मज्जा।

२ **त्रिवृत्स्नेह**—१ सर्पि + तैल + वसा।
२ सर्पि + तैल + मज्जा।
३ तैल + वसा + मज्जा।
४ सर्पि + वसा + मज्जा।

३ **महास्नेह**—सर्पि + तैल + वसा + मज्जा

(४) कर्म-भेद से स्नेह—

चिकित्सा मे उपयोगिता के आधार पर स्नेह तीन प्रकार का होता है—१ शमन, २ वृहण और ३ शोधन।

१ **शमन**—जो स्नेह दोषो को न वढाये और वढे हुए दोषो को कम करे, वह शमन कहलाता है। इसे अन्नकाल मे दे।

२ **बृंहण**—जो शरीर का सवर्धन और पोषण करे वह वृहण स्नेह कहलाता है। यह मद्य, मास तथा भोजन के साथ मिश्रित कर अल्प मात्रा मे प्रयुक्त होता है। इसे आहार के साथ दे।

३ **शोधन**—जो स्नेह शरीरस्थ दोषो को वमन, विरेचन या वस्ति से वाहर निकाल दे, उसे शोधन कहते है। पूर्वरात्रि का किया हुआ भोजन ठीक से पच जाने पर दूसरे दिन प्रात काल मे अधिक मात्रा मे दिया हुआ स्नेह शोधन-स्नेह कहलाता है।

(५) संज्ञा-भेद से स्नेह—

विशेष नाम देकर जिन स्नेहो के प्रकार का उल्लेख किया गया है, वे तीन हैं—१ अच्छपेय, २ सद्य स्नेहन और ३ पञ्चप्रासृतिकी पेया।

१. **अच्छपेय**[2]—अकेले विना किसी द्रव्य मे मिलाये स्नेह पीने को 'अच्छपेय' कहते हैं। इसमे स्नेह की मात्रा अधिक होती है, अत यह शीघ्र ही कार्य करता है।

---

१ द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकः त्रिवृतो महान्। —अ० हृ० सू० १६।४

२ अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्। स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः॥ —च० सू० १३।२६

इस कल्पना को स्नेहपान की मुख्य कल्पना कहा गया है। स्नेह की प्रविचारणा में इसकी गणना नहीं की जाती।

२ **सद्यः स्नेहन**[1]—जिस स्नेह के प्रयोग से कम मे कम समय मे (३ दिन मे) स्नेहन होता है, उसे 'सद्य स्नेहन' कहते हैं।

नमक के साथ सेवन किया गया स्नेह मनुष्य का शीघ्र ही स्नेहन कर देता है, क्योंकि नमक अभिष्यन्दी होने से स्रोतों मे स्राव उत्पन्न करता है, स्निग्ध होने से स्निग्धता लाता है, सूक्ष्म होने से शरीर के अतिसूक्ष्म प्रदेश मे प्रवेश कर जाता है, उष्ण होने से स्नेहों का पाचन करता है और व्यवायी होने से पहले सम्पूर्ण शरीर मे स्नेह को फैलाकर बाद मे उसकी पाचन क्रिया सम्पन्न करता है। इससे ३ दिन मे स्नेहन हो जाता है।

३ **पञ्चप्रासृतिकी पेया**—घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल को एक-एक प्रसृत (लगभग १०० ग्राम) लेकर बनायी गयी पेया का नाम पञ्चप्रासृतिकी पेया है। इस पेया के साथ दूध मे चावल तथा उडद डालकर सिद्ध की हुई खीर (जिसमे अधिक घी मिलाया गया हो) का सेवन करने से शीघ्र ही (तीन दिन मे) स्नेहन हो जाता है।

(६) पाक-भेद से स्नेह[2]—

१ मृदुपाक, २ मध्यपाक और ३ खरपाक—ये तीन प्रकार के स्नेहपाक होते हैं।

१ **मृदुपाक**—जब तैलपाक मे डाली हुई औषधियों का कल्क प्रथम डाले हुए कल्क के समान हो जाये, तो स्नेहपाक का 'मृदुपाक' जानना चाहिए। इसका प्रयोग नस्यकर्म मे होता है।

२ **मध्यपाक**—जब तेल का कल्क हलवा की तरह करछुल को छोडने लगे, तब स्नेह का मध्यपाक जानना चाहिए। इसका प्रयोग पान करने मे और वस्ति देने मे होता है।

३ **खरपाक**—जब तेल का कल्क अँगुलियों से मसलकर वर्ती बनाते समय टूट जाय एव कडा हो जाय, तो उसे 'खरपाक' समझना चाहिए। इसका प्रयोग अभ्यङ्ग के लिए किया जाता है।

(७) मात्रा-भेद से स्नेह[3]—

स्नेह की चार प्रकार की मात्रा बतलायी गयी है—१ ह्रसीयसी, २ ह्रस्व, ३ मध्यम और ४ उत्तम।

१ **ह्रसीयसी मात्रा**[4]—रोगी के दोष, दूष्य, शरीरबल और अग्निबल आदि

१ लवणोपहिता· स्नेहा स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्। तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्ष च सूक्ष्ममुष्ण व्यवायि च ॥
—च० सू० १३।९८

२. खरोऽभ्यङ्गे स्मृत पाको मृदुर्नस्त· क्रियासु च। मध्यपाक तु पानार्थे वस्तौ च विनियोजयेत् ॥
—च० क० १२।१०४

३ अहोरात्रमह· कृत्स्नमर्धाह च प्रतीक्षते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरा प्रति ॥
—च० सू० १३।२९

४. अज्ञातकोष्ठे पुरुषे पूर्वं ह्रसीयसीं कल्पयेत्। —अ० हृ० सू० १६।१७ पर अरुणदत्त-टीका

का विचार कर पहले ह्रसीयसी (बहुत अल्प लगभग ३०० मि० ली०) स्नेहमात्रा देनी चाहिए। आगे अग्निबल के अनुसार मात्रा बढाते जायें। बालक, वृद्ध और सुकुमार व्यक्तियो को यह मात्रा देनी चाहिए।

२ ह्रस्व मात्रा—जिनका कोष्ठ मृदु हो एव अग्निबल अल्प हो, उन्हे अल्पमात्रा मे स्नेहपान कराना चाहिए। जो मात्रा २ घण्टे मे जीर्ण होती या पचती है, उसे ह्रस्वमात्रा कहते हैं। यह मात्रा अल्प दोषो मे दी जाती है।

३ मध्यम मात्रा—यह मात्रा मध्यम बलवाले दोषो मे दी जाती है। यह मात्रा १२ घण्टे मे पचती है। इसका प्रयोग रक्तविकृति मे होता है। इससे सुखपूर्वक स्नेहन और शोधन होता है।

४. उत्तम मात्रा—यह अत्यधिक दोषबल मे दी जाती है। इस मात्रा को तीक्ष्णाग्नि मे देना चाहिए। यह ऊर्ध्व, अध एव तिर्यक् मार्गों मे फैल जाती है। यह दोषो का क्षय करती है और शरीरबल को बढाती है।

स्नेह मात्रा सारणी

मात्रानाम	लक्षण	प्रयोग
१ ह्रसीयसी-मात्रा	अत्यल्प	इसे परीक्षण मात्रा जाने।
२ ह्रस्वमात्रा	यह ६ घण्टे मे पचती है।	इसका प्रयोग वृद्ध, बालक, सुकुमार, मन्दाग्नि, ज्वर, अतिसार, कास मे हीनबल वालो के लिए करे।
३ मध्यममात्रा	यह १२ घण्टे मे पचती है।	इसे फोडा, फुन्सी, स्फोट, खुजली, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त मे, मध्यम शरीरबल एव मध्यम अग्निबल वालो को देना चाहिए।
४ उत्तममात्रा[१]	(क) यह एक अहोरात्र में पचती है।	इसे बहुदोष[२] लक्षणवाले, तीक्ष्णाग्नि एव उत्तम शरीर-बलवाले को दे।
	(ख) यह १८ घण्टे मे पचती है।	नित्य स्नेह का प्रयोग करनेवाले को तथा कुष्ठ, अपस्मार, सर्पदश, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, विबन्ध, गुल्म मे दे।

१ प्रभूतस्नेहनित्याश्च क्षुत्पिपासासहानरा । पावकश्चोत्तमबलो येषा ये चोत्तमा बले ॥
गुल्मिन सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये । उन्मत्ता कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥
पिबेयुरुत्तमा मात्रा तस्या पाने गुणान् शृणु । दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी ॥
बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम् । —च० सू० १३।३१-३४

२ अविपाकोऽरुचि स्थौल्य पाण्डुता गौरव क्लम.। पिटकाकोठकण्डूना सम्भवोऽरतिरेव च ॥
आलस्यश्रमदौर्बल्य दौर्गन्ध्यमवसादक॰। श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥
तन्द्राक्लैब्यमबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम् । बलवर्णप्रणाशश्च तृप्यतो बृहणैरपि ॥

तिलतैल और एरण्डतैल की श्रेष्ठता[1]

१ सम्पूर्ण शरीर मे बलाधान तथा स्नेहन के लिए सभी स्थावर तैलो मे तिल का तैल श्रेष्ठ है।

२ विरेचन के लिए एरण्डतैल सर्वश्रेष्ठ होता है।

चार उत्तम स्नेह[2]

१ घृत, २ तैल, ३ वसा और ४ मज्जा—ये चार स्नेह सभी स्नेहो मे उत्तम माने जाते है और इन चारो मे घृत सर्वोत्तम माना जाता है, क्योकि वह सस्कार का अनुवर्तन करता है।

वक्तव्य—जो गुण पहले से अपने मे नही है, उस गुण को अपने मे लाना **संस्कार** कहलाता है।

घृत दो प्रकार से सस्कार को ग्रहण करता है एव सुरक्षित रखता है—एक तो वह जिन द्रव्यो का कल्क डालकर पकाया जाता है, उन द्रव्यो के गुणो को ग्रहण कर लेता है, जैसे महातिक्त घृत (कुष्ठहर), महाकल्याण घृत (उन्मादहर) एव चागेरी घृत आदि अपने प्रक्षेप द्रव्यो के गुणो को ग्रहण कर लेते है। दूसरा सस्कारानुवर्तन है, जो चाहे जिस किसी द्रव्य के साथ पकाया जाय, वह अपने पूर्व के गुणो को (सस्कारो को) नही छोडते हुए दूसरो के गुणो को ग्रहण कर लेता है।

घृत के गुण[3]

१ यह पित्त एव वातजन्य विकारो को शान्त करता है।

२ रस, शुक्र और ओज के लिए हितकारी है।

३ दाहशामक, कोमलताकारक एव स्वर तथा वर्ण को सुन्दर बनाता है।

तैल के गुण[4]

१ वातविकारनाशक, कफ को न बढानेवाला और बलवर्धक होता है।

२ त्वचा के लिए हितकारी, उष्ण, देहस्थिरताकारक एव योनिशोधन है।

बहुदोषस्य लिङ्गानि तस्मै सशोधन हितम्। ऊर्ध्वं चैवानुलोम च यथादोष यथाबलम्॥
—च० सू० १३।१३-१६

१. सर्वेषा तैलजाताना तिलतैल विशिष्यते। बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्ड तु विरेचने॥
—च० सू० १३।१२

२. सर्पिस्तैल वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मता। एषु चैवोत्तम सर्पि. सस्कारस्यानुवर्तनात्॥
—च० सू० १३।१३

३. घृत पित्तानिलहर रसशुक्रौजसा हितम्। निर्वापण मृदुकर स्वरवर्णप्रसादनम्॥
—च० चि० १३।१४

४. मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धन बलवर्धनम्। त्वच्यमुष्ण स्थिरकर तैल योनिविशोधनम्॥
—च० चि० १३।१५

वसा के गुण

१ विद्ध होने पर, काण्डभग्न या सन्धिभग्न होने पर, चोट लगने पर, योनि-भ्रंश, कर्णशूल और शिर मे वेदना होने पर वसा लाभ करती है ।

२ पुरुषार्थ की वृद्धि के लिए शरीर को स्निग्ध करने के लिए और जो लोग अधिक व्यायाम करते हैं, उन लोगो के लिए वसा हितकर है ।

मज्जा के गुण

१ मज्जा का सेवन करने से शरीर मे बल, वीर्य, रस, कफ, मेद और मज्जा की वृद्धि होती है ।

२ मज्जा के प्रयोग से अस्थियो मे बल आता है और शरीर का स्नेहन होता है ।

ऋतु के अनुसार स्नेहपान

१ शरद् ऋतु मे घृत का पान करना चाहिए ।

२ वसन्त (वैशाख) ऋतु मे वसा और मज्जा का पान करना चाहिए ।

३ प्रावृट् (आषाढ-सावन) ऋतु मे तैल का पान करना चाहिए ।

४ अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्णकाल मे स्नेह का सेवन कदापि नही कराना चाहिए[1] ।

दोषानुसार स्नेहपान-काल

१. वात-पित्तप्रधान दोषो मे तथा ग्रीष्म मे, रात्रि के समय स्नेहपान कराये ।

२ वात-कफप्रधान दोषो मे तथा शीत ऋतु मे स्नेहपान करानी चाहिए, जब कि आसमान साफ हो और सूर्य का प्रकाश निर्मल हो[2] ।

कार्मुकता की दृष्टि से स्नेहपान-काल

१ **संशमन**—मनुष्य भोजन के समय भूख लगने पर संशमन स्नेह का पान करे ।

२ **संशोधन**—रात्रि मे खाये हुए अन्न का ठीक से पाचन हो जाने पर प्रातःकाल शोधन स्नेह का पान करे[3] ।

---

१. सर्पिः शरदि पातव्य वसा मज्जा च माधवे । तैलं प्रावृषि नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नर ॥
—च० सू० १३।१८

२. वातपित्ताधिको रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नर । श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥
—च० सू० १३।१९

* *

शीतकाले दिवास्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि । वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥
—सु० चि० ३१

३ पिबेत् संशमन स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षित । शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नर ॥
—च० सू० १३।६१

विपरीत काल मे स्नेहपान हानिकर

१ अत्युष्ण काल मे वात-पित्तप्रधान व्यक्तियो द्वारा स्नेहपान करने मे मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामला आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

२ अतिशीतकाल मे कफप्रधान व्यक्तियो द्वारा स्नेहपान करने मे आनाह, अरुचि, शूल और पाण्डुरोग उत्पन्न होता है[1]।

स्नेहपान-काल की अवधि और मात्रा

स्नेहपान का प्रयोजन स्नेहन करना होता है। स्नेहन की अवधि कोष्ठ पर निर्भर करती है और कोष्ठ अग्निवल के अनुसार मृदु, मध्य और क्रूर होता है।

चरक और वाग्भट ने सुश्रुत के अनुसार स्नेहपान की अन्तिम अवधि सात दिन मानी है—

१ मृदुकोष्ठ के व्यक्ति का ३ दिन के स्नेहपान से,

२. मध्यकोष्ठ के व्यक्ति का ४, ५ या ६ दिन के स्नेहपान से और।

३ क्रूरकोष्ठ के व्यक्ति का ७ दिन के स्नेहपान से स्नेहन होता है[2]।

चरक, सुश्रुत एव वाग्भट तीनो ने यह सकेत किया है कि सात दिन के वाद स्नेहपान नही कराना चाहिए, क्योकि उसके वाद स्नेह सात्म्य (वर्दाश्त) हो जाता है और स्नेह की सात्म्यीभूत मात्रा शरीरोपकारक नही होती[3]।

फिर भी सात दिनो के वाद स्नेहन न करने का कोई हठ नही है। इसी अभिप्राय से वाग्भट ने कहा है—'अथवा स्नेहन का प्रयोग तव तक करते रहना चाहिए जव तक सम्यक् स्निग्ध के लक्षण न प्रकट हो जाय'[4]। इसी आशय को अरुणदत्त ने भी स्पष्ट किया है तथा इस पक्ष को मानकर ही कतिपय चिकित्सक सात दिनो के वाद एक दिन का विश्राम देकर पुन स्नेहपान की योजना करते हैं[5]।

---

१. अत्युष्णे सा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा।
मूर्च्छां पिपासामुन्माद कामलां वा समीरयेत्॥
शीते रात्रौ पिवन् स्नेह नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा।
आनाहमरुचिं शूल पाण्डुता वा समृच्छति॥ —च० सू० १३।२०–२१

२ (क) त्र्यहावर सप्तदिन पर तु स्निग्धो नर स्वेदयितव्य उक्त। —च० सि० १।६

(ख) मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानव॥ —च० सू० १३।८५

(ग) पिवेत् त्र्यह चतुरह पञ्चाह षडह तथा। —सु० चि० ३१।३६

३ (क) नात पर स्नेहनमादिशन्ति, सात्म्यीभवेत्सप्तदिनात्पर तु। —च० सि० १६

(ख) सप्तरात्रात्पर स्नेह सात्म्यीभवति सेवित। —सु० चि० ३१।३६

(ग) अत. सात्म्यीभवेत्परम्। —अ० हृ० सू० १६।२९

४ सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावत्। —अ० हृ० सू० १६।२९

५. अथवा नैष नियम· सम्यक् स्निग्धलक्षणोत्पत्तिरेव नियम, अत सप्ताहादूर्ध्वं स्नेह पेयो यावत् स्निग्धलक्षण स्यात्। —अ० हृ० सू० १६।२९ पर अरुणदत्त-टीका

वस्तुत स्नेहपान-कालावधि निर्णय के लिए कोष्ठ-परीक्षा करनी चाहिए। मृदु, मध्य और क्रूर भेद से कोष्ठ तीन प्रकार के होते है—

१ **मृदुकोष्ठ**—जिनमे गुड, इक्षुरस, दूध, दही, दधिमस्तु, पायस, खिचडी, घृत, द्राक्षारस, मद्य एव उष्ण जल के सेवन से विरेचन हो जाता है, उन्हे 'मृदुकोष्ठ' कहते है।

२ **क्रूरकोष्ठ**—ऊपर कहे गये गुड, गन्ने के रस आदि जिनका कभी भी विरेचन नही कराते और और जिनकी ग्रहणी मे वायु की अत्यन्त प्रधानता रहती है, वे 'क्रूरकोष्ठ' होते हे।

३ **मध्यकोष्ठ**—पूर्वोक्त गुड, इक्षुरस आदि से जिनका विरेचन तो नही होता, किन्तु एक वार सम्यक् मलशोधन हो जाता है, वे 'मध्यकोष्ठ' होते है[1]।

स्नेहमात्रा

आमात्रापूर्वक एव मिथ्याहार-विहार से या असमय के स्नेहपान कराने से शोथ, अर्श, तन्द्रा, स्तब्धता, वेहोशी, कण्डू, ज्वर, उत्क्लेश, शूल, आनाह और भ्रम होता है। इसलिए मात्रा का निर्धारण प्रतिव्यक्ति के अनुसार करना चाहिए। मात्रा के चार प्रकारो का वर्णन और उनकी व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है। यहाँ सामान्यत. व्यावहारिक मात्रा विचारणीय है[2]।

पहले कम से कम अर्थात् ३० मि० ली० की मात्रा मे स्नेहपान कराना चाहिए, फिर क्रमश वढाकर १९२ मिलीलीटर तक की मात्रा दी जा सकती हे, किन्तु रोगी की 'आतुर-परीक्षा' विधि से परीक्षा करके ही यथोचित मात्रा मे उचित अनुपान के साथ वृद्धिक्रम से स्नेहपान कराना चाहिए।

प्रविचारणा के योग्य पुरुष[3]

जो व्यक्ति स्नेह से द्वेष रखते हो, जो सदा स्नेह का सेवन करते हो, जिनके कोष्ठ मृदु हो, जो व्यक्ति क्लेश को सहने मे असमर्थ हो और जो प्रतिदिन मदिरा का पान करते हो, उनके लिए विचारणा का प्रयोग उत्तम है।

स्नेह की २४ प्रविचारणाएँ[4]

१ ओदन, २ विलेपी, ३ मासरस, ४ मास, ५ दूध, ६ दही, ७ यवागू,

---

१ गुडमिक्षुरस मस्तु क्षीरमुल्लोडित दधि। पायस कृशरा सर्पि काश्मर्यत्रिफलारसम् ॥
द्राक्षारस पीलुरस जलमुष्णमथापि वा। मद्य वा तरुण पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥
विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठ कदाचन। भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्वणानिला ॥
—च० सू० १३।६६-६८

२ अमात्रयाऽहिते काले मिथ्याहारविहारत । स्नेह करोति शोफार्शो तन्द्रास्तम्भविसज्ञता. ॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहभ्रमादिकान् ॥ —अ० हृ० सू० १६।३२

३ स्नेहद्विष स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः। क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा ॥

४ ओदनश्च विलेपी च रसो मास पयो दधि। यवागू. सूपशाकौ च यूषः काम्बलिक खड ॥
सक्तवस्तिलपिष्ट च मद्य लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जन वस्तिस्तथा चोत्तरवस्तय ॥

८ सूप, ९ शाक, १० यूप, ११ काम्बलिक, १२ खड, १३ सत्तू, १४ तिलकल्क, १५ मद्य, १६ लेह, १७ भक्ष्य, १८ अभ्यञ्जन, १९ वस्ति, १० उत्तरवस्ति, २१ गण्डूष, २२ कर्णतैल, २३ नस्य तथा २४ अक्षितर्पण।

वक्तव्य—जो स्नेह ओदन आदि भोज्य पदार्थों या किसी प्रकार के शरीरोपयोगी अन्य द्रव्यो का योग कर उनके साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है, उसे **प्रविचारणा** कहते है। **चक्रपाणि** ने स्नेह का किसी अन्य पदार्थ के साथ प्रयोग करने को प्रविचारणा कहा है—'प्रविचार्यते अवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा ओदनादय'। गङ्गाधर ने इस प्रकार निरुक्ति की है—'प्रकर्षेण विशेषात् चर्य्यंते भक्षणपानलेहाभ्यञ्जनादिरूपेण उपसेव्यते, इसि प्रविचारणा'।

यहाँ कुछ प्रविचारणाएँ बाह्य रूप से प्रयोज्य कही गयी है, जिनका प्रयोग केवल स्नेह से ही होता है, किन्तु उनका पाठ प्रविचारणा के अन्तर्गत किया जाता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि उन्हे औषध-सिद्ध करके या अन्य द्रव्यो को मिलाकर ही प्रयोग करना चाहिए।

चौबीस प्रविचारणाओ का संक्षिप्त परिचय

१ **ओदन**—पाँच गुने पानी मे पकाया हुआ चावल भात या ओदन है।

२ **विलेपी**—दले हुए चावल या मक्के को चौगुने जल मे पकाने पर जिसमे अन्नकण गल गये हो और द्रव हो, वह विलेपी है।

३ **मांसरस**—मास को पकाकर उसके द्रव या शोरवे को रस या मासरस कहते हैं।

४ **मांस**—ताजे मास को विधिवत् पकाकर प्रयोग करना।

५ **दूध**—गरम दूध के साथ स्नेह का प्रयोग करना।

६. **दही**—दूध को जमाकर दही तैयार की जाती है।

७ **यवागू**—चावल की दलिया को ६ गुने जल मे पकाया जाता है, जिसमे द्रव मे कण अधिकतर दीखते हैं।

८ **सूप**—दाल को अठारह गुने जल मे चौथाई शेष पकाना।

९ **शाक**—यह वनस्पतियो के पत्र-पुष्प-फल को पकाना है।

१० **यूष**—मूँग आदि १८ गुने जल मे अर्धावशिष्ट पकाना।

११ **काम्बलिक**—यह तिल और उडद की पिट्ठी मे दही, खटाई, नमक, तैल मिलाकर रायता जैसा बनता है।

१२ **खड**—मट्ठे के साथ कैथ, चागेरी, मरिच, जीरा, चित्रक आदि डालकर पकाकर बनता है।

१३ **सत्तू**—जौ के दाने भूनकर-पीसकर तैयार होता है।

१४ **तिलकल्क**—तिल को कूट-पीसकर बनाया जाता है।

गण्डूष कर्णतैल च नस्त. कर्माक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येता. स्नेहस्य प्रविचारणा ॥
—च० सू० १३।२३-२५

१५ **मद्य**--इससे आसव, अरिष्ट और मदिरा ली जाती है।

१६ **लेह**--आटे को घी या तेल मे भूनकर चीनी डालकर पकाया हुआ चाटने लायक हलवा बनाना लेह है।

१७ **भक्ष्य**--घी की कचौडी, मालपूआ आदि भक्ष्य है।

१८ **अभ्यञ्जन**--औषध-सिद्ध स्नेह की मालिश करना।

१९ **वस्ति**--अनुवासन (स्निग्धवस्ति) का प्रयोग।

२० **उत्तरवस्ति**--योनिमार्ग या मूत्रमार्ग मे स्नेह का प्रयोग।

२१ **गण्डूष**--मुखगह्वर मे किसी स्नेह को धारण करना।

२२ **कर्णतैल**--औषध-सिद्ध तैल कान मे डालना।

२३ **नस्यकर्म**--नासिका से स्नेहन का नस्य लेना।

२४ **अक्षितर्पण**--आँखो की तृप्ति के लिए घृत का प्रयोग करना।

चौसठ प्रकार की प्रविचारणाएँ

सम्पूर्ण या अलग-अलग छह रसो के योग से युक्त (ओदन आदि विचारणा-युक्त) स्नेह ६३ प्रकार के हो जाते है। द्रव्यान्तर सयोग से रहित केवल स्नेहपान एक प्रकार का होता है। इस प्रकार से रसो के सयोग से ६३ और एक 'अच्छपान' कुल मिलाकर स्नेहो की ६४ प्रविचारणाएँ होती हैं।

इन प्रविचारणाओ का प्रयोग (रस-विकल्प से विकल्पित भेदो के अनुसार) कोई ज्ञानवान् वैद्य ही कर सकता है। वैद्य को इन प्रविचारणाओ के प्रयोग के पूर्व शरीरसात्म्य, अभ्याससात्म्य, ऋतुसात्म्य, रोग और रोगी की प्रकृति आदि का विचार सम्यक् कर लेना चाहिए[1]।

कतिपय चरकोक्त प्रविचारणा के योग[2]

१ लावा पक्षी, तीतर, मयूर, हस, वराह, मुर्गा, गाय, बकरी, भेड और मछली के मासरस उत्तम स्नेहकारक होते है। इनके मासरस के साथ जौ, बेर, कुलथी, स्नेह (घी-तैल-वसा-मज्जा), गुड, चीनी, खट्टे अनार का रस, दही, सोठ, मरिच, पीपर--इन द्रव्यो का योग किया जाता है।

२ मदिरा के साथ राब, सोठ तथा तिलतैल उचित प्रमाण मे मिलाकर सेवन कराये और स्नेह पच जाने पर भुने हुए मास के साथ भोजन कराने से रूक्ष पुरुषो का स्नेहन हो जाता है।

३ भोजन के पहले स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) के साथ राब मिले तिल खाने से, अधिक स्नेह मिली खिचडी खाने से या तिलयुक्त काम्बलिक खाने से स्नेहन होता है।

---

१ रसैश्चोपहित स्नेह समासव्यासयोगिभि। षड्भिस्त्रिषष्टिधा सख्या प्राप्नोत्येकश्च केवलः॥
एवमेताश्चतु षष्टि स्नेहाना प्रविचारणा। ओकर्तुव्याधिपुरुषान् प्रयोज्या जानता भवेत्॥
—च० सू० १३।२७ २८

२ लावतैत्तिरमायूरहासवाराहकौक्कुटा.। गव्या जौरभ्रमात्स्याश्च रसाः स्युः स्नेहने हिता.॥
यवकोलकुलत्थाश्च स्नेहाः सगुडशर्करा:। दाडिमं दधि सव्योषं रससयोगसङ्ग्रह.॥
—च० सू० १३।८३ ८४ तथा च० सू० १३।८५-८८

४ मदिरा के मण्ड (ऊपर के भाग) को तैल के साथ या वसा या मज्जा के साथ सेवन कराने से अथवा दूध मे राव मिलाकर पीने से वात-प्रधान पुरुषों का स्नेहन हो जाता है।

५ धारोष्ण दूध में स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) और चीनी मिलाकर पीने से या मलाई और राव मिलाकर खाना स्नेहन है।

स्नेहन के योग्य पुरुष[1]

१ जिनका स्वेदन करना हो, वे प्राय स्नेहन योग्य होते हैं। यहाँ प्राय का तात्पर्य है कि कुछ स्वेद विना स्नेह के भी होते हैं, जैसे—रूक्षवालुकास्वेद।

२ जिनका वमन-विरेचन आदि से शोधन कराना हो, वे स्नेह्य हैं।

३ जिनका शरीर रूक्ष हो एव जो वातरोग से पीडित हो, वे स्नेह्य हैं।

४ नित्य मद्यपायी और जो नित्य व्यायामी हो, वे स्नेह्य हैं।

५ जो नित्य स्त्री-सेवन करते हो और जो नित्य चिन्तन करने वाले (राजनीतिक, पत्रकार, आलोचक, विरोधी दल के नेता, कवि या निवन्धकार) हो, वे स्नेह्य होते हे।

६ युद्ध करनेवाले, वृद्ध, वालक, स्त्रियाँ और कृश व्यक्ति स्नेह्य हैं।

७. रूक्ष, क्षीणरक्त, क्षीणवीर्य और तिमिर ग्रस्त जन स्नेह्य हैं।

८ जिन लोगो की निद्रा वडी कठिनाई से खुलती है, वे भी स्नेह्य हैं।

स्नेहन के अयोग्य पुरुष[2]

१ रूक्षणार्ह, कफ-मेद वृद्धिवाले, लालास्राव युक्त।

२ प्रवाहिका, मन्दाग्नि, तृष्णा, मूर्च्छा और तालुशोष रोगी।

३ गर्भिणी, अरुचि, वमन, आमज विकारग्रस्त एव विषपीडित।

४ अत्यन्त दुर्वल, क्षीण, स्नेहपान से ग्लानियुक्त तथा मदरोगी।

५ अजीर्ण रोगी, तरुणज्वरी, अकालप्रसूता, ऊरुस्तम्भग्रस्त तथा अतितीक्ष्णाग्नि रोगी स्नेहन के अयोग्य होते हैं।

स्नेहपान के पूर्व हितकर आहार[3]

१ द्रव, २ उष्ण, ३ प्रमाणयुक्त, ४ स्निग्ध अधिक न हो, ५ असकीर्ण

---

१ स्वेद्या शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिण।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्या स्नेह्या- स्युर्ये च चिन्तका-॥ —च० सू० १३।५२

२. सशोधनादृते येषा रूक्षण सम्प्रवक्ष्यते। न तेषा स्नेहन शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम्॥
अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिण॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगदार्दिता। दुर्वलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुरा॥
न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोवस्तिकर्मसु। स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषा रोगा सुदारुणा॥
—च० सू० १३।५३-५६

३. द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्न प्रमाणत। नातिस्निग्धमसङ्कीर्णं श्व स्नेह पातुमिच्छता॥
—च० सू० १३।६० तथा च० वि० ११२१-२४

(अविरुद्ध वीर्य), ६ न जल्द न देर से, ७ चुपचाप, ८. बिना हँसे, ९ अपने अनुकूल, १०. सात्म्य (हितकर) आहार, स्नेहपान के पूर्व करना चाहिए ।

भोजन मे आहार-विधिविधान और आठ आहार-विधिविशेपायतन का भी ध्यान रखना चाहिए ।

स्नेहपान के पूर्व निषिद्ध आहार

१ अभिष्यन्दी (अर्थात् जो द्रव्य पिच्छिल तथा गुरु होने से रससवहन करने वाली सिराओ के मुखो का अवरोध कर शरीर मे गुरुता उत्पन्न करे, जैसे —दही) पदार्थ न खाये ।

२ सकीर्ण (जिसमे एक-दूसरे के विरुद्ध गुण हो, ऐसे) पदार्थों को न खाये ।

३ अतिस्निग्ध पदाथ का आहार न ग्रहण करे ।

स्नेहपान की तैयारी[१]

चिकित्सक का यह नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह स्नेहपान कराने के पूर्व उसमे प्रयोग की जानेवाली सामग्री का पर्याप्त मात्रा मे सग्रह कर ले । घृत-तैल-वसा-मज्जा, इनमे से जिसका प्रयोग करना हो, उसका चुनाव रोग, रोगी, ऋतु, काल, दोष, दूष्य, देश, वल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, लिङ्ग तथा वय का विचार कर करना चाहिए, जिससे किसी उपद्रव की सम्भावना न हो । फिर भी उपद्रव या कोई सकट आ ही जाय या जो उपद्रव सभावित होते है, उनके अनुसार औषधो की पहले से ही व्यवस्था कर लेनी चाहिए ।

सामान्यत इसमे अग्निमान्द्य, अरोचक, शूल, भ्रम, मूर्च्छा, अतिसार और वमन होने की सम्भावना होती है, अत यवानीषाडवचूर्ण, शिवाक्षारपाचन चूर्ण, हिंग्वादि वटी, शूलवज्रिणी, सञ्जीवनी वटी, चित्रकादि वटी, शखभस्म, प्रवालपिष्टी, अविपत्तिकर चूर्ण, पथ्यादि चूर्ण आदि का सग्रह रखना चाहिए ।

अनुपान—घृतपान मे उष्ण जल, तैलपान मे यूष, वसा एव मज्जापान मे मण्ड का अनुपान देने की व्यवस्था रखे, अभाव मे सर्वत्र उष्ण जल देना चाहिए । नीबू, आलूबुखारा, टाटरी, चीनी आदि भी रखनी चाहिए ।

स्नेहपान का विधान

१ सर्वप्रथम रोगी की आस्था और विश्वास के अनुसार उसे अपने इष्टदेव का स्मरण कराये ।

---

१ (क) प्रागेवौषधपानात् सम्भारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक् चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थाः व्यापन्ने चौषधे व्यापद परिसङ्ख्याय प्रतीकारार्था , नहि सन्निकृष्टे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयाक्रये सुकरमाशु सम्भरणमौषधानां यथावदिति । —च० सू० १५।३

(ख) स्नेहादिषूपयोगाय तद्व्यापत् शमनाय च ।
कुर्यात् प्रागेव तद्योगी द्रव्यसम्भारसङ्ग्रहम् ॥ —अ० स० सू० २५

२. रोगी को आश्वासन देकर धैर्य और ढाढस बँधाये, उसको चिन्तामुक्त तथा एकाग्रचित्त करे।

३ स्नेह्य रोगी के रोग शरीरबल, दोषबल, मनोबल आदि का परिज्ञान कर चिकित्सक यह निश्चित करे कि रोगी द्वारा खाया गया पूर्व दिन सायकाल का आहार अच्छी तरह पच गया है और उसका कोष्ठ लघु है।

४ स्नेहपान कराने के पूर्व चिकित्सक यह निर्धारित करे कि रोगी को किस रोगाधिकार का कौन-सा स्नेह पिलाना है, जैसे—

जीर्णज्वर मे—पिप्पल्यादि घृत।	(चरक)
रक्तपित्त मे—वासाघृत।	(")
गुल्म मे—हिंगुसौवर्चलादि घृत।	(")
कुष्ठ मे—महातिक्त घृत।	(")
उन्माद मे—महाकल्याण घृत।	(")
अपस्मार मे—पञ्चगव्य घृत।	(")
वातरोग मे—बलातैल।	(")

५ यदि स्नेहद्रव्य तीक्ष्णगन्धी हो, तो रोगी के नेत्र और नासिका पर पट्टी बाँधे तथा उसे आश्वस्त करे कि तुम्हारे रोग का यह सर्वोत्तम उपचार है, अत थोडा धीरज रखो, अभी सब कुछ ठीक हो जायेगा।

६ सूर्योदय के १५ से ३० मिनट के भीतर स्नेहपान कराना चाहिए।

७ स्नेह की पहली मात्रा ३० मिलीलीटर की दे।

उत्तम स्नेह मात्रा मे—प्रथम दिन—६० मि० ली०।
दूसरे दिन—९० मि० ली०।
तीसरे दिन—१२० मि० ली०।
चौथे दिन—१८० मि० ली०।
पाँचवे दिन—२४० मि० ली०।
छठे दिन—३०० मि० ली०।
सातवे दिन—३६० मि० ली०।

मृदु, मध्य और क्रूर कोष्ठ एव अग्निबल का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

अल्पबल रोगी को पूर्वोक्त उत्तम मात्रा की आधी मात्रा देनी चाहिए। मध्यम कोष्ठ व्यक्ति सामान्यत ५-६ दिन मे स्निग्ध हो जाता है।

स्नेहपान के समय रोगी को अरुचि, छर्दि या हृल्लास या उद्गार हो, तो नीबू की शिकञ्जी के साथ स्नेहपान कराना चाहिए। नीबू का शर्बत ४–५ घूंट पिलाकर ३५–४० मि० ली० घृत पिलाये। घृत को मन्दोष्ण करके प्रयोग करे।

वात-प्राधान्य मे नमक मिला घृत पिलाये।

पित्त-प्राधान्य मे केवल घृत का पान कराये।

कफ-प्राधान्य मे क्षार और त्रिकटु के साथ घी पिलायें।

अनुपान—

१. उष्णोदक—सभी स्नेहो विशेषकर घृतपान मे दे। किन्तु तुवरक तैल और भल्लातक तैल मे न दे।

२ यूष—यह तैलपान का अनुपान है।

३ मण्ड—यह वसा तथा मज्जापान का अनुपान है।

स्नेहपान के जीर्यमान और जीर्ण लक्षण

प्रथम दिन के स्नेहपान के निर्विघ्न पचन के आधार पर ही अगले दिनो मे स्नेहपान की मात्रा का निर्धारण किया जाता है कि कितनी मात्रा बढाकर स्नेह दिया जाय। इसलिए स्नेह के पच्यमान काल मे होनेवाले लक्षण तथा पचन हो जाने पर होनेवाले लक्षणो का ज्ञान आवश्यक है।

पच्यमान स्नेह का लक्षण[1]

१. शिर मे पीडा, २ चक्कर आना, ३ लालास्राव, ४ मूर्च्छा, ५ साद (थकावट), ६ क्लम, ७ तृष्णा, ८ दाह और ९ अरति।

स्नेहपान का जीर्ण लक्षण[2]

१ शिरोरुजा का शमन, २. शरीर-लघुता, ३ वातानुलोमन, ४ क्षुधा होना, ५ पिपासा और ६ उद्गार-शुद्धि।

स्नेहाजीर्ण में उपचार

१ यदि स्नेह के पचने मे सन्देह हो, तो गरम पानी पिलाना चाहिए[3]। शुद्ध डकार आये तो स्नेह को जीर्ण समझे।

२ यदि स्नेह पर्याप्त मात्रा मे मल के साथ निकल जाये, तो भी स्नेह का अजीर्ण समझना चाहिए।

३ अगर स्नेह-पाचनकाल मे बहुत प्यास लगे, तो गरम पानी पिलाये। यदि गरम पानी पीने पर प्यास न बुझे तो उष्णोदक पिलाकर वमन कराये। शिर पर ठडा तेल रखे और जलावगाहन कराये[4]।

---

१ (क) शिरोरुग्भ्रमनिष्ठीवमूर्च्छासादारतिक्लमै। जानीयाद् भेषज जीर्यत् • ॥
—अ० हृ० सू० २५

(ख) स्यु पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारतिक्लमा। —सु० चि० ३१।३३

२ जीर्णं तत् शान्तिलाघवात्। अनुलोमोऽनिल स्वास्थ्य क्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभि॰ ॥
—अ० स० सू० २५

३ जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदक पिबेत्। तेनोद्गारविशुद्धि स्यात् ततश्च लघुता रुचिः ॥
—अ० हृ० सू० १६

४. स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदक नर.। एव चानुपशाम्य त स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत् ॥
दिद्यात् शीतै शिर शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत् ॥ —सु० चि० ३१।२४-२५

स्नेह के जीर्ण होने पर उपचार[1]

स्नेह के जीर्ण हो जाने के पश्चात् रोगी को गरम जल से स्नान कराकर पतली यवागू बनाकर खिलाये। रुचि के अनुसार सादा बिना घी के छौंकन का यूष पिलाये या मासरस दे अथवा स्वल्प घृतयुक्त विलेपी खिलाये।

जब उपर्युक्त उपचार करने के पश्चात् यह प्रतीत हो कि वमन, अतिसार, ज्वर, उद्वेग या आध्मान आदि कोई उपद्रव नही है, तब दूसरे दिन प्रात. कोष्ठ-लघुता आदि का विचार कर पुन क्रमागत स्नेहपान कराये।

स्नेहन का पश्चात् कर्म अर्थात् पथ्यापथ्य[2]

स्नेहपान जितने दिन किया जाय उसके दुगुने दिनो तक स्निग्ध व्यक्ति को निम्नलिखित पथ्यापथ्य और आचार का पालन करना चाहिए। जैसे—

१ नहाने-धोने, खाने-पीने और नित्यकर्म मे सदैव उष्ण जल और आहार-विहार का प्रयोग करे।

२ मैथुन-कर्म का परित्याग कर ब्रह्मचर्य का पालन करे।

३ रात मे ही सोये, दिन मे नही, अन्यथा कफ की वृद्धि होती है।

४ मल-मूत्र-अधोवात और डकार के आये हुए वेग न रोके।

५ व्यायाम या परिश्रम का कार्य न करे।

६ तेज आवाज से बोलना, क्रोध एव शोक करना छोड दे।

७ ठण्डक और गरमी मे शरीर को बचाये।

८ सामने से सीधे लगती हवा से बचना चाहिए।

९ हिलकोचे देनेवाली सवारी घोडा, हाथी, तागा, इक्का आदि की सवारी न करे।

१० पैदल चलना बहुत बोलना, देर तक बैठे रहना अथवा खडा रहना छोड दे।

११ नीचा या ज्यादे ऊँचा सिरहाना न रखे।

१२ धुआँ और धूल मे रहना एव साँस लेना सर्वथा त्याज्य है।

यह आचरण केवल स्नेह मे ही नही, अपितु स्वेदन, वमन, विरेचन आदि सभी कर्मो मे तथा रोग से क्षीण हुए व्यक्तियो के लिए भी उपयोगी है।

---

१ परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेह ततो नरम्। यवागू पाययेच्चोष्णां काम क्लिन्नाल्पतण्डुलाम्॥
देयौ यूषरसौ वापि सुगन्ध-स्नेहवर्जितौ। एतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते॥
—सु० चि० ३१।३४-३५

२. उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशय.। न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान्॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यासनसस्थिती। नीचात्युच्चोपधानाह स्वप्नधूमरजासि च॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत्। सर्वकर्मस्वय प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रम॥
—अ० हृ० सू० १६।२६-२८ तथा च० सू० १३।६२-६३

सम्यक् स्निग्ध-लक्षण[1]

स्नेहन कर्म के ठीक-ठीक होने पर ये लक्षण होते हैं, जैसे—१ वायु का अनुलोमन, २ अग्नि की प्रदीप्ति, ३ मल की स्निग्धता, ४ मल की द्रवता, ५ अगो मे मृदुता और स्निग्धता, ६. त्वक्स्निग्धता, ७ गात्र-लघुता, ८ गुद से स्नेह-निर्गमन, ९ स्नेह मे उद्वेग, १० ग्लानि और ११ क्लम।

असम्यक्[2] स्निग्ध-लक्षण

१ मल का गाँठदार और रूक्ष होना, २ वायु का अनुलोम न होना, ३ जठराग्नि की मन्दता, ४ अगो मे खरता और रूक्षता, ५ उरोविदाह, ६ दुर्वर्णता, ७ दुर्बलता, ८ वायु का प्रतिलोम होना तथा ९ अन्नपचनकृच्छ्रता—ये लक्षण अस्निग्धता के सूचक हैं।

अतिस्निग्ध[3] लक्षण

१ पाण्डुता, २ अगगौरव, ३. जडता, ४ अपक्व पुरीषता, ५ तन्द्रा, ६ अरुचि, ७ उत्क्लेश, ८ मुखस्राव, ९ गुददाह, १० प्रवाहिका, ११. पुरीष की अतिप्रवृत्ति, १२ भक्तद्वेष, १३ घ्राणस्राव और १४ गुदस्राव—ये अतिस्निग्ध होने के लक्षण हैं।

वक्तव्य—स्निग्ध-अस्निग्ध के जो लक्षण ऊपर दिये गये है, वे स्नेहपान-काल के हैं। प्रतिदिन उनकी परीक्षा करते रहना चाहिए। परीक्षण से स्निग्धता के लक्षण मिलने पर ३, ५, ६ अथवा ७ दिन के बाद स्नेहपान रोक देना चाहिए और स्वेदन एव शोधन की व्यवस्था करे।

---

१. (क) वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते॥ —च० सू० १३।५८

(ख) स्निग्धा त्वक् विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता।
ग्लानिर्लाघवमन्नानामधस्तात् स्नेहदर्शनम्॥ —सु० चि० ३१।५३

(ग) स्नेहोद्वेगः क्लमः स्निग्धे सम्यक्। —अ० हृ० सू० १६।३०

२ (क) पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्॥ —च० सू० १३।५७

(ख) पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते। उरो विदह्यते वायुः कोष्ठादुपरि धावति॥
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः॥ —सु० चि० ३१।५१-५२

३. (क) पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रीररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥ —च० सू० १३।५९

(ख) भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम्॥ —सु० चि० ३१।५४

(ग) अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः। —अ० हृ० सू० १६।३१

स्नेहपान के उपद्रव और उपचार

उपद्रव होने मे हेतु[1]

१ अकाल मे स्नेहपान अर्थात् जिस पुरुष के लिए या जिस रोग मे स्नेहपान उपयोगी नही है उसमे स्नेहपान।

२ मात्रापूर्वक स्नेहपान का प्रयोग न करना।

३ अहितकर स्नेहपान का प्रयोग करना।

४ नियमानुसार स्नेहपान न करना।

५ स्नेह्यास्नेह्य का निर्णय न करना।

६ प्रमादवश अधिक समय तक स्नेहपान से उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

उपद्रव[2]

१ तन्द्रा, २ उत्क्लेश, ३ आनाह, ४ ज्वर, ५ अगो मे जकडन, ६. वेहोशी, ७ कुष्ठ ८ खुजली, ९ पाण्डुता, १० शोथ, ११ अर्श, १२. अरुचि, १३ तृष्णा, १४ उदररोग, १५ ग्रहणीविकार, १६ स्तैमित्य, १७ वाक्ग्रह, १८ उदरशूल, १९ आमदोप (अलसक, विलम्बिका, विसूचिका आदि होना)।

उपचार एवं चिकित्सासूत्र[3]

१ उक्त उपद्रवो मे वमन कराना, २. स्वेदन कराना, ३. समय की प्रतीक्षा करना और ४ रोगी तथा रोग के व्याधि एव वल को देखकर विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

उक्त उपद्रवो मे कुछ शीघ्र चिकित्स्य होते है और कुछ दीर्घकाल चिकित्स्य होते हैं। **जो शीघ्र चिकित्स्य है, उनके प्रतिकार के लिए[4]—**

१ गरम जल-प्रधान औषध है, जो स्नेह को पचाता है, आम का पाचन करता है और वायु का अनुलोमन करता है।

---

१ अकाले चाहृतश्चैव मात्रया न च योजित । स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येताऽतिसेवित. ॥
—च० सू० १३।७९

२ तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वर. स्तम्भो विसज्ञता ।
कुष्ठानि कण्डू पाण्डुत्व शोफार्शास्यरुचिस्तृषा ॥
जठर ग्रहणीदोष स्तैमित्य वाक्यनिग्रह. । शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात् ॥
—च० सू० १३।७५-७६

३. तत्राप्युल्लेखन शस्तं स्वेद. कालप्रतीक्षणम्। प्रति प्रति व्याधिबल वुद्ध्वा स्रंसनमेव च ॥
—च० सू० १३।७७

४. (क) मिथ्याचाराद् वहुत्वाद् वा यस्य स्नेहो न जीर्यति ।
विष्टभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत् ॥ —सु० चि० ३१।३१

(ख) तक्रारिष्टप्रयोगाश्च रूक्षपानान्नसेवनम् । मूत्राणा त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम् ॥
—च० सू० १३।७८

(ग) क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् । तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवम् ।
पिप्पली त्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ॥ —अ० हृ० सू० १६।३३-३४

२ विष्टब्धाजीर्ण हो या तृष्णा हो, तो वमन कराना चाहिए।

३. तक्र, आसव-अरिष्ट, रूक्ष अन्नपान, त्रिफला और गोमूत्र का अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए।

४ भूखे रहना, प्यासे रहना, स्वेदन, रूक्ष पान (सत्तू पीना), रूक्ष भोजन तथा रूक्ष औषध सेवन कराना चाहिए।

५ तिल या सरसो की खली, वनकोदो, यव, सावा तथा कोदो पीपर, मधु, हर्रे तथा गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिए।

६ प्रधान रूप से लघन, रूक्षण, वमन और पाचन औषध का प्रयोग करना हितकर है, एतदर्थ आवश्यकतानुसार शिवाक्षारपाचन चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण, हिग्वादि चूर्ण, सञ्जीवनी वटी, रामवाण रस, शखभस्म, वराट भस्म, अविपत्तिकर चूर्ण आदि का प्रयोग उचित मात्रा और अनुपान से करना श्रेयस्कर है।

वक्तव्य—जो उपद्रव दीर्घकालीन चिकित्सा की अपेक्षा करते है, जैसे—१ कुष्ठ, २ कण्डू, ३. पाण्डु, ४ शोथ, ५ उदररोग, ६ ग्रहणी, ७ अर्श, ८. स्तैमित्य (जडता) और ९. वाक्ग्रह।

इनकी चिकित्सा उन-उन रोगो की कथित चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिए, जो स्नेहन रहित हो[1]।

---

१ यथास्व प्रतिरोग च स्नेहव्यापदि साधनम्। —अ० ह० सू० १६।३५

तृतीय अध्याय

स्वेदन

परिभाषा और परिचय

परिभाषा—शरीर से जिस प्रकार की क्रिया मे स्वेद या पसीना निकाला जाता है, उस क्रिया को स्वेदन कहते है। स्वेदन के प्रयोग से शरीर के अवयवो की जकडन, भारीपन और ठडक दूर होती है तथा पसीना निकलता है[1]।

परिचय—स्वेद शरीर का एक मल है और उसका कार्य है—'शरीर के क्लेद का धारण'[2]। क्लेद जलीय तत्त्व[3] है, जो शरीर के जलीय तत्त्वो को एक निश्चित अनुपात मे रखता है। मूत्र के द्वारा क्लेद का वहन होता है और स्वेद से धारण। स्वेद से केश तथा रोगो का धारण होता है।

ऊष्मा के द्वारा स्रोतो-विकास होने पर त्वचा से स्वेद की उत्पत्ति होती है। स्वेद भी स्नेह की तरह वमनादि पञ्चकर्मो का एक पूर्वकर्म है। शोधन के उद्देश्य से स्वेदन करना पूर्वकर्म है, किन्तु जब स्वेदन दारा चिकित्स्य रोगो के शमनार्थ इसका प्रयोग किया जाता है, तब यह प्रधानकर्म समझा जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—च० सू० अ० १४। सु० चि० अ० ३२ तथा अ० हृ० सू० १७ एव अ० स० सू० २६।

स्वेदन की उपयोगिता और महत्त्व

१ **स्तब्धता का नाश**—स्वेदन स्तब्धता या जकडन को दूर करता है। जकडन होने से सन्धियो मे रहने वाला श्लेषक कफ, आमरस, मास, वसा, मेद और वायु की रूक्षता—ये कारण होते है। स्वेदन एक उष्ण एव स्रोतोविस्फारकारक तथा पाचन उपचार हैं, जिसके प्रयोग से उष्णता की वृद्धि होकर आम का पाचन और माम आदि मे शैथिल्य होता है। इस प्रकार स्तब्धता दूर होती है।

२ **भारीपन का ह्रास**—स्वेदन से जलीय घटको मे द्रवणशीलता होकर उनका बहि स्राव होता है, जिससे मासपेशियो तथा वातवाहिनियो मे उत्तेजना होने से शरीर मे लघुता होती है और भारीपन दूर होता है।

३ **स्वेद-निर्गमन**—स्वेदन से पसीना आता है, जो एक मल है। स्वेदन से सभी स्तरो की अशुद्धियाँ पसीना के साथ निकल जाती है और पेशियो एव रस, रक्त, मेद की भी अशुद्धियाँ निकल जाती है। स्वेदन का प्रभाव शरीर के धात्वग्नि और

---

१ स्तम्भगौरवशीतघ्न स्वेदन स्वेदकारकम्। —च० सू० २२।११

२ स्वेदस्य क्लेदविधृति। —अ० हृ० सू० ११।५

३ तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्ति आप क्लेद। —च० शा० ५।५

भौतिकाग्नि व्यापार पर भी पडता है। इसीलिए शोधन-कर्म के पूर्व स्वेदन करने का उपदेश दिया गया है।

४ **शीतता का नाश**—स्वेदन करने से ठडक दूर होती है और शरीर मे उष्णता आती है। शीतता के नष्ट होने से शीतजन्य तथा वातकफ जन्य रोगो मे लाभ होता है।

५ **दोष का द्रवीकरण**—स्नेहन से धातुस्तरो मे स्निग्धता बढ जाती है और उस स्थिति मे स्वेदन करने से दोष और मल इनमे घुल जाते हैं तथा परस्पर मिलकर बाहर निकलते हैं। कुछ का निष्क्रमण कोष्ठ मे आकर वमन से, कुछ का मूत्र मे और कुछ का स्वेद से होता है।

६ **वायु का नियमन**—स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करने से वायु का अवरोध हट जाता है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर की समस्त गतिशील क्रियाओ का व्यवधान दूर हो जाता है और वायु को सर्वशरीर के यन्त्रो या स्रोतो की क्रियाशीलता यथावत् स्थापित करने मे कोई बाधा नही होती तथा पुरीष, मूत्र एव वीर्य के निर्गमन मे कोई रुकावट नही होती[1]।

७ **अङ्गो की मृदुता**—जब विकारग्रस्त वायु अपने रूक्ष-शीत-लघु-सूक्ष्म आदि गुणो से वातव्याधि से शरीर के किन्ही अवयवो या सर्वाङ्ग को जकड लेती है और अङ्गो मे निष्क्रियता, स्तब्धता तथा कठोरता हो जाती है, तब स्नेहनपूर्वक स्वेदन करने से उन अङ्गो मे कोमलता और कार्यक्षमता आ जाती है।

८ **अग्नि-प्रदीपन**—स्वेदन से जठराग्नि, धात्वग्नि और भूताग्नि का प्रबोधन होता है। स्वेदन की उष्णता से इन अग्नियो मे तीव्रता आती है। स्वेदन की उष्णता तथा तीक्ष्णता से आम का पाचन होकर भूख की वृद्धि होती है।

९. **त्वचा का प्रसादन (निखार)**—स्वेदन क्रिया से त्वचा से पसीना के साथ मल निकल जाने से त्वचा मे निखार आ जाता है और त्वचा मे मृदुता तथा प्रसन्नता आती है।

१०. **आहार-रुचि**—स्वेदन से आमपाचन हो जाने से भोजन की रुचि होती है।

११ **स्रोतस्-शोधन**—स्वेद मेद का मल है और स्वेद निकलने से त्वचा से मेद-पर्यन्त सबका मल निकल जाता है तथा स्वेदन से वायु का नियन्त्रण होकर अवरोध दूर हो जाने से सभी स्रोतो का शोधन हो जाता है।

१२. **निद्रानाश**—स्वेदन करने से शरीर के मेद और कफ का ह्रास होता है और शरीर का भारीपन जाता रहता है, इन्द्रियाँ प्रबुद्ध हो जाती है, आलस्य और सुस्ती तथा तन्द्रा का दबाव समाप्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप निद्रा मे कमी हो जाती है।

१३ **सन्धियो की सक्रियता**—स्वेदन करने से सन्धियो मे सञ्चित वात-कफ एव

---

[1] स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्नेहेनाऽवजितेऽनिले। पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥
—च० सू० १४।४

आम का विलयन होने से शोथ, शूल और स्तब्धता का क्षय होता है। उष्णता होने से सन्धियो की जकडन दूर होती है और उनमे सक्रियता आ जाती है।

१४ **दोषशोधन**—स्नेहन करने के बाद दोषो का क्लेदन हो जाता है और तत्पश्चात् स्वेदन करने से दोष द्रवित होकर कोष्ठ मे चले जाते है तथा वहाँ से सुखपूर्वक उनका शोधन हो जाता है। एवञ्च सर्वांग मे स्वेदन का प्रयोग करने से समस्त शरीर के दोषो का विलयन होकर शोधन हो जाता है। अपनी इन्ही उपयोगिताओ के कारण स्वेदन शोधन का तो **पूर्वकर्म** है, किन्तु अनेको वात-कफज रोगो मे वह **प्रधान कर्म** है[1]।

स्वेद-निर्गमन का प्रयोजन

शरीरक्रिया-विज्ञान के अनुसार—आहार आदि के पोषक तत्त्वो का सात्म्यीकरण तथा विकृत हुए अलाभकर मलो का पृथक्करण होना पाचनतन्त्र की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विकृत मल का कुछ भाग स्थूल होता है और कुछ सूक्ष्म। जो स्थूलभाग होता है, वह बृहदन्त्र मे आकर गुदाद्वार से बाहर निकल जाता है तथा सूक्ष्म (द्रव) अश रक्त मे आकर फिर मूत्र के साथ और स्वेद रूप से बाहर निकलता रहता है। यदि इस शारीरिक विषाक्त मल के निकलने की प्रक्रिया मे व्यवधान हो जाय, तो स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। सामान्य स्थिति मे यह क्रिया विना व्यवधान के होती रहती है।

शरीर से स्वेद निकलने की क्रिया सभी ऋतुओ मे अहर्निश होती रहती है। शीतकाल मे प्रतिक्रिया होकर शारीरिक उत्ताप की वृद्धि होती है, फिर रक्ताभिसरण क्रिया उत्तेजित होकर प्रस्वेद निकलने मे सहायता पहुँचाती है। शीतकाल मे स्वेद की मात्रा न्यून होने से बाहर निकलने का बोध नही होता और उष्णकाल मे प्रस्वेद अधिक आने से स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

यदि किसी कारणवश अधिक शीत लग जाय, तो उस व्यक्ति का शारीरिक उत्ताप कम हो जाता है एव रक्ताभिसरण क्रिया मे मन्दता आ जाती है, जिसके फलस्वरूप पाचनक्रिया विकृत होकर आमवृद्धि हो जाती है। फिर स्वेद लाने की क्रिया यथोचित नही हो सकती। स्वेदावरोध होने पर औषध-सेवन या अन्य उपचार से स्वेद-निर्गमन को यथोचित बनाने का प्रयत्न किया जाता है, अन्यथा अनेक व्याधियो के उत्पन्न होने की सभावना हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्वचित् रक्त मे से विष को बाहर निकालने और मूत्रपिण्डो को शान्ति देने के लिए भी स्वेद लाने की क्रिया उत्तेजित करायी जाती है।

---

१. स्नेहक्लिन्ना धातुसस्थाश्च दोषा. स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीना।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्व प्राप्ता. कोष्ठ शोधनैरन्त्यशेषम्॥
अग्नेर्दीप्ति मार्दव त्वक्प्रसाद भक्तश्रद्धा स्रोतसा निर्मलत्वम्।
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रा सतन्द्रा सन्धीन् स्तब्धाश्चेष्टयेदाशु युक्त॥
स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्व शीतार्थित्व मार्दव चातुरस्य।
सम्यक्स्विन्ने लक्षण॥ —सु० चि० ३२।२१-२३

प्रस्वेद त्वचा मे स्थित घर्मग्रन्थियो द्वारा वाहर निकलता है। त्वचा मे सर्वत्र अत्यधिक सख्या मे घर्मग्रन्थियाँ होती है। जिस प्रकार वृक्को के कोष सर्वथा त्याज्य पदार्थ को पृथक् कर मूत्र द्वारा वाहर निकालते रहते है, उसी प्रकार त्वचास्थित स्वेदग्रन्थियाँ रक्तगत विष को प्रस्वेद द्वारा वाहर निकालती रहती है। ये स्वेद-स्रावक कोष स्राव करानेवाली वातवहा नाडियो (Secrelory merues) के अधीन है और इन वातवाहिनियो का केन्द्रस्थान सुपुम्ना मे है।

स्वेदकर द्रव्यो के गुण[1]

(जो प्रायः स्वेदनकारक है)

१ उष्ण, २. तीक्ष्ण, ३. सर, ४ स्निग्ध, ५ रूक्ष, ६ सूक्ष्म, ७ द्रव, ८ स्थिर और ९ गुरु।

१ **उष्ण**[2]—यह गुण स्तब्धतानाशक, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह और स्वेद का जनक, आम पाचन, सारक और विकासकर होता है।

२ **तीक्ष्ण**[3]—यह दाह, पाक एव स्रावकारक, कफ-वातनाशक, स्रावण एव शोधनकारक होता है।

३ **सर**[4]—यह अनुलोमनकारक, प्रेरणशील और प्रसरणशील होता है।

४ **स्निग्ध**[5]—स्नेहकृत्, मार्दवकृत्, वलकृत्, स्नेहन-क्लेदन-विष्यन्दन, वातहर एव वृष्य होता है।

५ **रूक्ष**[6]—रूक्षताकारक, वल-वर्णनाशक, दृढताकारक, कठिनताकारक, कफहर एव स्तम्भनकारक होता है।

६ **सूक्ष्म**[7]—यह सूक्ष्म स्रोतो मे प्रवेश योग्य होता है।

७ **द्रव**[8]—क्लेदनकारक, प्रसरणशील, दोपो का विलयनकारक, स्रवणशक्ति-वर्धक एव तरलताकारक होता है।

८ **स्थिर**[9]—यह एकाङ्ग मे स्वेद करने के समय उपयोगी होता है। स्थिर गुणप्रधान द्रव्य उपनाह स्वेद मे प्रयुक्त होते है, जब किसी एक ही स्थान पर स्वेदन करने की आवश्यकता होती है।

---

१. उष्ण तीक्ष्ण सर स्निग्ध रूक्ष सूक्ष्म द्रव स्थिरम्।
द्रव्य गुरु च यद् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते॥ —च० सू० २२।१६

२ ह्लादन स्तम्भन शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्। उष्णस्तद्विपरीत स्यात्पाचनश्च विशेषत॥ —सु० सू० ४६

३ दाहपाककरस्तीक्ष्ण· स्रावणो मृदुरन्यथा। —सु० सू० ४६

४. सरोऽनुलोमन· प्रोक्त·। —सु० सू० ४६

५. स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा। —सु० सू० ४६

६ रूक्ष समीरणकर पर कफहर मतम्। —भावप्रकाश पू० ख०

७ देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेयत् सूक्ष्ममुच्यते। —भा० प्र०

८ द्रव· प्रक्लेदन· प्रोक्त। —सु० सू० ४६

९. स्थिरो वातमलस्तम्भी। —भा० प्र०

९ गुरु[1]—यह बलकारक बृंहणकारक, पुष्टिकर, तर्पणकारक और उपलेपकृत् (मलवर्धक) होता है।

स्वेदनकारक द्रव्य

(१) **स्वेदोपग गण**[2]—स्वेद की उत्पत्ति मे सहायता करनेवाले द्रव्यो को **स्वेदोपग** कहते है। जैसे—१ शोभाञ्जन (सहिजन), २ एरण्ड, ३ वृश्चीर (श्वेत-पुनर्नवा), ४ यव, ५ तिल, ६ कुलत्थ, ७ माष (उडद), ८ बदर (बेर), ९ अर्क (मदार), १० पुनर्नवा (रक्त गदहपुर्ना)।

(२) **सामान्य स्वेदल द्रव्य** जैसे—१ प्रवाल भस्म, २ कलमीसोरा, ३ नौसादर, ४ जवाखार, ५ सप्तपर्ण, ६. सहदेवीमूल, ७ कुल्थी, ८ मदार का मूल, ९ सहिजन की छाल, १० द्रोणपुष्पी, ११ एरण्डमूल, १२ वच्छनाग, १३ फिटकरी, १४ अनन्तमूल, १५ कपूर, १६ वनफसा, १७ अकोल, १८ देवदारु, १९ श्वेत-पुनर्नवा, २० रक्तपुनर्नवा, २१ नागरमोथा, २२ अतीस, २३. मालकागनी, २४ कुटकी, २५ तुलसी, २६ रोहिषघास, २७ सोठ, २८ दालचीनी, २९ कुसुम्भ, ३० चाय, ३१ सौफ, ३२. शीतल मिर्च, ३३ गन्धक, ३४ तारपीन का तेल, ३५ बेर, ३६ उडद, ३७ जौ, ३८ तिल, ३९ कुलथी आदि स्वेदकारक हैं।

(३) **वातघ्न स्वेदल दशमूल**—१. गोखरू, २ सरिवन, ३ पिठवन, ४ छोटी कटेरी, ५. बडी कटेरी, ६ बिल्व, ७ गनियार, ८ पाढल, ९. गम्भारी और १०. सोनापाठा—ये दशमूल है।

उपयोग-भेद से स्वेदल द्रव्य

१. **पिण्ड स्वेद के द्रव्य**[3]—तिल-माष-कुलत्थ आदि।
२. **नाड़ी स्वेद एवं अवगाह स्वेद के द्रव्य**[4]—वरुण-गुडूची-एरण्ड आदि।
३. **उपनाह स्वेद के द्रव्य**[5]—काकोली-क्षीरकाकोली-जीवक आदि।
४ **उपनाह मे सुरसादि गण**[6]—काली तुलसी, श्वेत तुलसी आदि।
५ **उपनाह मे एलादि गण**[7]—इलायची-तगर-कुष्ठ आदि।
६ **उपनाह मे गोधूमादि योग**[8]—गेहूँ का चोकर, जौ का आटा आदि।
७. **प्रस्तर स्वेद के द्रव्य**[9]—शूकधान्य, शमीधान्य आदि।
८ **शाल्वण स्वेद के द्रव्य**[10]—भद्रदारु-कुष्ठ-हरिद्रा-वरुण आदि।
९ **विदारिगन्धादि गण**[11]—शालिपर्णी, भूमिकूष्माण्ड आदि।

स्वेद के योग्य रोग और रोगी

१ प्रतिश्याय, २ कास, ३ हिक्का, ४ श्वास, ५ अगगौरव, ६ कर्णशूल,

---

१ सादोपलेपबलकृत् गुरुस्तर्पणबृंहण। —सु० सू० ४६
२. च० सू० ४।२२। ३ च० सू० १४।२५-२६। ४ च० सू० १४।३०-३३।
५ सु० सू० ३८।३५। ६ सु० सू० ३८।१८। ७ सु० सू० ३८।२४।
८ च० सू० १४।३५। ९ च० सू० १४।४२। १०. सु० सू० ३९।७।
११ सु० सू० ३८।२।

७ मन्याशूल, ८ शिर शूल, ९. स्वरभेद, १०. गलग्रह, ११. अर्दित, १२ एकाङ्ग-वात, १३ सर्वाङ्गवात, १४ पक्षाघात, १५ विनामक, १६. आनाह, १७. विबन्ध, १८ मूत्राघात, १९. जृम्भा, २०. पार्श्वग्रह, २१ पृष्ठग्रह, २२ कटिग्रह, २३ कुक्षिग्रह, २४ गृध्रसी, २५. मूत्रकृच्छ्र, २६. मुष्कवृद्धि, २७ अगमर्द, २८ पादशूल, २९ जानुशूल, ३० ऊरुशूल, ३१. जङ्घाशूल, ३२ शोथ, ३३. खल्लीरोग, ३४. आमदोष, ३५ शैत्य, ३६ कम्पवात, ३७ वातकण्टक, ३८ सकोच, ३९. आयाम, ४० अगशूल, ४१ स्तम्भ, ४२ गुरुता, ४३ सुप्तता, ४४. सर्वाङ्ग की जकडन, ४५. नस्यार्ह, ४६ वस्तियोग्य, ४७ वमनार्ह तथा ४८ विरेचनार्ह—ये स्वेदन के योग्य है[1]।

१ जिनका शल्य निकाल दिया गया हो, उनका स्वेदन करे। ये पश्चात्स्वेद्य है।

२ स्वाभाविक प्रसव के बाद (पश्चात्स्वेद्य) स्वेदन करे।

३ मूढगर्भ स्वेद्य है[2]।

४ भगन्दर पूर्व और पश्चात् स्वेद्य है।

५ अर्श पूर्व और पश्चात् स्वेद्य है।

६. अश्मरी पूर्व और पश्चात् स्वेद्य है।

७ अर्बुद, ग्रन्थि और आढचवात स्वेद्य है[3]।

वक्तव्य—इस प्रकार स्वेद्य रोग कई कोटि के हे, जैसे—

१ कुछ वातप्रधान रोग—मन्यास्तम्भ, पक्षाघात आदि।

२ कुछ कफप्रधान रोग—प्रतिश्याय, कास आदि।

३ कुछ शोधनयोग्य रोग और रोगी।

४ कुछ शल्यकर्म योग्य—जिनमे पहले और बाद मे भी स्वेदन किया जाता है।

स्वेद के अयोग्य रोग और रोगी

१ नित्य मद्यपायी, २ कषायपायी, ३ गर्भिणी स्त्री, ४ रक्तपित्ती, ५ अतिसारी, ६. मधुमेही, ७ पित्तप्रकृति, ८ रूक्षशरीर, ९. विदग्धगुदा, १०. भ्रष्ट-गुदा, ११ विषपीडित, १२ मद्यविकारी, १३ श्रान्त, १४ नष्टसज्ञ, १५ स्थूलकाय, १६ पित्तमेही, १७ तृषित, १८ क्षुधित, १९ क्रुद्ध, २० शोकग्रस्त, २१ कामला-ग्रस्त, २२ उदररोगी, २३ उरक्षती, २४ वातरक्तयुक्त, २५ दुर्बल, २६ शुष्कदेह, २७ ओजक्षयी, २८ तिमिरग्रस्त[4], २९ पाण्डुरोगी, ३० अजीर्णी तथा ३१ विषार्त। ये अस्वेद्य होते है[5]।

---

[1] च० सू० १४।२०–२४। २. सु० चि० ३२।१७–१८। ३ सु० चि० ३२।१९।

[4] कषायमद्यनित्याना गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्। विदग्धभ्रष्टब्रध्नाना विषमद्यविकारिणाम्॥ पित्तिना सातिसाराणा रूक्षाणा मधुमेहिनाम्। श्रान्ताना नष्टसज्ञाना स्थूलानां पित्तमेहिनाम्॥ तृष्यता क्षुधिताना च क्रुद्धाना शोचतामपि। कामल्युदरिणा चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम्॥ दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसा तथा। भिषक् तैमिरिकाणा च न स्वेदमवचारयेत्॥
—च० सू० १४।१६–१९।

[5]. पाण्डुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्त. क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्त।
तृडच्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी॥ —सु० चि० ३२–३५।

वक्तव्य—इनमें तीन प्रकार के रोगी लिये गये हैं—

१ एक वे जो पित्तजन्य व्याधि से पीडित हैं—मद्यज तृष्णा, तृष्णा, रक्तपित्त, उर क्षत आदि।

२ दूसरे वे, जो मद्यपान के कारण रूक्षशरीर हो गये हो उनमे स्वेदन निषिद्ध है।

३ प्रमेही के शरीर मे धातुशैथिल्य हो जाता है, अत सभी प्रकार के प्रमेह रोगी अस्वेद्य हो जाते हैं।

जिन अस्वेद्य बतलाये गये रोगियो को कोई ऐसी व्याधि हो जाये, जिसमे स्वेदन करना आवश्यक प्रतीत हो, तो उनका मृदु स्वेदन करना चाहिए[१]।

स्वेदन के पूर्व विचारणीय विषय

रोगानुसार, ऋतु के अनुसार, रोगी के बलाबल का विचार कर, शरीर-देश (अवयव) का विचार कर, रोगी की आयु तथा लिङ्ग का विचार कर, दोषो का विचार कर, स्वेदनकारक द्रव्यो की समुचित कल्पना कर, न अधिक गरम न अधिक मृदु, उचित मात्रा मे उचित रीति से किया गया स्वेदन लाभप्रद होता है[२]।

१ **रोगानुसार**—रोग के अनुसार यह निर्णय करे कि रुग्ण स्वेदन योग्य है या अस्वेद्य है। यदि स्वेद्य हो तो यह निश्चय करे कि इसे किस प्रकार का स्वेदन करणीय है। जैसे —

(क) शूल, स्तब्धता और सङ्कोच मे उपनाह स्वेद,
(ख) पक्षाघात, खञ्ज, पगु एव अर्दित मे पिण्ड स्वेद,
(ग) आमप्रधान शोथ मे बालू, भूसी, सुर्खी आदि से रूक्ष स्वेद,
(घ) गृध्रसी विश्वाची, खल्ली आदि मे बाष्पस्वेद,
(ङ) कटिशूल, अश्मरीशूल मे अवगाह स्वेद,
—इत्यादि का विचार करके स्वेदन करना कार्यकारी होता है।

२ **ऋतु के अनुसार**—शीत ऋतु मे महान् स्वेद करे ओर उष्ण ऋतु मे मृदु स्वेद करे।

३ **रोगी के अनुसार**—उत्तम शरीरबल एव उत्तम मनोबल वाले रोगी को महान् स्वेद, मध्यम शरीरबल तथा मध्यम मनोबल वाले को मध्यम स्वेद और दुर्बल देह एव अल्प मनोबल वाले को मृदु स्वेदन करना चाहिए[३]।

---

१ एतेषा स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेपु बुद्धिमान्। मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत ।
सु० चि० ३२।२७।

२ रोगर्तुव्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्नच। द्रव्यवान् कल्पितो देशे स्वेद कार्यकरो मतः॥
—च० सू० १४।६।

३ व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले। दुर्बले दुर्बल स्वेदो मध्यमे मध्यमो हित॥
—च० सू० १४।७।

४ दोषानुसार[1]—वात-कफज रोगो मे स्निग्ध और रूक्ष स्वेद करना चाहिए। केवल वातज रोग मे स्निग्ध तथा केवल कफज रोग मे रूक्ष द्रव्यो द्वारा स्वेदन करना चाहिए।

५ देश के अनुसार—रोगी के पीडित शरीराङ्गो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वेदन करना चाहिए। जैसे—

(क) आमाशय मे यदि वात कुपित हो तो पहले रूक्ष द्रव्यो द्वारा स्वेदन कराकर वाद मे स्निग्ध द्रव्यो द्वारा स्वेदन कराना चाहिए।

(ख) यदि पक्वाशय मे कफ कुपित हो तो पहले स्निग्ध द्रव्यो द्वारा स्वेदन कराकर वाद मे रूक्ष द्रव्यो द्वारा स्वेदन कराना चाहिए[2]।

वक्तव्य—यहाँ शरीर-प्रदेश के अनुसार दो प्रकार का स्वेद वतलाया गया है। जैसे—

(क) आमाशय कफ का स्थान है एव आमाशय मे कुपित कफ को शान्त करने के लिए पहले कफ के विपरीत रूक्ष स्वेद कराया जाता है और जव स्थानस्थ दोष शान्त हो जाता है, तो आगन्तुक वात को नष्ट करने के लिए स्निग्ध स्वेदन किया जाता है। इसी प्रकार—

(ख) पक्वाशय वात का स्थान है, इसलिए स्थानस्थ वात-दोष के प्रकोप को शान्त करने के लिए पहले स्निग्ध स्वेदन किया जाता है और वाद मे आगन्तुक कफ-दोष को शान्त करने के लिए रूक्ष स्वेद कराया जाता है। वाग्भट ने उक्त नियम का स्पष्ट निर्देश किया है—

'आगन्तु शमयेद्दोष स्थानिन प्रतिकृत्य च'। (अ० हृ० सू० १३।२१)

६ वृषण आदि का स्वेदन[3]—वृषण, हृदय, नेत्र—इनका स्वेदन नही करना चाहिए। यदि अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेदन करे। अन्य अङ्गो मे रोग एव आवश्यकता के अनुसार स्वेदन करें। वक्षण मे मध्यम स्वेदन करे।

७ नेत्र का स्वेदन[4]—नेत्रो को पहले स्वच्छ कपडे के कई तह किये टुकडे से या जौ-गेहूँ के गुँथे आटे की चपाती से या कमलपत्र से पूर्णत ढँककर पश्चात् मृदु स्वेदन करे।

---

१ वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते। स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पित ॥ —च० सू० १४।८

२ आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयस्थिते। रूक्षपूर्वं हित स्वेद स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ —च० सू० १४।९

३ वृषणौ हृदय दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा। मध्यम वङ्क्षणे शेषमङ्गावयवमिष्टत ॥ —च० सू० १४।१०

४ सुशुद्धै. नक्तकै. पिण्डया गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्य. सवृत्य चक्षुषी ॥ —च० सू० १४।११

८ हृदय का स्वेदन[1]—हृदय का स्वेदन करते समय हृदय-प्रदेश पर शीतल मोतियों की माला या शीतल कास्यपात्र या आर्द्रक मलपत्र अथवा शीतल आर्द्र हाथों का स्पर्श कराये।

९ आयु के अनुसार—रोगी के बाल्यकाल, यौवनावस्था एव वार्धक्य के अनुसार तथा स्त्री या पुरुप लिङ्ग के अनुसार शरीरबल, दोषबल तथा मनोबल का विचार करके मृदु, मध्य अथवा महान् (तीक्ष्ण) स्वेदन करना चाहिए।

१० शोधनार्थ—यदि रोगी को वमनार्थ या विरेचनार्थ स्वेदन कराना हो, तो पहले स्नेहपान क्रम के अनुसार इसे ७ दिन स्नेहन कराये, फिर चौथे या आठवे दिन स्वेदन करायें[2]।

११ यदि संशमनार्थ स्वेदन कराना हो तो स्वेदन के निर्देशानुसार प्रयोग करे। जैसे—आम, कफ और मेद के प्राधान्य मे बिना स्नेहन किये ही रूक्ष स्वेदन करना चाहिए।

अन्यत्र स्वेदन के पहले रोगी का एकाङ्ग या सर्वाङ्ग स्नेहन करके ही स्वेदन करना चाहिए।

स्वेदन का प्रयोग

स्वेदन के प्रकार के अनुसार बाह्य स्वेदन की विधि और उसमे प्रयुक्त द्रव्यो की उचित कल्पना कर शरीरावयव के और आवश्यकतानुसार स्निग्ध या रूक्ष, एकाङ्ग या सर्वाङ्ग, अनुलोम-प्रतिलोम अथवा वृत्ताकार स्वेदन करना चाहिए। रोगी को विभिन्न मुद्राओ मे रखकर सुविधानुसार स्वेदन करे।

स्वेदनकाल की सावधानी

स्वेदन निर्धारित समयानुसार करना चाहिए। रोगी की गतिविधि और शारीरिक स्थिति तथा स्वेदन के सम्यग्योग, हीनयोग या अतियोग के लक्षणो को देखते रहना चाहिए। उपद्रव को भी ध्यान मे रखे। ज्यादे गरम या अनुष्ण स्वेद हानिकर होता है। वाष्प स्वेद, परिषेक, अवगाह आदि की उष्णता-अनुष्णता की जॉच करते रहे। सम्यक् स्वेदन के लक्षण प्रकट हो तो स्वेदन बन्द कर दे।

सम्यक्[3] स्वेदन-प्रयोग के लक्षण

१ ठंडक का न महसूस होना, २ शूल का शान्त हो जाना, ३ अङ्गो की जकडन का मिट जाना, ४ शरीर का भारीपन घट जाना, ५ शरीर मे कोमलता आ जाना, ६ स्वेद का स्राव होना—पसीना निकलना, ७ रोग का समाप्त हो जाना, ८ शीत वातावरण की अभिलाषा होना—ये लक्षण स्वेद के सम्यग्योग होने पर होते हैं।

---

१ मुक्तावलीभि शीताभि शीतलै भाजनैरपि। जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तै. स्विद्यतो हृदय स्पृशेत् ॥ —च० सू० १४।१२।

२. व्यवहार सप्तदिन परं तु स्निग्धो नर स्वेदयितव्य उक्त। —च० सि० १।६।

३. शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे।
सञ्जाते मार्दवे चैव स्वेदनाद् विरतिर्मता ॥ —च० सू० १४।१३

स्वेदन का हीनयोग[1] या मिथ्यायोग

१ सम्यक् स्वेदन के लक्षणो का न होना, २ शरीर से पसीना न निकलना, ठडक न दूर होना, ३ शूल शान्त न होना, शरीर का भारीपन नही घटना एव ४ स्तब्धता का वना रहना, शीत की इच्छा न होना—ये लक्षण अस्विन्नता सूचक हे ।

स्वेदन का अतियोग[2]

१ पित्त का प्रकोप होना, मूर्च्छा होना, थकावट होना, २ शरीर मे जलन, दुर्वलता, सन्धियो मे पीडा, ३ पसीना अधिक होना, त्वचा पर फफोले निकलना, ४ पित्त और रक्त का प्रकोप होना, चक्कर आना एव ५ प्यास लगना, वमन होना और ज्वरोत्पत्ति—ये लक्षण अतिस्विन्नता के द्योतक है ।

अतिस्विन्नता का उपचार[3]

अतिस्विन्न के लक्षण उत्पन्न होने पर ग्रीष्म ऋतु की चर्या के अनुसार आहार-विहार और उपचार करना चाहिए । जैसे—

१ मधुर, स्निग्ध, शीतल, द्रव, सर, तिक्त, कषाय आहार, २ घी-चीनी मिला सत्तू का गाढा घोल पीने को देना, ३. शीतल उद्यान, शीतल जल, शीतल पुष्प-पत्र शय्या, ४ कूलर लगे तापनियन्त्रित आवास मे निवास, ५ मोतिया, जूही, वेला, गुलाव के फूलो के गजरे, ६ अगो पर शीतल-सुगन्ध द्रव्य एव चन्दनानुलेप, ७ कोमल अङ्गो या हाथो का मृदुल सवाहन और ८ मधुरिम सङ्गीत-ध्वनि तथा रमणीय दृश्यावलोकन—ये अतिस्वेदन के सन्ताप का निराकरण करते है ।

स्वेदन का पश्चात्कर्म

१ स्वेदित व्यक्ति को खुली सीधे लगने वाली हवा मे न रखे ।
२ मन्दोष्ण जल मे रोयेंदार तौलिया भिगोकर देह को पोछ दे ।
३ पसीना आदि को शरीर से पोछकर हटा दे ।
४ घण्टे दो घण्टे विश्राम के वाद गरम जल से नहलाये ।
५ द्रवप्राय, हल्का, चिकनाई रहित भोजन देकर सुला दे ।

---

१ • मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव । सु० चि० ३२।२३
स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्व शीतार्थित्व मार्दव चातुरस्य ।
सम्यक्स्विन्ने लक्षण प्राहुरेतत मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥ —सु० चि० ३२।२३
२ (क) पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदनं तथा ।
दाह· सर्वाङ्गदौर्वल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥ —च० सू० १४।१४
(ख) स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाह स्फोटोत्पत्ति पित्तरक्तप्रकोप. ।
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णाक्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीत विधानम् ॥—सु० चि० ३२।२४
(ग) अ० हृ० सू० १७।१६–१७ ।
३ उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिक. सर्वशो विधि । सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुर. स्निग्धशीतलः ॥
—च० सू० १४।२५

६ उपद्रव—जैसे–ग्लानि, भ्रम, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा आदि होने पर रोगानुसार चिकित्सा करे।

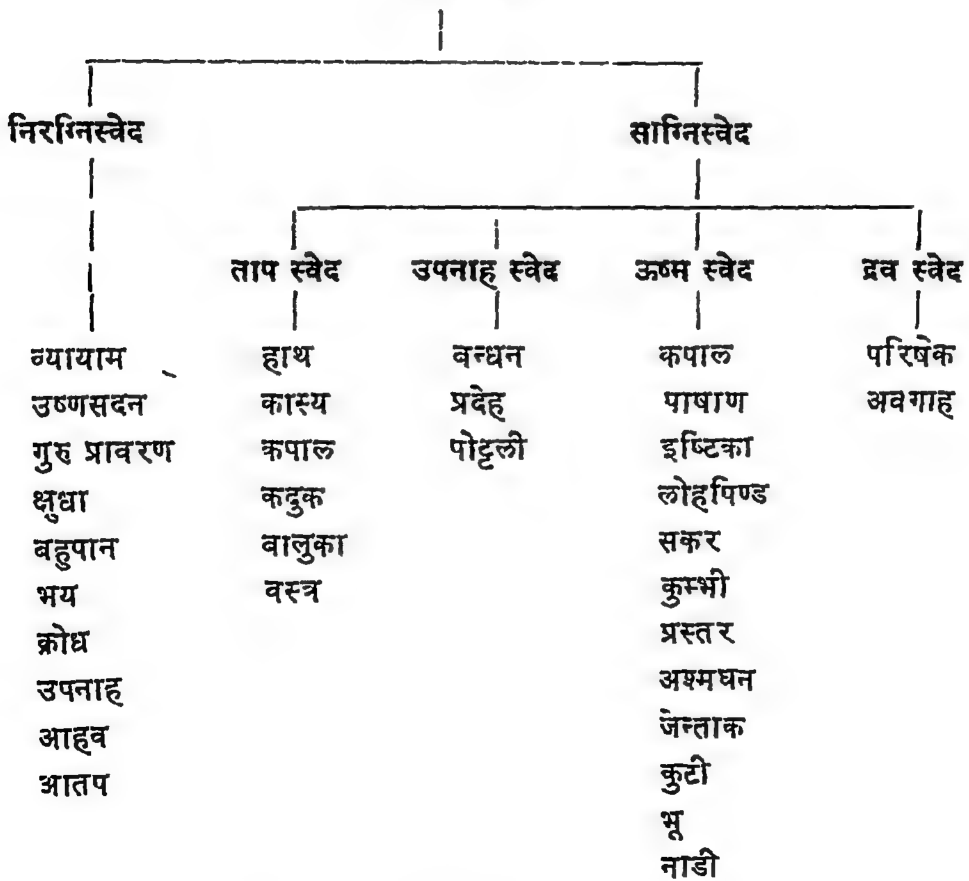
७ दाह होने पर गुडूचीसत्त्व ½ ग्राम, प्रवालपिष्टी २५० मि० ग्रा०, गोदन्ती भस्म ५०० मि० ग्रा०, स्वर्णमाक्षीक भस्म १२५ मि० ग्रा०/१ मात्रा दूध के साथ दिन मे ३-४ बार दे।

८ दग्ध व्रण हो तो जात्यादि तैल या घृत लगाये।

९ पित्तज व्याधि मे एव क्षार या अग्निदग्ध मे और स्वेदन के अतियोग मे स्तम्भन[1] चिकित्सा करनी चाहिए।

१० स्तम्भनकारक द्रव्य शीत-मन्द-मृदु-श्लक्ष्ण-रूक्ष-सूक्ष्म-द्रव-स्थिर इन गुणो से युक्त होते है, जो स्वेदन के गुणो से अधिकाशत विपरीत हैं[2]।

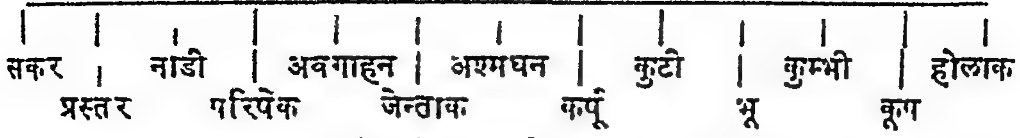
स्वेद के प्रकार



१. स्तम्भन स्तम्भयति यद् गतिमन्त चल ध्रुवम्। —च० सू० २२।१२

२. शीतं मन्द मृदु श्लक्ष्ण रूक्ष सूक्ष्म द्रवं स्थिरम्।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तद् स्तम्भनं स्मृतम्॥ —च० सू० २२।१७

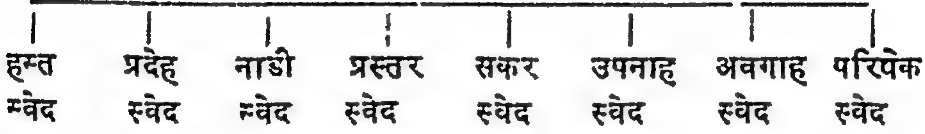
(२) चरकोक्त तेरह[1] स्वेद



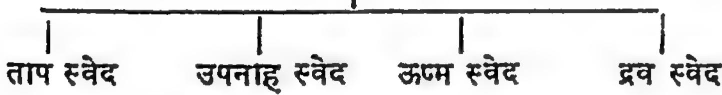
(३) निरग्नि[2] दश स्वेद

१. व्यायाम	६ भय
२ उष्णमदन	७ क्रोध
३ गुरु प्रावरण	८ उपनाह
४ क्षुधा	९ आहव
५ बहुपान	१० आतप

(४) काश्यप[3] कथित आठ स्वेद



(५) सुश्रुत और वाग्भट के चार स्वेद[4]



(६) बल के अनुसार स्वेद के तीन प्रकार[5]



---

१. सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम् । जेन्ताकोऽश्मघन कर्षू· कुटी भूः कुम्भिकैव च ॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ॥ —च० सू० १४।३९-४०

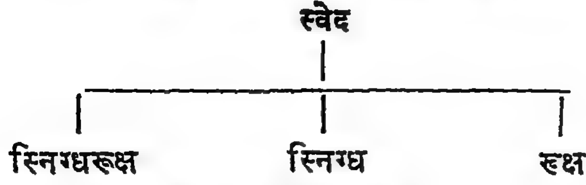
२. व्यायाम उष्णमदनं गुरुप्रावरण क्षुधा । बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपा· ॥ —च० सू० १४।६४

३ जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविध हितम् । हस्तस्वेद प्रदेहश्च नाडीप्रस्तरसङ्करा· ॥
उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाष्टम ॥ —का० सू० २५–२६

४ चतुर्विध स्वेद, तद्यथा—तापस्वेद·, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेदो द्रवस्वेद इति । अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोध । सु० चि० ३२।१ तथा—स्वेदस्तापोपनाहोष्मा द्रवभेदाच्चतुर्विध· ॥ —अ० हृ० सू० १७।१

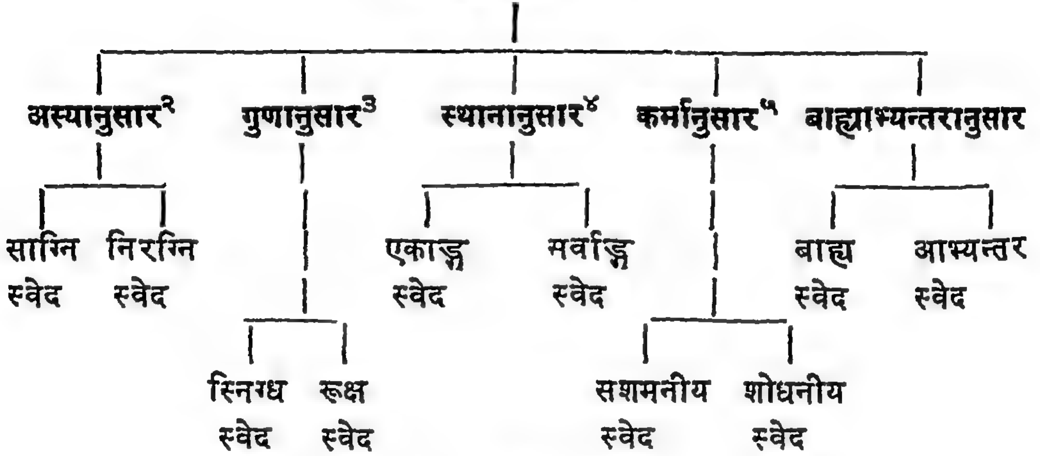
५. व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले । दुर्बले दुर्बल स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः ॥ —च० सू० १४।७

(७) स्वेद के तीन प्रकार गुण[1] के अनुसार—



(८) स्वेद के द्वन्द्वज (दो-दो) प्रकार—

जिस स्वेद मे एक-दूसरे के विपरीत स्वेद किया जाता है, ऐसे परस्पर विपरीत किस्म के जोडे को द्वन्द्वज स्वेद कहते है। जैसे—



(१) संकर स्वेद

(Mixed Fomentation)

परिचय—स्वेदन द्रव्यो (तिल, उडद, कुलथी, मास आदि) को कूट-पीसकर वस्त्र मे पोटली बनाकर, सुखोष्ण करके स्वेदन करना **संकर स्वेद** कहलाता है।

---

१. वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पित॰ ॥ —च० सू० १४।८

२. व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण क्षुधा। बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते। इत्युक्तो द्विविध. स्वेद. सयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ॥
—च० सू० १४।६४–६५

३ आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयस्थिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेद॰ स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥
—च० सू० १४।९

४. एकाङ्गसर्वाङ्गगत. ·· । —च० सू० १४।६६

५. (क) द्विविध. स्वेद. सशमनीय. सशोधनाङ्गभूतश्च। तत्र संशमनीयः सामेषु व्याधिषु रूक्ष एव प्रयोज्यः।—सु० चि० ३२।२१ पर डल्हण टीका, वहाँ श्लोक २२ देखें।
(ख) स्नेहक्लिन्ना धातुसस्थाश्च दोषा स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीना।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्व प्राप्ताः कोष्ठ शोधनैरन्त्यशेषम् ॥
—सु० चि० ३२।२१

यह स्वेद विना पोटली बनाये भी स्वेदन द्रव्यो का पिण्ड बनाकर सुखोष्ण करके साक्षात् पीडित अगो पर किया जाता है। सकर का अर्थ सम्मिश्रण है और सम्मिश्रण अनेक द्रव्यो को मिलाकर होता है। द्रव्यो को पिण्डाकार बनाकर स्वेदन किया आता है, इसलिए इसे पिण्ड स्वेद भी कहते हैं। इससे शरीर मे साक्षात् ताप पहुँचाया जाता है, अत इसे ताप स्वेद भी कहते हैं।

संकर स्वेद के दो प्रकार—१ स्निग्ध और २ रुक्ष।

१ **स्निग्धसंकर स्वेद**—तिल, माष, चावल आदि को खीर, मासरस तथा अम्लवर्ग के द्रव्यों के साथ पकाकर पोटली बनाकर, फिर उष्ण पायस, दूध या मासरस मे पुन -पुन डुवाकर स्वेदन करना स्निग्धसकर स्वेद कहलाता है। इसका प्रयोग वातव्याधि या वात-प्रधान रोगो मे होता है।

२ **रूक्षसंकर स्वेद**—गाय-घोडा-गधा आदि के सूखे पुरीष, लोहे के पिण्ड, धूल, वालू आदि की पोटली से गरम-गरम स्वेदन करना रूक्षसकर स्वेद कहलाता है।

वालुका स्वेद—यह भी सकर स्वेद है। यह रुक्षसकर स्वेद है, जो अत्यन्त आसान और विना पैसे का है, फिर भी अति गुणकारक होता है। आमदोष, ऊरुस्तम्भ, मेदोरोग, ग्रन्थि, कफज विकार और सशोथ शूल मे इसका प्रयोग होता है।

प्रयोग-विधि—स्वच्छ नदी की वालू लेना चाहिए, जिसमे ककड-पत्थर न हो, न ज्यादे बडा दाना हो, न तो अति सूक्ष्म दाना हो। स्वेद्य अगो पर प्रयोगयोग्य अनेक आकार की छोटी-वडी कपडे की थैली वनवा ले। वालू को लोहे या मिट्टी की कडाही मे मन्द आँच पर धीरे-धीरे गरम करे, जिससे देर तक वह गरम ही रहे। फिर गरम वालू को थैली मे भरकर मुख बाँधकर सधे हाथो द्वारा पीडित अग का स्वेदन करे। सन्धियो पर वर्तुलाकार और लम्बे अगो पर दीर्घाकार स्वेदन करे। १०—५ मिनट पर पोटली वदल कर गरम ले लें। पोटली न ज्यादे गरम हो, न ज्यादे ठण्डी। १-१ घण्टे सवेरे-शाम स्वेदन करे, वाद मे चादर ओढाकर सुला दे।

(२) प्रस्तर स्वेद

(Hot-bed Sudation)

परिचय—पुरुष के सोने योग्य एक पत्थर की पटिया को २ फुट ऊँचे चार पायो पर रखकर चौकीनुमा बनवा दे। उस पर जौ, गेहूँ, उडद, मूँग आदि के उष्ण कल्क को फैलाकर रोगी को सुलाकर चादर ओढाकर स्वेदन करना **प्रस्तर स्वेद** कहलाता है। **विधान**—६ फुट लम्बी तथा २½ फुट चौडी उक्त पत्थर की चौकी पर शूकधान्य (चावल, गेहूँ, जव आदि), शमीधान्य (उडद, मूग, चना, कुलथी आदि), क्षुद्र-धान्य (टगुनी, चीना, साँवा, कोदो), इनकी खिचडी अथवा वेशवार (निरस्थि-मास), खीर या तिल, माष और चावल की खिचडी अथवा उक्त द्रव्यो को पकाकर गरम-गरम मोटी रोटी की तरह फैला दे, फिर उसके ऊपर रेशम या ऊन की चादर या सफेद या लाल रेड़ की पत्ती या मदार की पत्ती विछाकर उस पर वातनाशक

तैल से अभ्यङ्ग किये हुए रोगी को सुलाकर ऊपर से रेशम या ऊन की चादर या रेड या मदार की पत्ती से रोगी को ठीक से ढँक दे। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर का एक साथ स्वेदन हो जाता है।

उपयोग—पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, श्रोणिशूल, कटिशूल, गृध्रसी और खल्ली रोग मे यह प्रस्तर स्वेद लाभप्रद होता है।

प्रस्तर स्वेद-प्रयोग

प्रधान वस्तु—पत्थर की पुरुष के सोने योग्य एक चौकी जो लगभग ६ फुट लम्बी, २½ फुट चौडी तथा २ फुट ऊँची हो।

सहायक द्रव्य—शूकधान्य, शमीधान्य, क्षुद्रधान्य, वेशवार, खीर एव खिचडी—ये सभी मिलाकर लगभग ५ किलोग्राम हो।

उपकरण—चावल, गेहूँ, यव, उडद, मूँग, चना, टगुनी, चीना, सावाँ, कोदो, अस्थिरहित मास तथा पायस।

(३) नाड़ी स्वेद
(Steam Kettle Sudation)

क्वाथ के द्रव्य—१. सहिजन, २ एरण्ड, ३ मदार, ४. श्वेत पुनर्नवा, ५ रक्त पुनर्नवा, ६ यव, ७ तिल, ८ कुलथी, ९. उडद और १०. वेर—इन द्रव्यो के मूल-फल-पत्र-शुङ्ग (दूशा) तथा उष्ण स्वभाववाले हिरण आदि पशुओ तथा पक्षियो के शिर, पैर आदि का मास, रोगानुसार अम्ल-लवण-तैल-मूत्र-दूध आदि द्रव पदार्थ।

घट—क्वाथ निर्माण के लिए एक ढक्कनदार पात्र ले, जिससे वाष्प बाहर न निकले। उस पात्र के पार्श्व मे एक छिद्र हो, जिसमे नली (नाडी) जोडी जा सके।

नाड़ी या नली—नली बनाने के लिए खोखले नरसल या सीक या बाँस की नली, करञ्जपत्र तथा मदार की पत्ती का प्रयोग करना चाहिए। सुविधा की दृष्टि से धातु का ढक्कनदार घडा लेना और धातु की नली लगाना ज्यादा अच्छा है। घट मे नली लगाकर दृढता से बन्द कर दे। नली की लम्बाई एक व्याम (लगभग ६ फुट) हो। वाष्प के वेग को रोकने के लिए नली तीन स्थानो मे मुडी होनी चाहिए। नली की लम्बाई स्वेद्य शरीर के अनुसार ३ फुट भी हो सकती है। नली का पात्र मे जोडनेवाला छोर चौतरफा १½ फुट चौडा और दूसरा छोर ९ इञ्च चौडा होना चाहिए। नली का आकार हाथी के सूड की तरह उतार-चढाववाला हो, उसमे कही भी छिद्र नही होना चाहिए।

विधि—उपर्युक्त क्वाथ द्रव्य तथा जल उचित अनुपात मे घडे मे डालकर ढक्कन लगाकर क्वाथ करे और जब भाप निकलने लगे, तो नली से पीडित अङ्ग का स्वेदन करे। ध्यान रहे कि स्वेदन के पूर्व स्वेद्य व्यक्ति का महानारायण तैल से अभ्यङ्ग करा लेना चाहिए।

वक्तव्य—यह स्वेद प्रतिदिन आधे से एक घण्टे तक करना चाहिए और यह क्रम १ से ३ सप्ताह तक चलाये।

प्रयोग—यह स्वेद गृध्रसी, पृष्ठशूल, कटिशूल, पक्षाघात, अंगमर्द, संकोच और मांसगत वातविकार में लाभकारक होता है।

नाडी स्वेद-प्रयोग—

प्रधान वस्तु—एक ढक्कनदार दृढ घटक, नाडी या नली ६ फुट अथवा ३ फुट लम्बी।

सहायक द्रव्य—स्वेदोपग दश द्रव्य, मांस, अम्ल-लवण-तैल-मूत्र एवं दुग्ध—आवश्यकतानुसार।

उपकरण—सहिजन, एरण्ड, मदार, दोनो पुनर्नवा, यव, तिल, कुलथी, उडद, बेर तथा महानारायण तैल।

(४) परिषेक स्वेद[1]

(Affusion Sudation)

परिचय—वातघ्न या वातकफघ्न औषधो के क्वाथ से शरीर पर धारा गिराना 'परिषेक' कहलाता है।

विधि—रोगी के रोग के अनुरूप किसी औषध-सिद्ध तैल से शरीर का अभ्यङ्ग कराकर रोगी को हलकी चादर ओढा दें। फिर पूर्व के नाडी स्वेद में कथित द्रव्यों के मूल-पत्र आदि का क्वाथ बनाकर उसे किसी छोटे घड़े में या फूल सींचनेवाले हजारा में या किसी प्रणाली में भरकर फव्वारे की तरह शरीर पर गिराकर स्वेदन करे। यह परिषेक स्वेद है।

वक्तव्य—१ क्वाथ के स्थान में तैल, घृत, दुग्ध आदि की सुखोष्ण धारा से भी स्वेदन किया जाता है।

२ यह स्वेदन शरीर से १२ अंगुल ऊपर से द्रव गिराकर करे।

३ इसे आधे से एक घण्टे तक करना चाहिए।

४ गुल्म, आनाह, तूनी, प्रतितूनी, शूल, उदावर्त, अष्ठीला, प्लीहा, आध्मान आदि में इससे एकाङ्ग स्वेदन करना चाहिए।

पिषिञ्चल

(स्वेद की एक केरलीय पद्धति)

इस स्वेदन की प्रक्रिया में तैलधारा गिराकर शरीर का स्वेदन किया जाता है। यह धाराकल्प में समाविष्ट है। इसमें तैल-द्रोणी में रोगी को बिठाकर तैलधारा से स्वेदन किया जाता है। कफज रोगो में सहचरादि तैल, पित्त-प्रधान रोगो में चन्दन-बलालाक्षादि तैल और वात-प्रधान रोगो में महानारायण तैल का प्रयोग किया जाता है।

---

१ वातिकोत्तरवातिकाना पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वार्पुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः। —च० सू० १४।४४

वक्तव्य—पिपिच्चल स्वस्थ और रोगी दोनो मे किया जाता है। स्वस्थ को प्रतिदिन या प्रति तीसरे दिन रोगी को सम्यक् स्वेद के लक्षण उत्पन्न होने तक करे। यह ७, १४, २२ या २८ दिन तक किया जाता है।

(५) अवगाह स्वेद

(Bath Sudation)

परिचय—अवगाह का अर्थ 'मज्जन करना' होता है। जैसे—छिछले जल मे डूबने का डर नही रहता और कोई भी व्यक्ति खूब छककर मल-मल कर नहाता है, कुछ उसी तरह का यह स्वेद भी है।

विधि—दशमूल क्वाथ, निर्गुण्डी क्वाथ, बलादि क्वाथ या एरण्डमूल सिद्ध जल या वातहर द्रव्य सिद्ध तैल, घृत मासरस या उष्ण जल से भरे टब या द्रोणी या कडाहे मे अभ्यङ्ग किये हुए रोगी को बिठाकर या सुलाकर अगो पर उष्ण जल का सिञ्चन करना अवगाह स्वेद है।

प्रयोग—अश्मरीशूल, कटिशूल, पृष्ठशूल, गृध्रसी, सन्धिवात आदि मे अवगाह स्वेद करना चाहिए। इसे आधे से एक घण्टे तक करना चाहिए।

(६) जेन्ताक स्वेद

(Sudatorium Sudation)

परिचय—एक वर्तुलाकार (गोलम्बर) कमरे के बीच चिमनी बनाकर उसमे निर्धूम अग्नि प्रज्वलित कर कमरे को गरम कर तब रोगी को प्रविष्ट कराकर स्वेदन कराया जाता है। उस कमरे को कूटागार तथा स्वेदन को **जेन्ताक स्वेद** कहते है।

कूटागार—कूटागार बनाने के लिए पहले भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। आबादी के पूरब या उत्तर दिशा मे, जहाँ की मिट्टी उत्तम हो, काली हो या सुनहरी हो और निकट मे बावली, पोखरा या अन्य जलाशय हो, वहाँ की भूमि मे कूटागार बनाये। जलाशय के दक्षिण या पश्चिम की ओर जहाँ उत्तम आरामदेह सीढियाँ बनी हो, भूमि समतल हो, जल से १०-१२ फुट दूर, पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जलाशयाभिमुख द्वारवाला गोल कमरा बनाये।

उस कमरे का व्यास १६ हाथ हो और ऊँचाई भी १६ हाथ हो। उस कूटागार की दीवार मिट्टी से लिपी-पोती हो। सभी दिशाओ मे दीवार मे छोटे-छोटे रोशनदान या वातायन हो। कूटागार की भीतरी दीवार से सटे १½ फुट चौडी और १½ फुट ऊँची पट्टी बनाये, जो चारो ओर हो, किन्तु दरवाजे पर न हो। यह पट्टी या चबूतरा रोगी के सोने के लिए बनायी जाती है।

अङ्गारकोष्ठक या भट्ठी—कूटागार के एकदम बीच मे एक अङ्गारकोष्ठक स्तम्भ (तन्दूर या भट्ठी) बनाये। जो डेहरी के आकार का हो, ४ हाथ व्यास का तथा ३½ हाथ ऊँचा हो। जिसकी दीवार मे वायु के प्रवेशार्थ बहुत से छिद्र हो और जिसके ऊपर ढक्कन हो। उसमे खैर, पलाश आदि की सूखी लकडी डालकर

जलायें। जब अग्नि निर्धूम हो जाग और पूरा कूटागार गरम हो जायें, तब उसमें रोगी का प्रवेश करायें।

स्वेदन-विधि—रोगी का वातहर तैल से अभ्यङ्ग कराकर चादर ओढाकर कूटागार में प्रवेश करायें और उसे उपदेश दें कि—'हे सौम्य! तुम अपने रोग की मुक्ति और अपने कल्याण के लिए इस कूटागार में प्रवेश करो। भीतर प्रविष्ट होकर दीवार से सलग्न चबूतरे पर करवट बदल-बदल कर सोना। स्वेद से मूर्च्छा होने पर भी चबूतरा मत छोडना, नही तो द्वार का पता न चलने पर अङ्गारकोष्ठक से लडकर प्राण त्याग दोगे। अत किसी भी परिस्थिति में चबूतरे को मत छोडना'।

जब यह प्रतीत हो कि सम्यक् स्वेदन हो चुका है और शरीर के अभिष्यन्द का ह्रास हो चुका है, पिच्छा और स्वेद का सम्यक् स्राव हो गया है, शरीर हल्का हो गया है, भारीपन, विबन्ध तथा स्तम्भ एव वेदना का नाश हो चुका है, तब उस चबूतरे के सहारे द्वार पर आकर बाहर निकल जाये।

बाहर निकलकर तुरत आँखों के रक्षार्थ ठंडे जल का प्रयोग नही करें। अपितु ४८ मिनट बाद जब गरमी और थकावट दूर हो जाय, तब सुखोष्ण जल से स्नान करना चाहिए।[1]

(७) अश्मघन स्वेद[2]

(Stone-bed Sudation)

पुरुष के सोने भर की लम्बी-चौडी (६ फुट लम्बी २½ फुट चौडी), मोटी, दृढ, समतल पत्थर की एक शिला लेकर बिछा दें। फिर उस पर वातनाशक देवदारु, दशमूल आदि काष्ठ रखकर जलायें, जब शिला गरम हो जाये, तब आग हटाकर उसे उष्ण जल से धो दें। पानी सुखाकर उस पर रेशमी चादर या ऊनी चादर बिछा दें। फिर अभ्यङ्ग किये हुए व्यक्ति को उस पर लिटाकर ऊपर से रेशमी चादर या ऊनी चादर या सूती चादर या कम्बल ओढायें, जो कण्ठ तक ढँका हो। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। इसका नाम **अश्मघन स्वेद** है।

वक्तव्य—यह प्रस्तर स्वेद जैसा ही है। अन्तर इतना है कि इसमें शिला पर लकडी जलाकर शिला गरम कर उसके वाष्प में स्वेदन होता है—यह **रूक्ष स्वेद** है। प्रस्तर स्वेद में धान्य आदि पकाकर शिला पर बिछाकर उस पर रोगी को सुलाकर स्वेदन कराया जाता है—यह **स्निग्ध स्वेद** होता है।

(८) कर्षू स्वेद[3]

(Trench Sudation)

कर्षू ऐसे गर्त को कहा जाता है जो भीतर में विस्तृत हो और मुख कम चौडा

१ च० सू० १४।४६।

२ च० सू० १४।४७ ४९।

३ च० सू० १४।५०-५१ "कर्षू. अभ्यन्तरविस्तीर्णः स्वल्पमुखो गर्त —चक्र.।

हो। ऐसा गर्त बनाकर उसे जलते हुए देवदारु आदि के अङ्गारो से भर दे और उसके ऊपर चारपाई बिछाकर (उस पर एरण्डपत्र, धत्तूरपत्र, मदारपत्र या सिन्दुवारपत्र फैलाकर) अभ्यक्त गात्र रोगी को लिटाकर चादर से ढँक कर स्वेदन करना **'कर्षू स्वेद'** है।

(९) कुटी स्वेद[1]

(Cabin Sudation)

एक छोटा कमरा, जो न ज्यादे चौडा हो और न ज्यादे ऊँचा हो, जो गोलाकार हो और रोशनदान या झरोखा आदि कोई छिद्र जिसमे न हो (जैसा अन्न या भूसा रखने के लिए बनाया जाता है, वैसा ही) बनवाये। दीवार मोटी हो और भीतर मे कूठ आदि उष्ण औषधो के कल्क से लिप्त हो।

उस कमरे मे एक चारपाई बिछाकर, उस पर मोटा कम्बल या मृगचर्म या रेशमी चादर या कथरी या पटसन की कालीन का विस्तर लगाकर अभ्यङ्ग किये हुए रोगी को लिटाकर उसके चारो ओर धूम रहित जलते अङ्गारो से भरी अँगीठियाँ रखकर सुखपूर्वक स्वेदन किया जाता है। यह **कुटी स्वेद** है।

वक्तव्य—यह जेन्ताक स्वेद का विलोम है। इनमे रोगी के चारो ओर अँगीठी रखकर स्वेदन होता है और जेन्ताक मे बीच मे अङ्गारकोष्ठक होता है तथा रोगी दीवार के चबूतरे पर घूम-घूमकर स्वेदित होता है।

(१०) भू स्वेद[2]

(Ground-bed Sudation)

'अश्मघन' स्वेद की जो विधि बतलायी गई है, उस विधि को भूमि पर करना **भूस्वेद** कहा जाता है।

निवात, प्रशस्त और समतल भूमि पर देवदारु आदि काष्ठ जलाकर उस पर पानी के छीटे डाल बुझा दे और राख हटाकर साफ कर कोई चादर बिछाकर रोगी को लिटा कर स्वेदन करे।

(११) कुम्भी स्वेद[3]

(Pitcher-bed Sudation)

वातनाशक औषधो के क्वाथ से आकण्ठ भरी हुई एक हण्डी का आधा या तिहाई भाग जमीन मे गाड दे। उसके ऊपर एक छोटी चारपाई या बेत की कुर्सी रखे, जिस पर कोई पतला विस्तर बिछा हो, उस पर रोगी को सुलाये या बैठाये। फिर लोहे के गोले या पत्थर के टुकडो को आग मे तपा-तपा कर डालते जाये। इनके द्वारा उठे वाष्प के द्वारा स्वेदन होना, **'कुम्भी स्वेद'** है। रोगी का वातनाशक तैल से अभ्यग कर चादर ओढाकर स्वेदन करना चाहिए।

---

१. च० सू० १४।५२-५४। २ च० सू० १४।५५। ३. च० सू० १४।५६-५८।

वक्तव्य—चारपाई या कुर्सी पर ऐसा विस्तर हो जो चारो ओर जमीन को छूती रहे, अन्यथा वाष्प फैल जायेगा और स्वेदन नही हो पायेगा।

(१२) कूप स्वेद[1]

(Pit Sudation)

कूप का अर्थ कुआँ है और उसकी समानता से इसे 'कूप स्वेद' कहा जाता है।

निवात, समतल और प्रशस्त स्थान मे, चारपाई की लम्बाई-चौडाई के अनुसार लम्बा-चौडा तथा गहराई मे लम्बाई से दूना गहरा कुआँ खोदवाये (अर्थात् ६ फुट लम्बा, २½ फुट चौडा, १२ फुट गहरा कुआँ तैयार कराये)। इसे भीतरी भाग मे अच्छी तरह लीप-पोत कर साफ बनाये। पुन उस कुएँ के अन्दर हाथी-घोडा-गाय-गदहा और ऊँट के सूखे हुए पुरीष को डालकर उसमे आग लगा दे। जब धुआँ निकलना बन्द हो जाय, तब ऊपर चारपाई बिछाकर, मोटा कम्बल या चादर का बिस्तरा लगाकर अभ्यङ्ग किये हुए रोगी को लिटाकर स्वेदन करे और रोगी के शरीर को चादर से अच्छी तरह आच्छादित कर दे। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। इसे **कूप स्वेद** कहते है।

वक्तव्य—इसके पहले कर्षू स्वेद का वर्णन किया गया, जिसमे भी गड्ढा खोदा जाता है, किन्तु इनमे निम्न अन्तर है, जैसे—

१ कर्षू के गढे का भीतरी भाग बडा होता है और ऊपर पतला होता है।

२ कर्षू मे काष्ठ की अग्नि जलती है और देर तक ताप रहता है।

३ कर्षू मे अधिक समय तक आँच रहने से उत्तम स्वेद हो जाता है।

जब कि—

१ कूप स्वेद का गर्त ऊपर अधिक खुला रहता है।

२ उसमे पशुओ का पुरीष जलता है, जो जल्द बुझ जाता है।

३. यह अल्पस्थायी एव ज्यादे उष्णता वाला स्वेद है।

४ यह रूक्ष स्वेद है।

(१३) होलाक स्वेद[2]

(Underbed Sudation)

चारपाई के नीचे रखने लायक (लगभग ५½ फु० लम्बी और २ फुट चौडी) एक सेगडी तैयार कराये, उसमे हाथी-घोडे आदि की सूखी लीद भरकर आग लगा दे। निर्धूम हो जाने पर वातनाशक तैल का अभ्यङ्ग किये हुए रोगी को चादर ओढाकर सेगडी के ऊपर बिछी चारपाई पर सुला दे। इससे सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है। इसे **होलाक स्वेद** कहते है।

---

१ च० सू० १४।५९-६०।

२ धीतीका तु पुरीषाणा यथोक्ताना प्रदीपयेत्। शयनान्त प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च ॥
सुदग्धाया विधूमाया यथोक्तामुपकल्पयेत्। स्ववच्छन्न· स्वपंस्तत्राभ्यक्त स्विद्यति ना सुखम् ॥
—च० सू० १४।६१ ६२

वक्तव्य—१ इस स्वेद को कहीं भी सुविधानुसार किया जा सकता है। २ यदि बड़ी सेगड़ी न हो, तो चारपाई के नीचे समानान्तर पर ४ सेगड़ियाँ जलाकर रखी जा सकती है।

स्वेद के ताप आदि ४ भेद[1]

सुश्रुत और वाग्भट ने ताप स्वेद, उपनाह स्वेद, ऊष्म स्वेद और द्रव स्वेद—इन चार स्वेदो का उल्लेख किया है।

(१) ताप स्वेद—

ताप स्वेद वह है, जो अग्नि के द्वारा तपाये गये वस्त्र, फाल (कपास की रूई के वस्त्र आदि) तथा हथेली से या कासे के पात्र से, कन्दुक से, कपालखर्पर से या लोहे के फाल से शरीर का स्वेदन किया जाता है।

वक्तव्य—कश्यपसहिता[2] मे चार मास के बालको को 'हस्त स्वेद' करने को कहा है। यह अत्यन्त मृदु स्वेद है। हाथो को परस्पर रगडकर भी उनसे स्वेद किया जाता है। वस्त्र स्वेद भी मृदु स्वेद है। आयु की वृद्धि के अनुसार अन्य स्वेदो का प्रयोग किया जा सकता है।

(२) उपनाह स्वेद—

जिसमे औषध-द्रव्यो के कल्क आदि को अगो पर बाँधकर स्वेदन किया जाता है, उसे 'उपनाह स्वेद' कहते हैं। सुश्रुत के अनुसार इसका प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है—

१ प्रदेह—वातनाशक द्रव्यो के मूल-पत्र आदि के कल्क मे अम्ल द्रव्य और नमक मिलाकर प्रदेह या लेप कर स्वेदन करना।

२ पिण्ड स्वेद—काकोल्यादि गण, सुरसादि गण एव एलादि गण की औषधो, तिल, सरसो आदि के कल्क के साथ, खिचडी, खीर, उत्कारिका, वेशवार (पिष्ट मास) आदि को किसी कपडे मे बाँधकर उसे तपा-तपाकर स्वेदन करना, यह भी उपनाह का एक प्रकार है।

३. बन्धन—उक्त पिण्ड स्वेद के द्रव्यो को पतले कपडे पर रखकर पीडित अगो पर सुखोष्ण पट्टी बाँधना।

वाग्भट ने वच, सुराकिट्ट, सौफ, देवदारु, धनिया, गन्धद्रव्य, रास्ना, एरण्ड, जटामसी, मास, इनमे नमक, स्नेह, छाछ, दूध, अम्ल आदि मिलाकर अगो पर रखकर चमडे के पट्टे से बाँधने को उपनाह कहा है। चमडे के अभाव मे वातहर पत्रो से, रेशम या ऊन से बाँधना बतलाया है। रात का बँधा दिन मे, दिन का बँधा रात मे खोल दे।

---

१. स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विध । तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभि ॥
—अ० हृ० सू० १७।१

२. का० सू० २३।२७। ३. सु० चि० ३२।१२ तथा अ० हृ० सू० १७।२–५।

साल्वण उपनाह स्वेद

काकोल्यादि गण, एलादि गण, सुरसादि गण या वातघ्न गण (भद्रदार्वादि) की औषधियाँ, सभी अम्ल द्रव्य (काञ्जी, दही, छाछ आदि), आनूप और औदक मास, तेल, घी, वसा और मज्जा—ये सब मिलाकर पर्याप्त मात्रा मे सेधानमक मिलाकर, गरम कर, शरीर पर लेप कर, रेशम या सूती कपडे या बिल्ली, नेवला, चूहा, हरिण, इनके चमडे से तत्तत् आकार की थैली बनाकर अग पर रखकर अच्छी तरह बाँध देना चाहिए[1]।

दोषानुसार साल्वण स्वेद

१ **पित्तानुगत वात**—काकोल्यादि या एलादि गण की औषधियाँ और वातघ्न गण की औषधियाँ, आनूप मास तथा अम्ल काञ्जी—ये चार स्नेह और सेधानमक एक मे पीसकर गरम कर बाँधना चाहिए।

२ **कफानुगत वात**—सुरसादि गण की औषधियाँ, वातघ्न गण की औषधियाँ, आनूपमास-अम्लकाञ्जी-सेधानमक—इनके कल्क का उपनाह बाँधना चाहिए।

३. **केवल वात**—वातघ्न गण द्रव्य-वेशवार-आनूपमास-अम्लकाञ्जी-सेधानमक—इनका उपनाह स्वेद करे।

वक्तव्य—१ इस साल्वण का प्रयोग गम्भीर रूप से रुग्ण वेदना और गात्रसकोच से पीडित, स्तब्धतावाले वातरोगी के लिए किया जाता है[2]।

२ इसके योग मे काकोल्यादि गण की औषधियो का कल्क और मास समभाग ले। लवण पर्याप्त और अम्ल इतना कि खट्टापन आ जाय और स्निग्धता लाने भर की मात्रा मे स्नेह डालना चाहिए[3]।

(३) ऊष्म स्वेद[4]—

ऊष्मा का अर्थ है—वाष्प। वाष्प से स्वेद करना ऊष्म स्वेद कहा जाता है। वाग्भट के अनुसार—उत्कारिका (रोटी या लप्सी), खपडा, बालू, पत्रक्वाथ, धान्यकल्क, गाय आदि के पुरीष, बालू, भूमी आदि के द्वारा स्वेद न कर गरमी पहुँचायी जाती है।

सुश्रुत ने पिण्ड स्वेद, कुम्भी स्वेद, नाडी स्वेद, अश्मघन स्वेद, कुटी स्वेद और प्रस्तर स्वेद, इन सभी विधियो से ऊष्म स्वेद करने का विधान बतलाया है।

---

१ काकोल्यादि सवातघ्न सर्वाम्लद्रव्यसयुत । सानूपौदकमासस्तु सर्वस्नेहसमन्वित. ॥
सुखोष्ण स्पष्टलवणः शाल्वणः परिकीर्तितः। —सु० चि० ४।१४–१५

२ कुञ्च्यमानं रुजार्तं वा गात्र स्तब्धमथापि वा। गाढ पट्टैर्निबध्नीयात् क्षौमकार्पासकौर्णिकै॥ —सु० चि० ४।१६–१७

३ मांसेनात्रौषध तुल्य यावताम्लेन चाम्लता।
तावन्तश्च चतु स्नेहा स्निग्धत्व च यथा भवेत् ॥ —सु० चि० ४।१५ पर डल्हण

४. अ० हृ० सू० १७।२४–२५ तथा सु० चि० ३२।

(४) द्रव स्वेद[1]—

द्रव पदार्थ के द्वारा स्वेदन किये जाने को द्रव स्वेद कहते हैं।

द्रवो मे वातहरक्वाथ, दूध, मासरस, यूप, तैल, घृत, धान्याम्ल, वसा और गोमूत्र का उपयोग किया जाता है। इस स्वेद मे परिषेक और अवगाह—ये दो प्रकार है। परिषेक मे इन द्रवो की सुखोष्ण धारा गिरायी जाती है और अवगाह मे इन द्रवो से भरे टब मे या कटाह मे मज्जन किया जाता है।

	सुश्रुतोक्त स्वेद	चरकोक्त स्वेद	
स्वेद	ताप	जेन्ताक, कर्षू, कुटी, कूप, होलाक	५
	ऊष्म	सकर, प्रस्तर, अश्मघन, नाडी, कुम्भ, भू	६
	उपनाह		
	द्रव—परिषेक, अवगाह } २		

दश निरग्नि[2] स्वेद

(Ten Non-thermal Sudation)

१ व्यायाम, २. उष्णगृह, ३ मोटा ओढना, ४ भूख, ५ अति मद्यपान, ६ भय, ७ क्रोध, ८ उपनाह (पट्टी), ९ युद्ध तथा १० आतप—ये दश विना अग्नि के स्वेदन है।

१ **व्यायाम**[3]—शरीर को थका देने वाला श्रम व्यायाम कहलाता है। ललाट पर पसीना आने तक व्यायाम करना चाहिए। मोटापा[4] दूर करने के लिए व्यायाम सर्वोत्तम उपचार है।

२ **उष्णसदन**[5]—गरम मकान मे रहने से स्वेदन होता है। कमरे की दीवाल मोटी हो और एक प्रवेशद्वार हो तथा कोई झरोखा न हो।

---

१ अ० हृ० सू० १७।७–११ तथा सु० चि० ३३।१३।

२. व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण क्षुधा। बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपा ॥ ——च० सू० १४।६४

३. शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। —सु० चि० २४।३६

४. न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्। —सु० चि० २४।३८

५. उष्णसदनम् इत्यग्निसन्तापव्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया यद् गृहं स्वेदयति, तद् बोद्धव्यम्। ——च० सू० १४।६४ पर चक्रपाणि टीका।

३ **गुरुप्रावरण**—गरम रजाई या मोटा कम्बल ओढकर देह ढँककर सोने से स्वेदन हो जाता है।

४ **भूख**—क्षुधा लगने पर भोजन न करने से स्वेदन होता है।

५ **बहुपान**—अधिक मात्रा मे शराब पीने से स्वेदन होता है।

६ **भय**—भय से स्वेदग्रन्थियाँ प्रभावित होती है, जिससे पसीना आता है। पारासिम्पैथेटिक नर्व की उत्तेजना से स्वेद–निर्गमन और मल-मूत्र प्रवर्तन होता है।

७ **क्रोध**—क्रोध से पित्त का प्रकोप होकर स्वेदन होता है।

८ **उपनाह**—अग्नि के प्रत्यक्ष सम्पर्क के विना औषध के शरीर पर लेप करने से स्वेदन होता है। जैसे—

वेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उडद, अतसी का तेल, मदनफल, वच, सौंफ, कूठ, जव का आटा काञ्जी मे मिलाकर प्रदेह करने से वात रोग नष्ट होता है[1]।

९ **आहव**—मेल के साथ कुस्ती लडने से स्वेदन होता है।

१० **आतप**—सूर्य-किरणो से स्वेदन करना आतप स्वेद है।

---

१ कोल कुलत्थाः सुरदारुरास्नामाषातसीतैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामथिना प्रदेहः॥ —च० सू० ३।१७

चतुर्थ अध्याय

वमन

परिचय और परिभाषा

दोषो को ऊर्ध्वमार्ग अथात् मुखमार्ग से हरण करना[1] (वाहर निकालना) **वमन** है । वमन प्रधाननया कफ दोष की शोधन[2] चिकित्सा है ।

'दोषो का हरण' कहने से यहाँ सामान्यतया सभी प्रकार के मलो का निकालना, यह अर्थ समझना चाहिए ।

आचार्य चरक ने वमन और विरेचन इन दोनो के लिए विरेचन सज्ञा का प्रयोग किया है तथा दोष के स्थान मे 'मल' शब्द का प्रयोग किया है[3] । एवञ्च शरीर के स्रोतो मे चिपकने वाले अलग से उत्पन्न तथा वाहर की ओर जाने वाले परिपक्व धातु, वात-पित्त-कफ एव अन्य भाव, जो शरीर मे रहकर शरीर के लिए उपघातक होते है, उनको मल[4] कहा जाता है, इनका वमन मे निर्हरण होता है । इस प्रकार—

'ऊर्ध्वमार्ग अर्थात् मुखमार्ग से प्रकुपित वातादि दोष और शरीर मे बाधा करनेवाले मलो का निकालना वमन कहा जाता है' । कफ की चिकित्सा के लिए वमन सर्वश्रेष्ठ उपाय है । कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषो को निकटतम मार्ग से निकालने के सिद्धान्त के अनुसार 'चयपूर्वक ऊपर आये हुए दोपो का वमन द्वारा निर्हरण किया जाता है' ।

भावप्रकाश और शार्ङ्गधर के अनुसार वमन—'अपक्व (दुष्ट) पित्त और कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख से वाहर निकालने की क्रिया को वमन जानना चाहिए, जैसे—मदनफल द्वारा वमन ।'[5]

स्मरणीय है कि रुग्ण के अतिरिक्त स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी वमन कराना चाहिए ।[6]

---

१ तत्र दोषहरणमूर्ध्वभाग वमनसञ्ज्ञकम् । —च० क० १।४

२ स्थानाद् बहिर्नयेदूर्ध्वमधो वा मलसञ्चयम् । देहसशोधन तत्स्याद् देवदालीफल यथा ॥ —शा० प्र० ख० ४।८५

३ उभय वा शरीरमलविरेचनात् विरेचनसञ्ज्ञां लभते । —च० क० १।४

४. तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकरा स्यु । तद्यथा शरीरच्छिद्रेषूपदेहा. पृथग् जन्मानो बहिर्मुखा , परिपक्वाश्च धातव. प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपि शरीरे तिष्ठन्तो भावा. शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्वांस्तान् मले सञ्चक्ष्महे । —च० शा० ६।१७

५ अपक्व पित्तश्लेष्माण बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत् । वमन तद्धि विज्ञेय मदनस्य फल यथा ॥ —शा० प्र० ख० ४।८४

६ हैमन्तिक दोपचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मजमभ्रकाले ।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ —च० शा० २।४५

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ चरकसंहिता—सूत्र० अ० १५, १६, सि० १, २, ६।
२. सुश्रुतसंहिता—चि० अ० ३३, ३९।
३. अष्टाङ्गहृदय—सूत्र० अ० १८।
४. अष्टाङ्गसंग्रह—सूत्र २७।

वमन के योग्य रोग और रोगी

आचार्य चरक,[1] सुश्रुत[2] और वाग्भट[3] ने कफनाशक चिकित्सा-प्रकारों में वमन को सर्वप्रधान बतलाया है, क्योंकि वमन-पदार्थ आमाशय में जाकर अपने प्रभाव से वक्षःस्थल में स्थित विकृत कफ को ऊपर फेंक देता है और मुख से बाहर निकाल देता है तथा उसके नष्ट हो जाने से शरीरान्तर्गत सभी कफज रोग नष्ट हो जाते हैं। जैसे—किसी खेत का बन्धा तोड़ देने से उसका पानी जब बाहर निकल जाता है, तो फसल यथासमय सूख जाती है।

सामान्यतया वमन कराने के दो अवसर होते हैं—१ आमाशय-शोधनार्थ तथा २. कफप्रधान रोग का होना। किन्तु वमन की सीमा विस्तृत और बहुत से ऐसे रोग हैं, जिनमें कफानुबन्ध की सम्भावना होती है और उस कफ के मूल स्थान आमाशय से कफ का निरसन करने के लिए वमन किया जाता है।

वाम्य रोग
(संहिताओं के अनुसार)

क्रम	वाम्य	चरक[4]	सुश्रुत[5]	वाग्भट[6]	क्रम	वाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	पीनस	+	+	+	११	मन्दाग्नि	+	+	+
२	कुष्ठ	+	—	+	१२	विरुद्धाहार	+	+	+
३	नवज्वर	+	+	+	१३	अजीर्ण	+	--	+
४	राजयक्ष्मा	+	+	+	१४.	विसूचिका	+	—	+
५	काम	+	+	+	१५	अलसक	+	+	+
६	श्वास	+	+	+	१६	विषपीत	+	+	+
७	मलग्रह	+	—	—	१७	दष्ट, दिग्धविद्ध	+	—	+
८	श्लीपद	+	+	+	१८	अधोग रक्तपित्त	+	—	+
९	गलगण्ड	+	—	+	१९	मूत्रप्रसेक	+	+	+
१०	प्रमेह	+	—	+	२०	दुर्नाम (अर्श)	+	—	—

१. च० सू० २०।२३। २ सु० चि० ३३।१८। ३ अ० हृ० सू० १८।
४ शेषास्तु वम्या विशेषतस्तु श्लेष्मव्याधयो विशेषेण रोगाध्यायोक्ताश्च। —च० सि० २।१०
५ वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोष · अन्ये च कफव्याधिपरीता इति। —सु० चि० ३३।१८
६. विशेषेण तु वामयेत्। नवज्वरातिसाराधःपित्तासृग्···इत्यादि। —अ० हृ० सू० १८

क्रम	वाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
२१	हृल्लास	+	+	+
२२	अरुचि	+	+	+
२३	अविपाक	+	—	+
२४.	अपची	+	—	+
२५	ग्रन्थि	—	—	+
२६	अपस्मार	+	+	+
२७	उन्माद	+	+	+
२८.	अतिसार	+	+	+
२९	शोफ	+	—	—
३०	पाण्डु	+	—	—
३१	मुखपाक	+	+	—
३२	स्तन्यदुष्टि	+	+	+
३३	अर्बुद	—	—	+
३४	विदारिका	—	+	—
३५	मेदोरोग	—	+	+
३६	हृद्रोग	—	+	—
३७	चित्तविभ्रम	—	+	—
३८	विसर्प	—	+	+
३९	विद्रधि	—	+	—
४०	पूतिनाश	—	+	—
४१	कण्ठपाक	—	+	—
४२	कर्णस्राव	—	+	—
४३	अधिजिह्विका	—	+	—
४४	गलशुण्डिका	—	+	—
४५	कफज रोग	+	+	+

अवाम्य रोग

क्रम	अवाम्य	चरक[1]	सुश्रुत[2]	वाग्भट[3]
१	क्षतक्षीण	+	+	+
२	अतिस्थूल	+	+	+
३	अतिकृश	+	+	+
४	बाल	+	+	+
५	वृद्ध	+	+	+
६	दुर्बल	+	+	+
७	श्रान्त	+	+	+
८	पिपासित	+	+	+
९	क्षुधित	+	+	+
१०	कर्महत	+	—	—
११	भारहत	+	—	—
१२	अध्वहत	+	—	—
१३	उपवासित	+	—	—
१४	मैथुन-प्रसक्त	+	—	—
१५	अध्ययन-प्रसक्त	+	—	—
१६	व्यायाम-प्रसक्त	+	—	—
१७	चिन्ता-प्रसक्त	+	—	—
१८	क्षाम	+	—	—
१९	गर्भिणी	+	+	+
२०	सुकुमार	+	—	—
२१	संवृत्त कोष्ठ	+	+	—
२२	कृमिकोष्ठ	—	+	+
२३	दुश्छर्दन	+	+	+
२४.	ऊर्ध्व रक्तपित्त	+	+	+
२५	प्रसक्त छर्दि	+	+	+
२६	ऊर्ध्ववात	+	+	+
२७	आस्थापित	+	+	+
२८	अनुवासित	+	+	+
२९	हृद्रोग	+	—	+
३०	उदावर्त	+	+	+
३१	मूत्राघात	+	+	+
३२	प्लीहा-दोष	+	—	+
३३	गुल्म	+	+	+
३४	उदर	+	+	+

१ च० सि० २।८। २ सु० चि० ३३।१४-१५। ३ अ० हृ० सू० १८।३-६।

क्रम	अवाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	क्रम	अवाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
३५	अष्ठीला	+	—	+	४१	नित्यदुःखी	—	—	—
३६.	स्वरोपघात	+	+	+	४२	अर्श	—	—	+
३७	तिमिर	+	+	+	४३	भ्रम	—	—	+
३८	शख-शिर शूल	+	—	—	४४	पार्श्वरुक्	—	—	+
३९	कर्णशूल	+	—	—	४५.	वातव्याधि	—	+	+
४०	अक्षिशूल	+	—	—					

वक्तव्य—अवाम्य परिस्थिति मे भी यदि आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो जाये, तो वमन कराना चाहिए। इसके लिए—

१ चिकित्सक को चाहिए कि वह शास्त्रो मे लिखे निर्देशो का अन्धानुकरण[1] न करे, अपितु प्रत्येक रोग मे रोग, देश, बल, काल आदि का विचार कर, स्वय यह निर्णय करे कि वर्तमान रोग मे कौन-सा उपचार करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र मे जो कर्म निषिद्ध है, कदाचित् उसके करने की उपयोगिता होती है और जो कर्म विहित है, वह हानिकारक हो सकता है। जैसे—

२ यदि वमन के अयोग्य कहे गये रोगी को अजीर्ण हो, विषजन्य पीडा हो और कफ अत्यन्त प्रकुपित हो जाये, तो उसे वमन दिया जा सकता है[2]।

३ इसी प्रकार छर्दि, हृद्रोग और गुल्म मे वमन का निषेध होते हुए भी अवस्थानुसार किया जाता है[3]।

४ वातज गुल्म मे कफ वृद्ध होने पर अरुचि, तन्द्रा, गौरव, हृल्लास आदि लक्षण मिलने पर वमन कराना चाहिए[4]।

५ निम्नलिखित रोगियो को वमन कराना घातक हो सकता है। अत इन्हे वमन न करायें। जैसे—

हृदयरोग, उदावर्त, क्षतक्षीण, नवृतकोष्ठ, सुकुमार, ऊर्ध्ववात, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, गर्भिणी, बाल और वृद्ध एव भूखे-प्यासे तथा थके एव दुर्बल व्यक्ति सर्वथा अवाम्य है।

वमन की उपयोगिता और फलश्रुति

१ वमन आमाशय और कफ पर श्रेष्ठ प्रभावकारी एक शोधन-चिकित्सा है।

---

१ न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुध.। स्वयमप्यत्र भिषजा तर्कणीय यथामति ॥
उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालबल प्रति। यस्या कार्यमकार्यं स्यात् कर्मकार्यं च वर्जितम् ॥
—च० सि० २।२५-२६

२ एतेऽप्यजीर्णव्यथिना वाम्या ये च विषातुरा। अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना ॥
—सु० चि० ३३।१७

३. छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमन स्वे चिकित्सिते।
अवस्था प्राप्य निर्दिष्ट कुष्ठिना वस्तिकर्म च।
तस्मात् सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वय धिया ॥ —च० सि० २।२७-२८

४. वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाग्निमरुचि यदि। हृल्लास गौरव तन्द्रा जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥
—च० चि० ५।२९

वामक द्रव्य आमाशय मे पहुँचकर अपने तात्कालिक प्रभाव से सम्पूर्ण विकृत कफ को बाहर निकालकर शोधन-कार्य करते है। आमाशय कफ का प्रमुख स्थान है और वहाँ से कफ का शोधन कर देने से अन्य स्थानो मे फैले कफज विकारो का भी शमन हो जाता है[1]।

२ वमन अजीर्ण, विरुद्धाहार, विषपीत, अलसक, विसूचिका आदि मे सद्य लाभकर प्रक्रिया है, जिसके प्रयोग से रोगी को प्राण-सङ्कट की घडी मे बचाया जा सकता है।

३ कोष्ठगत दोष अथवा रस-रक्तादि धातुओ मे व्याप्त दोष तथा स्रोतो मे विलीन दोष एव शाखा मे और अस्थियो मे स्थित दोष स्नेहन द्वारा आर्द्र किये जाकर और फिर स्वेदो द्वारा द्रव किये जाकर कोष्ठ एव महास्रोत मे पहुँचा दिये जाते है, तदनन्तर वमन कराकर सम्यक् प्रकार से बाहर निकाल दिये जाते है। इस प्रकार शरीर का शोधन हो जाने से शरीर के जिस किसी भाग मे स्थित कफज विकार शान्त हो जाते है[2]।

४ वमन से केवल आमाशय का ही शोधन नही होता, अपितु सम्पूर्ण शरीर का शोधन होता है। वमन के पूर्व शरीर का स्नेहन-स्वेदन करने से शरीर मे क्लेद का आधिक्य होता है और इस बढे हुए क्लेद मे दोष घुलकर आमाशय मे आ जाते है[3]। फिर जब वमन-द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है, तो वे अपने उष्ण-तीक्ष्ण आदि गुणो के प्रभाव से तथा अणु-प्रवण भाव से आमाशयस्थ दोषो को बाहर निकाल देते है।

५ वामक द्रव्य उत्क्लेश[4] उत्पन्न कर दोषो को चलायमान कर देते है, जिससे लालास्राव, स्वेदप्रवृत्ति, श्वासवहस्रोतो मे कफ का स्राव तथा अन्ननलिका मे कफस्राव बढ जाता है। नाडी की गति तीव्र होती है और श्वास की गति अनियमित होती है।

वमन के समय आमाशय का ऊर्ध्व (हार्दिक) द्वार खुल जाता है और अधोद्वार बन्द होकर जोरदार सकोच-विकास की गति करता है। उदर की पेशियो की और महाप्राचीरा पेशी की सकोचन गति प्रबल होकर आमाशय के पदार्थों को

१. तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गता श्लेष्मविकारा॰ प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा--भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति।

—च० सू० २०।१९

२ स्नेहक्लिन्ना कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसस्था।
दोषा॰ स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठ नीता सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते॥

—अ० हृ० सू० १७।२९

३ वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मला कोष्ठ यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥ —च० सू० २८।३३

४. (क) आमाशयोत्क्लेशकृता च मर्म प्रपीडयश्छर्दिमुदीरयेत्तु। (वातज छर्दि)
(ख) प्रपीड्य मर्मोर्ध्व । (पित्तज छर्दि)
(ग) उर शिरो मर्म रसायनीश्च (कफज छर्दि) —च० चि० २०।९, १०, १२

ऊपर की ओर फेंक देती है। इस प्रकार कफ के निकल जाने से कफज विकार शान्त हो जाते हैं।

६ वमन को प्रवृत्त करने और शीघ्रतया वमन-कर्म सम्पादित करने के लिए जिंक सल्फेट, फिटकरी, इमेटीन, वाई कार्बोनेट और बनारसी राई का घोल तथा नमक मिला सुखोष्ण जल पिलाना हितकर होता है।

वारम्वार गरम जल पिलाना, मुलहठी या पीपर का क्वाथ पिलाना या लवण-जल पिलाना वमन-कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराते हैं। इनके प्रयोग से आसानी से कफ द्रवित होकर निकल जाता है और कफज विकारो का कष्ट दूर होता है।

७ वमन शरीर के समस्त सयन्त्र और तन्त्र को अपनी हलचल से प्रभावित करता है, मर्मस्थानो को सम्पीडित कर झकझोर देता है। सम्पूर्ण शरीर को खुराक देनेवाला आमाशय जब क्षुभित होता है, तो वह सागर की कल्लोल करती ऊर्मियो की तरह समस्त शरीर को आलोडित कर देता है। वमन की प्रक्रिया से शरीर के धात्वग्नि व्यापार (Metabolism) मे बडा व्यापक परिवर्तन होता है।

इस प्रकार वमन सम्पूर्ण काया को आन्दोलित कर अगो और शारीरिक यन्त्रो मे नवीन कार्यक्षमता, प्रेरणा और स्फूर्ति देता है।

वमनकर्म की फलश्रुति

जो व्यक्ति विधि-विधानपूर्वक वमन-कर्म करता है, उसे कास (खासी) स्रोतो मे मलवृद्धि, स्वरभेद, निद्राधिक्य, तन्द्रा, मुख की दुर्गन्धि, विषजन्य उपद्रव, मुख मे लार टपकना, कफस्राव और ग्रहणी-विकार—ये रोग नही होते है।

जिस प्रकार वृक्ष के कट जाने पर उसके फूल, फल, प्ररोह (जटा) आदि का सहसा विनाश हो जाता है, उसी प्रकार वमन-कर्म द्वारा कफ का हरण हो जाने पर उससे होनेवाले रोग शान्त हो जाते हैं[1]।

वमन द्रव्यो के गुण[2] और कर्म

वमनकारक द्रव्यो मे निम्नलिखित गुण होते है— १ उष्ण, २ तीक्ष्ण, ३ सूक्ष्म, ४ व्यवायी, ५ विकाशी और ६ ऊर्ध्वप्रवृत्ति।

१ उष्ण—वामक द्रव्य अपने उष्ण गुण से दोषो का विष्यन्दन[3] (पकाकर गलाने का कार्य) करते है, जिससे दोष कोष्ठ मे (आमाशय एव महास्रोत) मे चले जाते हैं।

---

१ कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमत कदाचित्॥
छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति॥ —सु० चि० ३३।१२-१३

२. तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुप्रविश्य स्थूलाणु-स्रोतोभ्य इत्यादि। —च० क० १।५।

३. आग्नेयत्वात् विष्यन्दयन्ति। —च० क० १।५।

२ **तीक्ष्ण**—यह आग्नेय गुण है, जिससे दाह, पाक और स्राव होता है। वामक द्रव्य अपने तीक्ष्ण गुण से दोषो का पाचन और छेदन कर उन्हे अपने स्थान से स्रवित कराते है। तीक्ष्णता मे शीघ्रकारिता होती है[1]।

३ **सूक्ष्म**—यह आकाशीय, वायव्य और तैजस गुण है। सूक्ष्म गुणवाले द्रव्य अणु-प्रवण[2] भाव से दोषो को कोष्ठ मे लाते है। अणुत्व सूक्ष्मतम मार्गों मे प्रवेश-योग्यता है और कोष्ठाभिगमनप्रवृत्ति **प्रवणता** है। यह गुण पाचन, विष्यन्दन और कोष्ठ की ओर गमनशील बनाता है।

४ **व्यवायी**[3]—इस गुण के होने से वामक द्रव्य अपने पाक के पहले ही उष्ण, तीक्ष्ण आदि का कार्य शुरू करा देते है।

५. **विकाशी**[4]—वामक द्रव्य इस गुण से धातुओ मे श्लिष्ट दोषो को पृथक् करने मे समर्थ होते हैं।

६ **ऊर्ध्वभाग-प्रवृत्ति**—वामक द्रव्य वायु तथा अग्नि महाभूत-प्रधान होते हैं, इसलिए ये ऊर्ध्वभाग की ओर प्रवृत्ति करानेवाले होते है।

चक्रपाणि का कथन है कि अग्नि-वायु भूतभूयिष्ठ होना यह वमन मे कारणता नही है, अपितु यह उस द्रव्य का प्रभाव है कि वह द्रव्य ऊर्ध्वभागहर होता है और प्रभाव अचिन्त्य होता है।

वमनकारक द्रव्य

चरक और सुश्रुत ने मदनफल[5] को श्रेष्ठ वामक द्रव्य कहा है।

मदनफल—

गुण	**रस**	**वीर्य**	**विपाक**	**प्रभाव**	**दोष**
लघु	मधुर	उष्ण	कटु	वमन	कफ +
रूक्ष	तिक्त				पित्त
	कटु				शोधन
	कषाय				

प्रधानकर्म— वमनकारक और वातानुलोमक।

मदनफल-योग—मदनफल ४ भाग, वच २ भाग और सेंधानमक १ भाग लेकर कूट-पीसकर चूर्ण तैयार करे।

---

१ शीघ्रकारित्व तीक्ष्णत्वम्। —अ० द०।

२ प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्, अणुत्व च अणुमार्गसञ्चारित्वम्। —च० क० १।५ पर चक्रपाणि-टीका

३ पूर्वं व्याप्याखिल कार्यं तत पाक च गच्छति।
व्यवायि तद्यथा भङ्गा ••॥ —शा० पू० ख० ४।१९।

४ सन्धिबन्धास्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवौ॥ —शा० पू० ख० ४।२०।

५. (क) वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनपायित्वात्। —च० क० १।१३
(ख) वमनद्रव्याणां फलादीना मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति। —सु०

मात्रा—८-१० ग्राम की मात्रा द्विगुण मधु के साथ।

चरकसंहिता में वामक द्रव्य

१ मूलिनी द्रव्य[1]—इनके मूल का प्रयोग किया जाता है। ये तीन हैं—१ वच, २ शणपुष्पी और ३ कड़वी कुन्दरू।

२ फलिनी द्रव्य[2]—इनके फल का प्रयोग होता है। ये छह हैं—१ पीले फूल का कड़ू तेनुआ, २ कड़वी तरोई, ३ देवदाली, ४ कटुतुम्बी, ५ कड़वा खीरा और ६ इन्द्रायण।

३ लवण[3]—ये पांच प्रकार के होते हैं और सभी वमन कराते हैं—१ काला-नमक, २ सेंधानमक, ३ विड्नमक, ४ औद्भिदलवण और ५ सामुद्र।

[4]वमनोपग द्रव्य

दस द्रव्य वमन-कर्म में सहायक होते हैं—१ मुलहठी, २ लाल कचनार, ३ श्वेत कचनार, ४ कदम्ब, ५ हिज्जल, ६ कड़वी कुन्दरू, ७ शणपुष्पी, ८ मदार, ९ अपामार्ग और १० मधु।

[5]क्षीरी द्रव्य

७ पिप्पली, ८. करञ्ज, ९. चक्रमर्द, १०. कोविदार, ११ कर्बुदार, १२. निम्ब, १३ अश्वगन्धा, १४. विदुल, १५. बन्धुजीवक, १६ श्वेतवचा, १७ शखपुष्पी, १८ बिम्बी, १९ इन्द्रवारुणी और २०. चित्रा।

वाग्भट-कथित वामक द्रव्य[1]

१ मदनफल, २ मधुक, ३. कडवी तुम्बी, ४. निम्ब, ५ बिम्बी, ६ इन्द्रायण, ७. त्रपुष, ८ कुटज, ९ मूर्वा, १०. देवदाली, ११ विडग, १२ विदुल, १३ चित्रक, १४. चित्रा, १५. कोशवती, १६ करञ्ज, १७ पीपर, १८ लवण, १९ वच, २० एला और २१ सर्षप।

वमन-द्रव्यों की कल्पना

चरक ने वमन-द्रव्यो का प्रयोग अनेक रूपो मे करने का सकेत किया है, क्योकि रोगी की प्रकृति, देश, काल आदि का विचार करके किया गया प्रयोग ही सफल होता है[2]। अत रुचि के अनुसार मोदक, दुग्ध, मन्थ आदि मे दे।

वमनकारक द्रव्यो के कषाय को रोगी की इच्छा या उपलभ्यता के अनुसार— पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोठ, सरसो, राव, दूध, क्षार या लवण डालकर सस्कारित करके प्रयोग करना चाहिए। वामक द्रव्यो की कल्पनाएँ भी सुविधानुसार बनानी चाहिए। जैसे—

१ चूर्ण, २ कल्क, ३ कषाय, ४ स्नेह, ५ वर्ति, ६ अवलेह, ७ क्षीर, ८ दही, ९ दधिसर, १० घृत, ११ तक्र, १२ मस्तु, १३ यवागू, १४ कृशरा, १५ यूष, १६ उत्कारिका, १७ शष्कुली, १८. अपूप, १९ षाडव, २०. काम्बलिक, २१ फणित, २२ मोदक, २३ मन्थ, २४ नवनीत, २५ मात्राएँ, २६ मदिरा, २७. सुरामण्ड, २८. आसुत, २९ पलल, ३० मासरस, ३१ प्रेययोग, ३२. इक्षुरस और ३३ सलिल।

मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज और कृतवेधन के योगो —इन कल्पनाओ का प्रयोग किया गया है। देखे—चरकसहिता-कल्पस्थान।

वमन का पूर्वकर्म या तैयारी

वमन कराने की प्रक्रिया मे निम्नाङ्कित विषयो पर ध्यान दे—१ आत्म-निरीक्षण, २ आतुर-परीक्षण ३ वमन-सामग्री, ४. परिचारक, ५ औषध, ६ वाम्य की तैयारी, ७ स्नेहन—स्वेदन और ८ वमनकालिक आचार।

---

१ मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशाला त्रपुषकुटजमूर्वादेवदाली कृमिघ्नम्।
विदुलदहनचित्रा कोशवत्यौ करञ्ज. कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि॥
—अ० हृ० सू० १५।१

२ तत्र सर्वाण्यौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात्। तत्र व्याधिबलादधिक प्रयुक्तमौषधं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति। अग्निबलादधिकम् अजीर्णं (जनयति) विष्टभ्य वा पच्यते, पुरुषबलादधिक ग्लानिमूर्च्छामदानावहति सशमन संशोधन वा अतिपातयति, हीनमेभ्यो दत्तम् अकिञ्चित्करं भवति। तस्मात् सममेव दद्यात्। —सु० सू० ३९।१०

१ **आत्मनिरीक्षण**[1]—चिकित्सक को सब से पहले यह विचार करना चाहिए कि मै इस कार्य के सम्पादन मे समर्थ हूँ या नही ? समर्थ न होने की स्थिति मे रुग्ण को उसे विशेषज्ञ के पास भेज देना चाहिए।

२ **आतुर-परीक्षण**—आतुर वमनार्ह है या नही ? यह निर्णय करे। फिर आतुर के दोष, देश, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और वय—इनकी अवान्तर अवस्थाओ का ज्ञान करे।

३ **सामग्री**—वमन योग्य भवन ऐसा हो, जिसमे एक छोटा परिवार रह सके और आवश्यक कक्ष बने हो। वहाँ पानी, रसोईघर, शौचालय, स्नानागार बने हो। वमन मे काम आने वाले आसन, पात्र आदि समस्त उपकरण जुटाकर रखे।

४. **परिचारक**[2]—रोगी की सेवा-सुश्रूषा, उठाने-बैठाने, स्नान-अभ्यङ्ग, सवाहन, मर्दन आदि सभी कार्य करने मे दक्ष भृत्य होने चाहिए। रुग्ण के आत्मीय जन, जो बिना हिचक के कोई भी कार्य कर सके, निकट मे रखने चाहिए।

५ **औषध**—वमनकारक औषध-योगो को तैयार करने के लिए उपयोगी औषधो को सञ्चित करके रखे। वमन मे सभावित उपद्रवो के शमनार्थ इमर्जेन्सी की औषधो को भी रखना चाहिए। खरल, इमामदस्ता, सील आदि भी रखे।

६ **रोगी का उत्क्लेशन**—रुग्ण का यथोचित स्नेहन-स्वेदन किया गया हो, तो उसे वमन की पूर्व सन्ध्या मे कफ का उत्क्लेशन करने वाला आहार दे। जैसे—ग्राम्य, आनूप और औदक (मछली आदि) जीवो का मासरस, दूध, दही, उडद, तिल तथा अभिष्यन्दी शाक आदि का आहार खिलाना चाहिए[3]।

७. **स्नेहन-स्वेदन**—रोगानुसार वमनार्ह को आभ्यन्तर तथा बाह्य स्नेहन कराये। सम्यक् स्निग्ध लक्षण दीखने के बाद स्वेदन करे। बाष्प स्वेदन करना उत्तम है, क्योकि उससे समस्त देह का स्वेदन हो जाता है।

स्नेहन, अभ्यङ्ग और बाष्प स्वेदन से दोषो का क्लेदन, द्रवीकरण और कोष्ठाभिगमन होता है, जिससे दोषो को बाहर निकालने मे आसानी होती है।

८ **वमनकालिक आचार**—रोगी को सुहृद् भाव से वार्ता कर, अपने विश्वास मे लेकर उसे यह समझा देना चाहिए कि वमन कराने से रोग का समूल उन्मूलन हो जायेगा, जिससे रोगी के मन मे वमन के प्रति उत्कण्ठा, श्रद्धा और विश्वास जाग्रत हो। वमन की प्रकिया के विषय मे भी रोगी को एक अवधारणा करा देनी चाहिए, जिससे कि वह उस अवसर पर उससे इन्कार न करे। उसके मन से यह भय निकाल

---

१ आत्मानमेवादित परीक्षेत गुणिषु गुणत कार्याभिनिर्वृत्ति पश्यन्, कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति। —च० वि० ८।८६।

२ शीलशोचाचारानुरागदाक्ष्यप्रदाक्षिण्योपपन्नानुपचारकुशलान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्। —च० सू० १५।७।

३. (क) ग्राम्यानूपौदकमासरसक्षीरदधिमाषतिलशाकादिभि समुत्क्लेशितश्लेष्माण। —च० क० १।१४।

(ख) ग्राम्यौदकानूपरसै समासैरुत्क्लेशनीय पयसा च वम्य। —च० सि० ६।१८।

देना चाहिए कि वमन करते समय कष्ट होता है अथवा किसी तरह की परेशानी होती है।

९ **मनोबल प्रवर करना**—वमनार्ह के मित्र उसे आश्वासन दे कि कोई खास परेशान होने की बात नही है, न कोई डरने की बात है। यह तो एक सामान्य प्रक्रिया है और हमलोग मौजूद हैं आदि आदि।

वमन के सद्य पूर्व सुकुमार, बालक, वृद्ध, भीरु, आतुर को आकण्ठ दूध, मट्ठा, यवागू, दही या गन्ने का रस पिलाना चाहिए। वमन के दिन रोगी को स्नान कराकर, सुगन्धित इत्र लगाकर, स्वच्छ वस्त्र धारण कराकर, देवार्चन कराकर, ब्राह्मण, गुरु एव चिकित्सक का सत्कार कराना चाहिए। इन शुभकर्मो से रोगी का मन प्रसन्न और आश्वस्त होता है तथा उसमे आस्था और विश्वास पैदा होता है। उसके मन मे शान्ति आती है, निर्भयता और निर्द्वन्द्वता होती है। अत वमन के पूर्व कुछ धार्मिक अनुष्ठान कराना वाञ्छनीय है[1]।

वमन का प्रधान कर्म

वमन कराने वाली औषध पिलाने के बाद से जब तक वमन का वेग पूरा नही होता, इस बीच जो भी कार्य किये जाते है, वे सब प्रधान कर्म की सीमारेखा के भीतर माने जाते है। जैसे --

१ वमन का आयोजन।
२ औषध-पान।
३ रुग्ण-निरीक्षण।
४ वमनवेग-निर्णय।
५ सम्यक्-अति-हीन योग के लक्षण।
६ उपद्रव और उपचार।

(१) **वमन का आयोजन**—वमनार्ह रोगी को आरामदेह गद्दीवाली कुर्सी पर बैठाना चाहिए, जिसके पीछे की बनावट इतनी ऊँची हो कि उसके सहारे शिर को टिकाया जा सके। रोगी के शरीर को गले से पैर तक सफेद वस्त्र से ढँक देना चाहिए, जिससे वान्त पदार्थ के छीटे उसके देह या कपडे पर न गिरे। कुर्सी के दोनो बाजू पर एक-एक छोटी तौलिया रख दे, जिससे रोगी अपना मुँह साफ कर लिया करे।

रोगी की नाडी, श्वास-गति, तापमान और ब्लडप्रेसर देखकर एक चार्ट पर अकित कर ले। रोगी के सामने स्टूल पर वमन-पात्र और निकट मे पेय औषध, जल तथा छोटे-बडे पात्र रख ले। जिनमे रुग्ण को कोई सकोच न हो और जो रोगी के

---

१ ततस्त पुरुष स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषित सुप्रजीर्णभक्त शिर स्नातमनुलिप्तगात्र स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीत देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तमिष्टे नक्षत्रतिथिकरण मुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचन प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रिता फलकषायमात्रा पाययेत। —च० सू० १५।९।

हित मे कोई भी कार्य कर सके, ऐसे सहायक और परिचारक समय से उपस्थित रहे।

(२) **औषध-पान**—वमनार्थ औषध-पान कराने के पूर्व रोगी को तृप्तिपर्यन्त आकण्ठ दूध या गन्ने का रस पिलाना चाहिए[१]। इक्षुरस मधुर और शीत होने से कफ का वर्धन करता है और अधिक मात्रा मे पीने से गले मे उत्क्लेश उत्पन्न करता है। गन्ने का रस ३–४ लीटर सञ्चित करके रखे और उसे मेजर-ग्लास से नाप कर पिलाये और जितना पिलाये उसे नोट कर लिया करे।

तदनन्तर मदनफल ४ भाग, वच २ भाग, सैन्धव लवण १ भाग—इन्हे लेकर खूब घोटकर वनाये हुए चूर्ण मे से १ ग्राम लेकर पर्याप्त मधु मिलाकर चाटने लायक वना दे। फिर उस औषध-पात्र को वाये हाथ की हथेली पर रखकर दाहिने हाथ की हथेली से ढँक कर निम्नलिखित मन्त्र पढे—

" ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानला ।
ऋषय सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ॥
रसायनमिवर्षीणा देवानाममृत यथा ।
सुधेवोत्तमनागाना भैषज्यमिदमस्तु ते ॥"—च० क० १।१४

और अभिमन्त्रित औषध को पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख रोगी को पिला दे।

वमनार्थ औषध-प्रयोग के अन्य भी प्रकार है। जैसे—

१ दूध, दही, यवागू, मासरस, मद्य अथवा गन्ने का रस मिलाकर मदनफलयोग को पिलाना।

२ दूध, दही, यवागू आदि भरपेट पिलाकर मदनफलयोग को मधु के साथ चटाना।

३ मदनफलयोग का चूर्ण मिलाकर चरकोक्त वमनोपग मधुयष्टयादि योग का क्वाथ पुन -पुन पिलाकर वमन कराना।

किन्तु सर्वोत्तम प्रकार यह है कि दूध या गन्ने का रस आकण्ठ पिलाकर फिर मदनफलयोग मधु मे चटाकर वमनोपग यष्टी-मधु आदि का फाण्ट वार-वार पिलाकर वमन कराना।

(३) **रुग्ण-निरीक्षण**—चिकित्सक वमनार्थ औषध पिलाने के वाद एक मुहूर्त (४५–५०) मिनट प्रतीक्षा करे। तदनन्तर जब ललाट पर स्वेदविन्दु दीखे, तो यह जाने कि दोष स्रोतो मे विलीन हो रहे हैं एव द्रवीभूत होकर ऊर्ध्वगमनोन्मुख हो रहे हैं। रोमहर्ष देखकर यह जाने कि दोष स्थानच्युत होकर कोष्ठाभिमुख हो रहे हैं, कुक्षि मे आध्मान होने लगे तो यह समझे कि दोष कोष्ठ मे आ गये हैं। जब हृल्लास और लालास्राव होने लगे, तो जाने कि दोष आमाशय मे ऊपर मुख की ओर आ गये है। तब रोगी को सामने स्टूल पर रखे, वमन-पात्र मे वमन करने के लिए

---

१ तत्र सुकुमार कृश बाल वृद्ध भीरु वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकण्ठ पाययेत्। पीतौषधश्च ।
—सु० चि० ३३।६

कहे, मुख पात्र की सीध में रहे और मन में यह विचार रहे कि अब वमन होगा और मुख को खुला रखे, साथ ही रोगी को उदर-प्रदेश की पेशियों को ऊपर की ओर सञ्चालित करते रहना चाहिए, जिससे वमन का वेग आने लगे[1]।

यदि वमन न हो रहा हो, तो रोगी अपनी अँगुलियों से जीभ को दबाकर या कमलनाल या एरण्ड[2] की टहनी अथवा रबर की नली से कण्ठ में स्पर्श करे। यदि फिर भी वमन न हो, तो परिचारक मदनफलयोग को मधु में मिलाकर अपनी अँगुलियों से उसे रोगी के भीतर कण्ठ में लगाये, इससे शीघ्र वमन होने लगेगा।

उस समय परिचारक रोगी की पीठ नीचे से ऊपर को मले, दूसरा व्यक्ति शंख-प्रदेश और ललाट को हाथों से दबाये और वक्ष, पृष्ठ, नाभि और पार्श्व को गरम हाथों से सहलाये[3]। यदि औषध देने के पन्द्रह-बीस मिनट बाद तक वमन की प्रवृत्ति न हो, तो यष्टी-मधु आदि वमनोपग द्रव्यों का फाण्ट थोडा-थोडा करके बारम्बार पिलाये। प्रत्येक वेग में तीन-चार सौ मि० ली० फाण्ट पिलाना चाहिए। इस प्रकार ५ बार फाण्ट पिलाये, ताकि ५–७ वेग आकर सम्यक् शुद्धि हो जाय।

पीत द्रव का तथा उत्सृष्ट द्रव का मान नोट करता जाय, उत्सृष्ट द्रव्य का मान पीत की अपेक्षा अधिक प्रमाण में होना प्रशस्त है। वमनकाल में वेगों की ओर भी ध्यान देना चाहिए और बीच-बीच में नाडी की गति, श्वासगति और ब्लड-प्रेसर देखते रहना चाहिए।

(४) **वमनवेग-निर्णय**[4]—औषध पिलाने के बाद जितनी बार वमन होता है, उसे वेग कहते हैं। वेगसंख्या का निर्णय वेग में निकले द्रव्य के रूप, प्रमाण और वेगकालीन लक्षणों के आधार पर करना चाहिए। **प्रवरवमन** में आठ वेग, **मध्यम** वमन में छह और **हीन** में चार वेग आने चाहिए। औषध पिलाने के बाद आने वाले प्रथम वेग को नहीं गिनना चाहिए।

मात्रा—प्रवरशुद्धिवमन में वमन से निकला हुआ द्रव्य २ प्रस्थ (१ किलो ५३६ ग्राम) होना चाहिए और अन्त में पित्त निकलना चाहिए। **मध्यमशुद्धिवमन**

---

१ तन्मना: जातहृल्लासप्रसेकश्छर्दयेत्तत ॥
अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा। गलताल्वरुजान् वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ॥
प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थित। उभे पार्श्वे ललाटे च वमतश्चास्य धारयेत् ॥
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमत। —अ० हृ० सू० १८-२१

२ कण्ठे च पाणिभि सुपरिगृहीतमङ्गुली गन्धर्वहस्तोत्पलान्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्त वामयेत्तावद् यावत् सम्यग्वान्तलक्षणानि। —सु० चि० ३३।६

३. प्रतिग्रहाश्चोपचारयेत्—ललाटप्रतिग्रहे, पार्श्वोपग्रहणे, नाभिप्रपीडने, पृष्ठोन्मर्दने चानपत्रपणीया सुहृदोऽनुमता प्रयतेरन्। —च० सू० १५।१२

४. जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च ॥
पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहु।
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान् मेयं विरेके वमने तु पीतम् ॥ —च० सि० १।१३-१४

मे वमन-द्रव्य १½ प्रस्थ ([illegible] ग्राम) होना चाहिए और अन्त मे पित्त निकलना चाहिए । [illegible] शुद्धिवमन मे वमन-द्रव्य १ प्रस्थ (७६८ ग्राम) होना चाहिए और अन्त मे पित्त निकलना चाहिए ।

वमन द्वारा शुद्धि

	प्रवर	मध्यम	हीन
वमन-वेग —	८	६	४
वमन-मात्रा —	२ प्रस्थ	१½ प्रस्थ	१ प्रस्थ
अन्त —	पित्तान्त	पित्तान्त	पित्तान्त

वमनौषध पान के पूर्व जो दूध या [illegible] आकण्ठ पिलाया जाता है, वह लगभग डेढ़-दो लीटर होता है । यह पहले वेग मे निकलता है और उसकी मात्रा की गणना नहीं करनी चाहिए । वमन मे निकले [illegible] देखकर वमन के होने का निर्णय करना चाहिए ।

वेग के लक्षणों के अनुसार सम्यक्, अति या हीन शुद्धि का निर्णय करना चाहिए ।

(५) वमन के सम्यक्, हीन योग और अतियोग —

सम्यग्योग[1] —उचित समय पर दोषों का निकलना, क्रम से कफ, पित्त और वात का निकलना, हृदय मे लघुता का आभास होना, पार्श्व, शिर और स्रोतों मे हलकापन होना, मन का प्रसन्न होना, शरीर मे लघुता प्रतीत होना, पार्श्व, दौर्बल्य, कण्ठशुद्धि, अग्निदीप्ति और वमन होते समय अधिक कष्ट न होना—ये वमन के सम्यग्योग के लक्षण हैं ।

हीनयोग[2] —वमन के वेगों का रुककर बाहर न निकलना या केवल औषध का बाहर निकलना, वेगों का रुक-रुककर प्रवृत्त होना—ये लक्षण वमन के हीनयोग मे होते हैं । इनके कारण हृदय मे भारीपन, शरीर मे भारीपन, स्फोट, कण्डू, कफप्रसेक और ज्वर होता है ।

अतियोग[3] —वमन के अधिक हो जाने पर झागदार रक्तचन्द्रिकाओं का निकलना, तृष्णा का आधिक्य, मोह, मूर्च्छा, वातप्रकोप, निद्रानाश, कण्ठपीडा, पित्त की अधिक

१. (क) क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग् वमित स इष्ट ।
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे ॥ —च० सि० १।१५

(ख) पित्त कफस्यानुसुख प्रवृत्त शुद्धेषु हृत्कण्ठशिर सु चापि ।
लघौ च देहे कफसस्रवे च स्थिते सुवान्त पुरुष व्यवस्येत् ॥ —सु० चि० ३३।७

२ (क) दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डू हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च । —च० सि० १।१६

(ख) सु० चि० ३३।७ ।

३. तृण्मोहमूर्च्छाऽनिलकोपनिद्रा बलादिहानिर्वमनेऽति च स्यात् । —च० सि० १।१७

प्रवृत्ति और दाह—ये लक्षण होते हैं, क्योंकि अतिवमन होने से शरीर की जलीय धातु का तथा कफ का अतिशय ह्रास हो जाता है।

(६) **वमन के उपद्रव और उनका उपचार**—१ यदि वैद्य विधिपूर्वक वमन का अवचारण या वमन-प्रक्रिया की व्यवस्था नही कर पाता है, या २ परिचारक औषध का ठीक ढग से योग नही बना पाता है, या ३ औषध हीन मात्रा मे प्रयुक्त होती है, या ४ रोगी वमन मे मनोयोग नही करता या स्वेच्छाचारी होता है, तो इन कारणो से वमन के अयोग होने या अतियोग होने से १० प्रकार के उपद्रव होते है[१] —१ आध्मान, २ परिकर्त, ३ स्राव, ४. हृद्ग्रह, ५ गात्रग्रह, ६ जीवादान, ७ विभ्रंश, ८ स्तम्भ, ९ उपद्रव और १० क्लम।

इन उपद्रवो के होने मे कतिपय अन्य भी कारण होते है। जैसे—१ वमन का अयोग या अतियोग, २ स्नेहन-स्वेदन भली प्रकार न होना, ३ रोगी का अधिक बलसपन्न होना, ४ कोष्ठ का कठोर, क्रूर या अति मृदु होना, ५ तीक्ष्णाग्नि रोगी होना।

अयोग मे उपचार—

१ वमन-सामग्री एकत्र करते समय पहले ही मधुयष्टयादि फाण्ट ३–४ लीटर तैयार करके रखे।

२ वमन-प्रवृत्ति ठीक न हो तो थोडी-थोडी देर पर १०० मि० ली० फाण्ट मे मदनफल और वच का चूर्ण १–१ ग्राम डालकर बारम्बार पिलाते जाये।

३ वमनवेग की पूर्णता के लिए सुखोष्ण जल मे नमक मिलाकर पिलाये। इससे आसानी से वमन हो जाता है।

४ यदि अङ्गग्रह आदि उपद्रव उत्पन्न हो, तो औषध-पाचनार्थ दीपन-पाचन और बलकारक एव शामक औषध दे।

५ एक-दो बार वमनवेग के निकल जाने पर शिवाक्षारपाचन, चित्रकवटी, शखवटी, द्राक्षासव आदि दे।

६. अयोगजन्य उपद्रवो के शमनार्थ निरूह[२] एव अनुवासन[३] बस्ति दे।

अतियोग[४] मे उपचार—

१ शीतल जल से परिषेक कर घी-चीनी मिला हुआ धान के लावा का चूर्ण कफघ्न फल (अनार) के रस के साथ पिलाये।

---

१ आध्मान परिकर्तश्च । —च० सि० ६।२९

२ त तैललवणाभ्यक्त स्विन्न प्रस्तरसङ्करै । पाययेत पुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरूहयेत् ॥ —च० सि० ६।४२

३ निरूढ च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत् । फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ॥ स्निग्ध वातहरै स्नेहै. पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत् । —च० सि० ६।४३ ४४

४ वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचित. । पिबेत् कफहरैर्मन्थ सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ सोद्गारायां भृश वम्या मूर्च्छाया धान्यमुस्तयो. । समधूकाञ्जन चूर्ण लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥

२. डकार और मूर्च्छा में धनिया, मोथा [illegible] और [illegible] का चूर्ण [illegible] ।

३ यदि वमन करते हुए जिह्वा भीतर चली गयी हो, तो [illegible], स्निग्ध, रुचिकर यूप दुग्ध या मांसरस का [illegible] करावें । उसके सामने [illegible] देकर इमली की चटनी चाटे, जिसे देखकर रोगी की जीभ बाहर आ जाती है ।

४ जिह्वा यदि बाहर निकली हो, तो उस पर [illegible] और [illegible] लेप कर उसे हाथ से पकड़कर भीतर करें ।

५ वाग्ग्रह या अन्य [illegible] रोग [illegible] मांसरस में मिद्ध पतली यवागू पिलावें ।

६ दाह आदि के शमनार्थ [illegible] अविपत्तिकर चूर्ण [illegible] चूर्ण का प्रयोग करें ।

७ आवश्यकतानुसार—हिंगुग्रन्थ्यादि चूर्ण, [illegible] का प्रयोग करें ।

८ अधिक दाह हो तो [illegible] १ ग्राम, मयूर-पिच्छ भस्म १ ग्राम, प्रवालपिष्टी [illegible] पर आँवले या सेव के मुरब्बे में या [illegible] ।

वक्तव्य—आध्मान आदि १० उपद्रवों की विस्तृत [illegible] (अ० ६।५८-९३) में द्रष्टव्य है ।

पश्चात्कर्म

जब वमन होना बन्द हो जावे, तब से [illegible] भोजन [illegible] वधि में जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें पश्चात्कर्म [illegible] । [illegible]—१ धूमपान, २ यम-नियम, ३ संसर्जन-क्रम एवं ४ तर्पण ।

(१) धूमपान

वमन हो जाने के बाद हाथ-पैर तथा मुख [illegible] से धुलाकर रोगी को ४५–५० मिनट विश्राम करावे । इस अवधि में रोगी का निरीक्षण [illegible], क्योंकि कदाचित् डकार, वमनवेग या [illegible] हो सकता है । फिर रोगी को स्नैहिक,[1] वैरेचनिक[2] या प्रायोगिक[3] धूमपान करावें ।

वमतोऽन्तःप्रविष्टाया जिह्वाया कवलग्रहाः । स्निग्धाम्ललवणहृद्यैर्यूषैः क्षीररसैर्हिताः ॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः । निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥
वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् । यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान् ॥
—च० सि० ६।५२-५६

१ वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युक्तियुक्तैर्वरौषधैः । वर्तिं मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत् ॥
—च० सू० ५।२८

२ श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला । गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमं मूर्धविरेचने ॥
३. हरेणुका प्रियङ्गुश्च पृथ्वीका केसरं नखम् । —च० सू० ५।२६
.. ..
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ॥ —च० सू० ५।२०-२४

धूम्रपान से गले की पिच्छिलता, खसखसाहट और कफलिप्तता का ह्रास होता है तथा कण्ठ, मुख एव नासिका के द्वार शुद्ध हो जाते हे। धूम्रपान के बाद पुन हाथ, पैर और मुख का प्रक्षालन करना चाहिए[1]।

(२) संयम-नियम

धूम्रपान के अनन्तर रोगी को निवातस्थान मे रखकर उसे निम्न प्रकार मे उपदेश दे—

१ तेज आवाज से बोलना, २ अधिक देर तक बैठना, ३ देर तक खडे रहना, ४ अधिक चलना, ५ क्रोध करना, ६ शोक करना, ७ अधिक शीत-धूप-ओस-आँधी मे रहना, ८ हिचकोलावाली सवारी से चलना, ९ मैथुन, १०. रात्रिजागरण, ११ दिवाशयन, १२ सयोग-सस्कार-वीर्य आदि के विरुद्ध भोजन, १३ अजीर्ण मे भोजन, १४ अपथ्य-अकाल-प्रमित-अति-हीन-गुरु-विपम भोजन, १५ वेग-सधारण और १६ हठात् वेग-प्रवर्तन—इन बातो को आचरण मे नही लाना चाहिए और मन से कल्पना नही करनी चाहिए। इस प्रकार सयमपूर्वक दिन बिताये[2]।

(३) संसर्जन-क्रम (पथ्य-विधान)

वमन होने के पश्चात् आमाशय के क्षोभ के कारण अग्निमान्द्य हो जाता हे, अत पहले लघुतम आहार, लघुतर आहार और लघु आहार के क्रम से क्रमश गुरु, गुरुतर, गुरुतम आहार देने की योजना बनानी चाहिए। इसी आशय से आचार्य चरक ने शोधन के बाद पेयादि (ससर्जन-क्रम) क्रम से आहार देने का निर्देश दिया है। जिससे जठराग्नि पर अधिक बोझ न पडे और क्रमश सन्धुक्षित हो जाय।

जिस प्रकार अग्नि का अणुमात्र अङ्गार गोबर के सूखे उपले और तृण डालने से प्रदीप्त होकर प्रचण्ड आग बन जाता है तथा उसमे जो भी पदार्थ डाला जाय, उसे जलाकर राख बना देता है, उसी प्रकार सशोधन से मन्द हुई अग्नि के सन्धुक्षण के लिए जब पेया-विलेपी आदि के क्रम से पथ्य देकर उसे तीक्ष्ण बना दिया जाता है तब वह गुरु पदार्थ को पचाने मे भी समर्थ हो जाती है[3]।

पेयादि-क्रम

प्रधानशुद्धि, मध्यमशुद्धि और अवरशुद्धि वाले रोगी के लिए क्रमश पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृत यूष, अकृत मासरस, कृत मासरस को तीन-तीन, दो-दो या एक-एक अन्नकाल देकर तब फिर प्राकृत भोजन देना चाहिए। (जो व्यक्ति शाकाहारी हो, उन्हे मासरस के स्थान मे यूष देना चाहिए[4]।

१. धूमानामन्यतम सामर्थ्यत पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पृशेत् ॥ —च० सू० १५।१४

२ च० सू० १५।१५।

३ यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यै सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिर सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिरन्तराग्नि ॥
—च० सि० ९।१२, अ० हृ० सू० १८।३०

४ पेयां विलेपीमकृत कृत च यूष रस त्रिर्द्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥—च० सि० १।११, अ० हृ० सू० १८।२९

(१) प्रधानशुद्धि में संसर्जन-क्रम

पेया	३ अन्नकाल
विलेपी	३ अन्नकाल
अकृत यूष	१ अन्नकाल
कृत यूष	२ अन्नकाल
अकृत मांसरस	१ अन्नकाल
कृत मांसरस	२ अन्नकाल
	१२ अन्नकाल

विशेष—सामान्यतः कफ के क्षीण हो जाने और जठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर पथ्य दिया जाता है। प्र० शु० में ७ दिन में १२ अन्नकाल में संसर्जन-क्रम पूर्ण होता है।

(२) मध्यमशुद्धि में संसर्जन-क्रम

पेया	२ अन्नकाल
विलेपी	२ अन्नकाल
अकृत यूष	१ अन्नकाल
कृत यूष	१ अन्नकाल
अकृत मांसरस	१ अन्नकाल
कृत मांसरस	१ अन्नकाल
	८ अन्नकाल

विशेष—मध्यमशुद्धि में ८ अन्नकाल में और ५ दिन में संसर्जन-क्रम पूर्ण होता है।

(३) अवरशुद्धि में संसर्जन-क्रम

पेया[1]	१ अन्नकाल
विलेपी[2]	१ अन्नकाल
अकृत यूष[3] } कृत यूष[4] }	१ अन्नकाल
अकृत मांसरस } कृत मांसरस }	१ अन्नकाल
	४ अन्नकाल

विशेष—अवरशुद्धि में ४ अन्नकाल में एवं ३ दिन में संसर्जन-क्रम पूरा होता है।

१ पेया सिक्थसमन्विता। —परिभाषा प्रदीप

२. विलेपी विरलद्रवा। —वही

३. अस्नेहलवणं सर्वम् अकृतं कटुकैर्विना। —वही

४. विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्। —वही

संसर्जन क्रम सारणी

दिन	अन्नकाल	प्रधान शुद्धि	मध्यम शुद्धि	अवर शुद्धि
प्रथम दिन	प्रात	—	—	—
	साय	१ पेया	१ पेया	१ पेया
द्वितीय दिन	प्रात	२ पेया	२ पेया	२ विलेपी
	साय	३ पेया	३ विलेपी	३ कृताकृत यूप
तृतीय दिन	प्रात	४ विलेपी	४ विलेपी	४ कृताकृत मासरस
	साय	५ विलेपी	५ अकृत यूप	सामान्य आहार
चतुर्थ दिन	प्रात	६ विलेपी	६ कृत यूप	—
	साय	७ अकृत यूप	७ अकृत मासरस	—
पञ्चम दिन	प्रात	८ कृत यूप	८. कृत मासरस	—
	साय	९ कृत यूप	सामान्य आहार	—
षष्ठ दिन	प्रात	१० अकृत मासरस	—	—
	साय	११ कृत मासरस	—	—
सप्तम दिन	प्रात	१२. कृत मासरस	—	—
	साय	सामान्य आहार	—	—

(४) सन्तर्पण-क्रम

आचार्य सुश्रुत ने सम्यक्वान्त, कृत धूम्रपान, पुन उष्ण जल से स्नान किये हुए, शुद्ध पवित्र शरीर वाले रोगी को सायकाल कुलथी, मूग और अरहर के यूप तथा जाङ्गल जीवो के मासरस के साथ भोजन करने के लिए बतलाया है ।

जिसकी व्याख्या मे डल्हण ने कहा है कि—अत्यन्त क्षीण कफ वाले को पेया, वात-प्रधान तीक्ष्ण जठराग्निवाले को मासरस और दोष तथा ऋतु के अनुसार कुछ कफ वृद्धि हो तो कुलथी आदि का यूष देना चाहिए[१] ।

इस प्रकार रोगी की निर्बलता एव दोष आदि का विचार कर संसर्जन-क्रम के स्थान मे तर्पणादि-क्रम अपनाया जा सकता है । चरकाचार्य ने कहा है कि जिस रोगी के कफ-पित्त का शोधन पूर्णरूप से न हुआ हो, जो मद्य पीनेवाला हो या वात-पित्त प्रकृति का हो, उसे तर्पण आदि के क्रम से पथ्य देना चाहिए, क्योकि पेया पिलाने से स्रोतो मे अभिष्यन्दन (गीलापन) हो जायेगा[२] । चक्रपाणि ने पेया के स्थान में

१ ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेहमुष्णाभिरद्भि परिषिक्तगात्रम् ।
कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां यूषै रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु ॥
—सु० चि० ३३।११ तथा वहीं डल्हण-टीका

२ कफपित्ते विशुद्धेऽल्प मद्यपे वातपैत्तिके । तर्पणादि क्रम कुर्यात् पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ॥
—च० सि० ६।२५

चक्रपाणिः—पेयाया. स्थाने स्वच्छतर्पण विलेप्या. स्थाने च घनतर्पणम् ।

स्वच्छ (लघु) तर्पण और विलेपी के स्थान मे घनतर्पण देना बतलाया है। जेज्जट ने तर्पण से मुद्गयूष और मासरस दिये जाने की बात कही है। वाग्भट[1] ने भी ऐसा तर्पण देने को कहा है। किन्तु अरुणदत्त ने प्रथम अन्नकाल मे धान के लावा का सत्तू (तर्पण), द्वितीय अन्नकाल मे पुराने चावल का भात और तीसरे अन्नकाल मे मासरस का तर्पण देना हितकर कहा है।

(५) कुछ तर्पण-योग[2]

१ जौ के सत्तू मे समभाग चीनी मिला मधु और मदिरा मे घोलकर पीने से वात-मल-मूत्र एव कफ-पित्त का अनुलोमन होता है।

२ फाणित (राव) सत्तू, दही का पानी और खट्टी काञ्जी एक मे मिलाकर पीने से उदावर्त एव मूत्रकृच्छ्र मे लाभ होता है।

३ मुनक्का, वृक्षाम्ल, इमली, अनारदाना, अनार, फालसा और आँवला—इनके रस मे घोला हुआ मन्थ मदिरा के विकार का नाश करता है और तर्पण है।

(६) वमन के अनन्तर शोधन

१ यदि वमन द्वारा शुद्धि करने के वाद अन्य शोधन-कर्म न करना हो, तो जिस रोग या दोष के लिए शोधन (वमन) किया गया था, उसकी **शमन-चिकित्सा** करे।

२. यदि वमन के बाद **विरेचन** कराना हो तो विरेचन का प्रयोग १५ दिन के वाद करना चाहिए, न इसके पहले और न इसके वाद। यदि १५ दिन के पहले विरेचन दिया जायेगा, तो उस समय रोगी की जठराग्नि और शारीरिक वल अल्प होने से उपद्रव होने की अधिक सम्भावना रहती है। यदि उसके वाद दिया जाय तो स्नेहन-स्वेदन का गुण बीच मे नष्ट हो जायेगा। इसलिए वमन देने के १७वे दिन विरेचन देना चाहिए।

३ **१५ दिन की कार्य-पद्धति**—जिस व्यक्ति की प्रधानशुद्धि हुई है, वह पेया, विलेपी आदि का क्रमश १२ कालो का ६ दिन मे सेवन करे और ६ दिन स्नेहपान करे; इस प्रकार १२ दिन हो जायेगा। उसके बाद १३-१४-१५वे इन तीन दिनो मे स्वेदन के साथ लघु एव उष्ण गुणयुक्त आहार करना चाहिए और १६वे दिन विरेचन का प्रयोग करना चाहिए[3]।

जेज्जटः—तर्पणादिकत्वेन च यूषरसनिर्देश ।

१. स्रुताल्पपित्तश्लेष्माण मद्यप वातपैत्तिकम्। पेया न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हित. ॥

—अ० हृ० सू० १८।४६

अरुणदत्तः—प्रथमेऽन्नकाले लाजसक्तवो द्वितीये जीर्णशाल्योदनम्, तृतीये मासरसमित्येष तर्पणक्रम तेषां हित ।

२. च० सू० २३।३६-३८। ३ पक्षाद् विरेको वान्तस्य। —सु० चि० ३६।५२

तत्र डल्हणः—सम्यग्योगेन वान्तस्य पुरुषस्य विरेचन पक्षान्नार्वाक् नापि परत॰, अतिपरत पुन स्नेहस्वेदादिगुणोऽन्तरितः स्यात्, तस्मात् पक्षादेव वान्तो विरेचनीय.। तत्र प्रधानशुद्धिमपेक्ष्यान्नससर्गेण दिनानि षडतिक्रम्य मधुरादिमसर्गमाचरेत्, स्नेहपानेनापि दिनानि षडतिक्रमेत्। ततः स्वेद समाचरन् लघूष्ण भुज्यमानस्त्र्यह स्थितश्चतुर्थेऽहनि विरेकं कुर्यात्।

४ वमन के वाद पालन करने योग्य जो मयम-नियम आदि वतलाये गये हैं, उनमे धूम्रपान को छोडकर सभी नियमो का तव तक पालन करना चाहिए, जव तक शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो जाय।

५. विरेचन के वाद धूम्रपान मना है, क्योंकि विरेचन द्वारा पित्त का विशेप रूप से निर्हरण किया जाता है और धूम आग्नेय होने के कारण पित्त को बढानेवाला होता है और पुन पित्त को उत्तेजित कर विरेचनकारक हो सकता है। अत धूम्रपान निपिद्ध है।

(७) कतिपय वमन कल्प

१ मदनफल १५ ग्राम लेकर चूर्ण कर ३०० मि० ली० दूध मे डालकर पकाये, जव चौथाई दूध शेप वचे, तो छानकर पिलाये। इसी दूध से वना दही या दही का पानी या मलाई या मक्खन का भी प्रयोग रोग और रोगी के अनुसार करें।

२ मदनफल चूर्ण १० ग्राम को अमलतास के २०० मि० ली० क्वाथ मे डालकर अवलेह जैसा वनाकर प्रयोग करे।

३. मदनफल चूर्ण १० ग्राम लेकर धनिया के क्वाथ मिलाकर थोडा मधु और घी विषम मात्रा मे मिलाकर रोटी जैसा वनाकर खिलाये।

४ मदनफल चूर्ण मे सौफ का जल और चीनी मिलाकर मोदक वनाकर दें।

५ देवदाली के नये फल २० ग्राम लेकर उससे क्षीरपाक-विधि से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए।

६ देवदाली फल के १५–२० ग्राम चूर्ण को सुरामण्ड मे २४ घण्टे तक सन्धान कर छानकर पिलाये।

७. देवदाली के चूर्ण का कुटजक्वाथ के साथ प्रयोग करे।

८ देवदाली से सिद्ध दुग्ध का घृत निकाल कर १०–२० ग्राम की मात्रा मे मदनफलादि(मदनफल-जीमूतक-ईक्ष्वाकु-धामार्गव-कुटज-कृतवेधन)कपाय के साथ प्रयोग करे।

९ ईक्ष्वाकु फल की मज्जा से विधिवत् क्षीरपाक-विधि से दूध पकाये और उससे दही वनाकर प्रयोग करे।

१० धामार्गव-फलमज्जा से सिद्ध दूध पिलाये।

११ धामार्गव चूर्ण भात के साथ मिलाकर प्रयोग करे।

१२ कुटजफल (इन्द्रयव) के चूर्ण का सर्षप-सिद्ध जल या यष्टीमधु जल या लवणोदक के साथ प्रयोग करे।

१३ इन्द्रयव चूर्ण को खिचडी मे डालकर खिचड़ी खिलाये।

१४ कृतवेधन से क्षीरपाक-विधि से दूध पकाकर उससे तथा मदनफलादि के कल्क से घृत सिद्ध कर और उसका प्रयोग कर वमन कराये।

१५. कोशातकी चूर्ण डालकर पकाये हुए इक्षुरस को वमनार्थ पिलाना चाहिए।

पञ्चम अध्याय

विरेचन

परिचय और परिभाषा

दोषो को गुदमार्ग से बाहर निकालने को **विरेचन**[1] कहते है। यहाँ दोष शब्द मे शरीर मे पीडा पहुँचाने वाले (आवाधकर-शल्य[2]) सभी प्रकार के दोषो और मलो का ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि व्यवहार मे शिरोविरेचन, मूत्रविरेचन, शुक्रविरेचन आदि शब्द प्रचलित हैं, जिनसे यह अभिव्यक्ति होती है कि शरीरान्तर्गत किसी भी प्रकार के मल का किसी भी मार्ग से वाहर निकालना विरेचन शब्द का अर्थ है, किन्तु आयुर्वेद मे 'पङ्कज' (कमल) शब्द की तरह विरेचन शब्द गुदमार्ग से मल-विसर्जन के अर्थ मे योगरूढ है। एवञ्च **अधोमार्ग से मल निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहा जाता है।** चरक ने वमन के लिए भी विरेचन सज्ञा दी है[3]।

इस प्रकार विरेचन शब्द **सामान्य अर्थ मे** शोधन की किसी भी प्रक्रिया का बोधक है, जैसे—ऊर्ध्वविरेचन, शिरोविरेचन, मूत्रविरेचन, शुक्रविरेचन आदि, किन्तु विशेष अर्थ मे—**गुदमार्ग से दोषो का वाहर निकालना ही विरेचन कर्म है।**

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ चरकसहिता—सूत्र० अ० १५-१६ एव सिद्धि० १-२। २ सुश्रुतसहिता—चिकित्सा० अ० ३३ एव ३९। ३ अष्टाङ्गसग्रह—सूत्र० २७। ४ अष्टाङ्गहृदय—सूत्र० १८। ५ भावप्रकाश—पूर्वखण्ड। ६ शार्ङ्गधरसहिता—पूर्वखण्ड।

विरेचन के अयोग्य रोग और रोगी

क्रम अविरेच्य	चरक[4]	सुश्रुत[5]	वाग्भट[6]	क्रम अविरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. सुभग	+	—	—	३ मुक्तनाल	+	—	—
२ क्षतगुद	+	—	+	४ अधोग रक्तपित्त	+	+	+

१ तत्र दोषहरणम् अधोभाग विरेचनसञ्ज्ञकम्। —च० क० १।४

२. यत्किञ्चिदावाधकर शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्।

३. · · उभय वा शरीरमलविरेचनाद्विरेचनसञ्ज्ञा लभते। —च० क० १।४

४ · · · · तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोष स्यात्। क्षतगुदस्य क्षते गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजा जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्त्या हन्यात्, अधोभागरक्तपित्तिन तद्वत् विलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढा औषधवेगं न सहेरन्। कामादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोष स्यात्, नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् न निर्हरेत्, वातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे वायु· प्राणोपरोध कुर्यात्। आध्मातस्याधमतो वा पुरीषं निचितो वायु· विसर्पन् सहसाऽऽनाह तीव्रतर मरण वा जनयेत् न विरेच्या। —च० सि० २।१२

५ विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीया। —सु० चि० ३३।२९–३१

६ अष्टाङ्गहृदय-सूत्र० १८।१०–११।

क्रम	अविरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
५	लघित	+	—	—
६.	दुर्बलेन्द्रिय	+	—	—
७	अल्पाग्नि	+	+	+
८.	निरूढ	+	—	+
९	कामादि व्यग्र	+	—	—
१०.	अजीर्ण	+	+	+
११	नवज्वर	+	—	+
१२	मदात्यय	+	+	+
१३.	आध्मान	+	—	+
१४.	शल्यादित	+	—	+
१५	अभिहत	+	—	+
१६	अतिस्निग्ध	+	+	+
१७	अतिरूक्ष	+	+	+
१८	दारुणकोष्ठ	+	+	—
१९	क्षतक्षीण	+	+	+
२०	अतिस्थूल	+	+	+
२१	अतिकृश	+	—	+
२२	बालक	+	+	+
२३	वृद्ध	+	+	+
२४	दुर्बल	+	+	+
२५	श्रान्त	+	+	—
२६.	पिपासित	+	+	—
२७	कर्मभार अध्वहन	+	—	—
२८	उपवासित	+	+	—
२९	मैथुन-प्रसक्त	+	—	—
३०	क्षाम	+	—	—
३१	गर्भिणी	+	+	+
३२.	नव प्रसूता	—	+	—
३३	नव प्रतिश्याय	—	+	—
३४	अध्ययन-प्रसक्त	+	—	—
३५	व्यायाम-प्रसक्त	+	—	—
३६	चिन्ता-प्रसक्त	+	—	—
३७	राजयक्ष्मा	—	—	+
३८	अतिसार	—	—	+
३९	क्षुधित	+	—	+
४०	नित्यदुःखित	—	—	+
४१	हृद्रोगी	—	—	+
४२	भयभीत	—	—	+

१ सुभग अर्थात् सुकुमार कोमल प्रकृति।

२ मुक्तनाल अर्थात् अनियन्त्रित मल-विसर्जन।

३ निरूढ —जिसे निरूहवस्ति दी गयी हो।

४ कामादि-व्यग्र —कामवासना, क्रोध, शोक, भय आदि से ग्रस्त।

५ दारुण कोष्ठ —क्रूर कोष्ठवाला।

६ शल्यार्दित—जिसकी सर्जरी हुई हो या जो किसी सर्जिकल केस का रोगी हो।

७ कर्मभार—अध्वहन अर्थात् जो अधिक भार ढोने से या रास्ता चलने से थके हुए हों।

८ क्षाम अर्थात् बहुत दुबले-पतले मनुष्य, जो विरेचन से होनेवाली उथल-पुथल को न सहन कर सकें।

९. आत्ययिक रोग —हृदयरोग आदि, साम अवस्था, जैसे—नवज्वर, नव-प्रतिश्याय आदि, अधोग रक्तपित्त, अतिसार आदि, इनमे विरेचन का प्रयोग नही करना चाहिए। अन्यथा अनेक प्रकार के उपद्रव होने की आशङ्का रहती है।

विरेचन के योग्य रोग और रोगी

क्रम	विरेच्य	चरक[1]	सुश्रुत[2]	वाग्भट[3]
१	ज्वर	+	+	+
२	कुष्ठ	+	+	+
३	प्रमेह	+	+	+
४	ऊर्ध्वग रक्तपित्त	+	+	+
५	भगन्दर	+	+	+
६	अर्श	+	+	+
७	व्रध्न	+	+	—
८	प्लीह दोष	+	+	+
९	गुल्म	+	+	+
१०	अर्बुद	+	+	—
११	गलगण्ड	+	—	—
१२.	ग्रन्थि	+	+	+
१३	गर	—	+	+
१४	विसूचिका	+	+	—
१५	अलसक	+	+	—
१६	मूत्राघात	+	+	+
१७	क्रिमिकोष्ठ	+	+	+
१८	विसर्प	+	+	+
१९	पाण्डु	+	+	—
२०	शिर शूल	+	+	+
२१	पार्श्वशूल	+	—	—
२२	उदावर्त	+	—	—
२३	नेत्रदाह	+	+	—
२४	आस्यदाह	+	+	—
२५	हृद्रोग	+	+	—
२६	व्यग	+	—	+
२७	नीलिका	+	—	—
२८	अरुचि	+	+	—
२९	नेत्रस्राव	+	—	—
३०.	नासास्राव	+	—	—
३१	हलीमक	+	—	+
३२	श्वास	+	—	+
३३	कास	+	—	+
३४	कामला	+	—	+
३५	अपची	+	—	+
३६	अपस्मार	+	+	—
३७	उन्माद	+	—	—
३८	वातरक्त	+	+	+
३९.	योनिदोष	+	+	+
४०	रेतोदोष	+	—	+
४१	तिमिर	+	+	+
४२	उदर	+	+	+
४३	अविपाक	+	—	—
४४	छर्दि	+	+	+
४५	विस्फोट	+	+	+
४६	पक्वाशयरुजा	—	+	+
४७	विबन्ध	—	+	+
४८	विद्रधि	—	+	+
४९	श्वयथु	+	+	+
५०	शस्त्रक्षत, दग्ध	—	+	—
५१	दुष्ट व्रण	—	+	+
५२	अक्षिपाक	—	+	+
५३	अभिष्यन्द	—	+	—
५४	काच	—	+	—
५५	गुददाह	—	+	—
५६	मेढ्रदाह	—	+	—
५७	नासिकादाह	—	+	+
५८	आनाह	—	+	+
५९	श्लीपद	—	—	+
६०	स्तन्यदोष	—	—	+
६१	हृल्लास	+	—	+

१ चरक० सि० २।१३। २ सुश्रुत० चि० ३३।३२। ३ अष्टाङ्गहृदय-सूत्र० १८।८–१०।

वक्तव्य—जिन रोगो मे विरेचन का विधान किया गया है, उनमे प्रधानता पित्तदोष की होती है या रक्तविकार की होती है। वायु के प्रकोप मे उत्पन्न शोधनीय उदरामय मे भी विरेचन किया जाता है। जैसे—

पित्तदोषज—दाह, पाण्डु, कामला, हलीमक आदि।

रक्तज रोग—कुष्ठ, विसर्प, रक्तपित्त, गुद–मेढ्रपाक, प्लीहा, गुल्म, व्यग, वातरक्त आदि।

शोधनीय—उदावर्त, कृमिकोष्ठ, विबन्ध, शोथ आदि।

वमनोत्तर विरेचनीय—कुष्ठ, अपची, उन्माद आदि।

पित्ताधिष्ठान रोग—हृद्रोग, ज्वर, श्वास, नीलिका, व्यग आदि।

विरेचन की उपयोगिता और फल

(१) **पित्त का श्रेष्ठतम सार्वदेहिक उपचार**—विरेचन पित्तज विकारो की श्रेष्ठतम चिकित्सा है, क्योकि यह सर्वप्रथम आमाशय मे जाकर सम्पूर्ण विकृत पित्तमूल का अपकर्षण करता है। आमाशय के विकृत पित्त पर विजय प्राप्त कर लेने पर शरीर के विभिन्न भागो मे होने वाले पित्तज रोग स्वयमेव शान्त हो जाते है। जैसे किसी घर मे आग लग जाय और आग को बुझाकर उस पर काबू पा लिया जाय, तो सम्पूर्ण घर धीरे-धीरे शीतल हो जाता है, उसी तरह आमाशयिक पित्त के विजित होने पर समस्त शरीर के पित्तज रोग शान्त हो जाते हैं[1]।

(२) **सकल मल-सशोधन**—जिस व्यक्ति के शरीर मे कफ, पित्त, रक्त एव मल अधिक मात्रा मे हो और वे वायु से युक्त हो और उसकी शरीर बृहत् तथा बलवान् हो, उसका विरेचन द्वारा सशोधन करना प्रशस्त और लाभप्रद होता है[2]। इस प्रकार विरेचन सभी दोषो एव मलो का शोधनकारक है।

(३) **स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य**—शरीर के दूषित वात-पित्त-कफ-मूत्र-पुरीष आदि मल को दूर करने वाले, रोगो को नष्ट करनेवाले, बल-वर्ण को समृद्ध बनाने वाले सशोधन (विरेचन) का प्रयोग करने वाला व्यक्ति स्वस्थ और दीर्घजीवी होता है[3]।

(४) **बुद्धि-प्रसादन और स्थैर्य**—विरेचन का विधिवत् प्रयोग करने से बुद्धि मे निर्मलता, इन्द्रियो मे सबलता, धातुओ मे स्थिरता, उत्साह की वृद्धि, जठराग्नि की दीप्ति और वार्धक्य का विलम्ब से आगमन—ये लाभ होते हैं[4]।

---

१. विरेचन तु सर्वोपक्रमेभ्य. पित्ते प्रधानतम मन्यन्ते भिषज , तद्धि आदित एवामाशय-मनुप्रविश्य केवल वैकारिक पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गता. पित्तविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृह शीतीभवति तद्वत्। —च० सू० २०।१६

२ प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमला ससृष्टमारुता । बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभि ॥ —च० सू० २२।१०

३ मलापह रोगहर बलवर्णप्रसादनम् । पीत्वा सशोधन सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥ —च० सू० १५।२२

४. बुद्धे प्रसाद बलमिन्द्रियाणा धातुस्थिरत्व बलमग्निदीप्तिम् ।
चिराच्च पाक वयस करोति विरेचन सम्यगुपास्यमानम् ॥ —सु० चि० ३३।२७

(५) बहुरोगहर उपचार—विरेचन पित्तज विकार—पाण्डु, कामला, हलीमक, रक्तज रोग—कुष्ठ, वीसर्प, रक्तपित्त, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, व्यंग, वातरक्त आदि, शोधन-प्रधान रोग—उदावर्त, कृमि, गरदोष, विबन्ध, शोथ; मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत, मज्जागत और शुक्रगत विकारों तथा मानस रोगों—मद-मूर्च्छा आदि में प्रधान उपचार है[1]।

(६) विरेचन से सर्वथा दोष-निर्हरण— विरेचन-द्रव्यों में—१ उष्ण[2], २ तीक्ष्ण[3], ३. सूक्ष्म,[4] ४. व्यवायी,[5] ५ विकासी[6] और ६. अधोभागहरण—ये गुण होते हैं।

१. वह अपने उष्ण गुण से दोषों का पाक कर उन्हें गला देता है, जिससे दोष कोष्ठागमन[7] करते हैं।

२. वह तीक्ष्ण गुण से दोषों का पाचन और छेदन करता है, जिससे दोष अपने स्थान से क्षरण करने योग्य हो जाते हैं।

३ वह सूक्ष्म गुण से स्थूल एवं अणु स्रोतों में प्रविष्ट होकर दोषों का पाचन तथा विष्यन्दन करता है एवं उन्हें कोष्ठगमनोन्मुख बनाता है।

४ वह व्यवायी गुण से अपने पाचन होने से पूर्व ही शरीर में फैलकर अपना कार्य करने लग जाता है।

५. विकासी गुण से धातुओं से श्लिष्ट दोषों को पृथक् करता है।

६. विरेचन-द्रव्य अपने इन गुणों से युक्त होने के कारण एवं पाचन-प्रक्रिया द्वारा आत्मसात् होने के कारण अपने प्रभाव से हृदय में जाकर धमनियों का अनुसरण कर सूक्ष्म और स्थूल स्रोतों तथा धातुओं में लीन दोषों को अपनी तीक्ष्णता से विष्यन्दित तथा छिन्न-भिन्न करते हैं[8]।

---

१ विरेकसाध्या गुल्मार्शोविस्फोटव्यङ्गकामलाः। जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिप्लीहहलीमकाः॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यन्दः पक्वाशयव्यथा। योनिशुक्राशया रोगाः कोष्ठगाः कृमयो व्रणाः॥
वातास्रमूर्ध्वगं रक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः॥
कुष्ठमेहापचीग्रन्थिश्लीपदोन्मादकासिनः। पामाहृल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः॥
अ० हृ० सू० १८।८–१० तथा ३

२. उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचनः। —भा० प्र० पू० ख०

३. तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत्। —भा० प्र०

४. देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते। —भा० प्र०

५ पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति।
व्यवायि तद् यथा भङ्गाफेनं चाहिसमुद्भवम्॥ —भा० प्र०

६ सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकासि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवौ॥ —भा० प्र०

७ वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥ —च० सू० २८।३३

८ तत्रोष्ण-तीक्ष्ण सूक्ष्म व्यवायि विकासीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसङ्घातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन् अणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नः सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावादौषधस्याधः प्रवर्तते। —च० क० १।५

फिर दोष पक्वाशय में चले जाते हैं। विरेचन द्रव्य पृथ्वी-जल महाभूत-प्रधान होने के कारण अधोभागहर प्रभावयुक्त होने से अपान वायु की प्रेरणा से पक्वाशयस्थ दोषों को गुदमार्ग से बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार विरेचन द्वारा दोषों का निर्हरण हो जाने से शरीर निर्मल और मन प्रसन्न हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप सुखद स्वास्थ्य और आरोग्यमय जीवन की उपलब्धि होती है। इसी अभिप्राय से काश्यपसंहिता[1] में कहा गया है कि विरेचन द्वारा शरीर शोधन होने से धातुएँ शुद्ध हो जाती हैं और इन्द्रियाँ प्रसन्न और क्रियाशील रहती हैं तथा वीर्य की समृद्धि होकर सन्तानोत्पत्ति की क्षमता प्राप्त होती है।

(७) **व्यापक लाभ** —

१ विरेचन से अन्न में से त्याज्य पदार्थ बाहर निकाल दिये जाते हैं, जिससे कोष्ठबद्धताजन्य शिर शूल और व्याकुलता मिट जाती है।

२. विरेचन-द्रव्य हृदय और वृक्क की विकृति से उत्पन्न शोथरोग और जलोदर में जल-सदृश 'मल-विसर्जन' कराकर शरीर में जल की मात्रा घटाकर शोथ को दूर करते हैं।

३. ज्वर में विरेचन का प्रयोग शारीरिक उत्ताप को घटा देता है।

४. रक्तभार-वृद्धि का ह्रास करता है, जिससे रक्त का दबाव न्यून होने पर आन्तरिक यन्त्रों में होने वाले रक्तस्राव में न्यूनता आ जाती है।

५ विरेचन-द्रव्य पाचित और आत्मसात् होकर, रक्त में पहुँचकर, रक्तस्थ दोषों को दूर कर रक्तविकार का शमन करते हैं। विरेचन से रक्त विशुद्ध[2] होता है।

६. धमनी-विस्तार और अन्त्रवृद्धि आदि रोगों में मलत्याग की बाधा को दूर कर विरेचन लाभकारी होता है।

७ विरेचन गर्भाशय पर प्रभाव डालकर रज स्राव का प्रवर्तन कराता है।

८ वृक्क-प्रदाह और वातरक्त में विरेचन का प्रयोग लाभकारी है।

विरेचन के तीन भेद[3]

१. मृदुविरेचन, २ सुखविरेचन और ३ तीक्ष्णविरेचन—ये विरेचन के ३ भेद हैं।

१ जो द्रव्य कोष्ठ-स्थित पकने योग्य मलादिकों को बिना पकाये नीचे की ओर अग्रसारित कर देते हैं और अल्प कष्टकर होते हैं, उन्हे 'मृदुविरेचन' कहा जाता है।

---

१ विरेचनेन शुद्धयन्ति प्रसीदन्तीन्द्रियाणि च।
धातवश्च विशुद्धयन्ति बीज भवति कार्मुकम्॥ —का० सि०

२ प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थान् इच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वित पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्त पुरुष वदन्ति॥ —च० सू० २४।२४

३. चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, त्रिवृत् सुखविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्। —च० सू० २५।४०

जैसे—अमलतास[1]। अमलतास मृदुविरेचनों में श्रेष्ठ है। ज्वर में कोष्ठ-शोधनार्थ उपयुक्त है।

मात्रा—इसकी गुद्दी १०-१५ लेकर क्वाथ बनाकर दें।

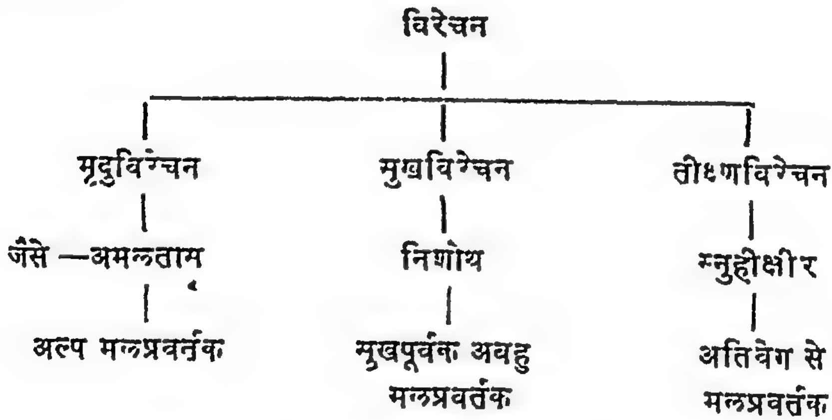
२. जो विरेचन-द्रव्य पक्व अथवा अपक्व मलादिकों को पतला करके सुखपूर्वक नीचे गिराता है, उसे सुखविरेचन कहते हैं। जैसे—निशोथ[2]। यह श्रेष्ठ सुखविरेचन है। ज्वर, रक्तपित्त, अर्श, कामला और उदर एवं राजयक्ष्मा में इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—३-५ ग्राम चीनी मिलाकर सुखोष्ण जल से।

३ जो द्रव्य कोष्ठस्थ मल की गाँठों को तोड़कर और कोष्ठ को आन्दोलित कर मलादि को बाहर निकालता है और तीव्र कार्यकर होता है, उसे तीक्ष्णविरेचन कहते हैं। जैसे—स्नुहीक्षीर[3]—थूहर का दूध। इसका उपयोग अत्यन्त तीव्र विरेचनार्थ किया जाता है। यह गुल्म, कुष्ठ और दीर्घकालीन उदररोगों में हितकर है।

मात्रा—मूल ½ ग्राम, स्वरस ५ बूँद और दुग्ध १२५ मि० ग्राम।

प्रयोग—कालीमिर्च को इसके दूध में सुखाकर रखते हैं और १-२ मिर्च के दाने खिलाते हैं।



विरेचन के चार प्रकार

शार्ङ्गधर और भावमिश्र ने विरेचन के चार प्रकार बतलाये हैं—

१ अनुलोमन, २. स्रंसन, ३. भेदन और ४ रेचन।

---

१. आरग्वधो गुरु स्वादु शीतल स्रंसनोत्तम। ज्वरहृद्रोगपित्तास्रवातोदावर्तशूलनुत॥
तत्फल स्रंसन रुच्य कुष्ठपित्तकफापहम्। ज्वरे तु सतत पथ्यं कोष्ठशुद्धिकर परम्॥
—भा० प्र० हरीत०

२ श्वेता त्रिवृद् रेचनी स्यात् स्वादुरुष्णा समीरहृत्। रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा॥
—भा० प्र० गुडूच्या०

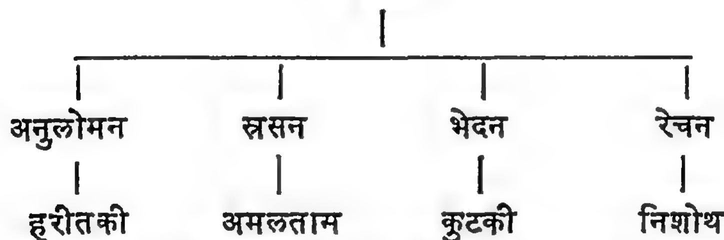
३. उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीर स्निग्धञ्च कटुकं लघु। गुल्मिना कुष्ठिनाञ्चापि तथैवोदररोगिणाम्॥
हितमेतद् विरेकार्थं ये चान्ये दीर्घरोगिण॥
—भा० प्र० गुडूच्या०

१. **अनुलोमन**[1]—जो द्रव्य अपक्व वात-पित्त-कफ एव मलो का परिपाक करके, वायु के वन्धन का भेदन करके उन्हे नीचे ले जाये और उन्हे बाहर निकाले, उसे **अनुलोमन** कहते है। जैसे—हर्रा। यह मृदुविरेचन है। इसके फल के वल्कल का चूर्ण प्रयोग किया जाता है। मात्रा ५ ग्राम सुखोष्ण जल से।

२ **स्रसन**—जो द्रव्य कोष्ठस्थित पकने योग्य मलादिको को बिना पकाये ही नीचे की ओर ले जाये, उसे **स्रंसन**[2] कहते है। जैसे—अमलतास। इसका वर्णन मृदुविरेचन मे किया गया है।

३ **भेदन**—जो द्रव्य शिथिल अथवा गाढे या पिण्डाकार हुए मलादिको को टुकडे-टुकडे कर नीचे की ओर गिराता है, उसे **भेदन**[3] कहते है। जैसे—कुटकी। यह अग्निदीपक, हृदय के लिए हितकर, पित्तज्वर, दाह, प्रमेह, कुष्ठ एव कृमिनाशक है। मात्रा १-२ ग्राम चूर्ण करके चीनी के साथ।

४. **रेचन**—जो द्रव्य पक्व या अपक्व मलादिको को पतला करके रेचन कराता है, उसे **रेचन**[4] कहते है। जैसे—निशोथ। इसका वर्णन सुखविरेचन मे किया गया है।



आधुनिक मतानुसार विरेचन के भेद

नव्य चिकित्साविज्ञान के अनुसार विरेचन को—१. मृदुविरेचन, २ विरेचन, ३. अतिविरेचन, ४. जलवत् विरेचनकारक, ५ लावणिक विरेचन और ६ पित्त-नि सारक विरेचन आदि श्रेणियो मे बाँटा गया है।

(१) **मृदुविरेचन** (Laxatives)—इस प्रकार की औषधियो से अन्त्र-क्रिया की स्वल्प वृद्धि होती है और मल कुछ नरम हो जाता है। जैसे—अजीर, बादाम, एलुआ, गन्धक, मधु, गुड, हर्रा, विल्व, पलाशवीज, अमलतास की गुद्दी, आँवला, आलूबुखारा, इमली आदि मृदुविरेचक है।

(२) **विरेचन** (Purgatives)—इसकी क्रिया मृदुविरेचन की अपेक्षा अधिक

---

१ कृत्वा पाक मलाना च भित्त्वा वन्धमधो नयेत्। तच्चानुलोमनं ज्ञेय यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥
—भा० प्र० मिश्र०

२. पक्तव्य यदपक्त्वैव श्लिष्ट कोष्ठे मलादिकम्।
नयत्यध स्रंसनं तद् यथा स्यात् कृतमालकम् ॥ —भा० प्र०

३. मलादिकमबद्ध यद् बद्ध वा पिण्डित मलै।
भित्त्वाऽध पातयति यद् भेदनं कटुकी यथा ॥ —भा० प्र०

४. भावप्रकाश।

२ हृदय और वृक्क की विकृति से उत्पन्न शोथरोग और जलोदर में जल-सदृश पतले दस्त कराकर शरीर से जल का निर्हरण किया जाता है। एतदर्थ इच्छाभेदी रस ऊँटनी के दूध के साथ प्रयोज्य है। गोमूत्र का भी प्रयोग उचित है।

३ विषमज्वर आदि मे ताप का ह्रास कराने के लिए मैगनेशिया सल्फास या ज्वरकेशरी वटी दी जाती है।

४. रक्तचाप को घटाने के लिए विरेचन का प्रयोग होता है।

५ रक्तविकार मे रक्तगत त्याज्य पदार्थों को दूर करने के लिए विरेचन का प्रयोग होता है।

६ धमनी-विस्तार, अन्त्रवृद्धि आदि मे मृदुविरेचन दिया जाता है।

७ विरेचन-द्रव्य गर्भाशय पर प्रभाव डालकर रज स्राव कराते हैं।

वक्तव्य—विरेचन के प्रयोग मे निम्नलिखित बातो पर ध्यान दें—

१ विरेचन के योग्यायोग्य देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, हीनयोग, अतियोग और पश्चात्कर्म आदि का ध्यान रखें।

२ मासिक धर्म के चार दिनो मे विरेचन-औषध स्त्रियों को न दें। सगर्भा को मुनक्का, गुलकन्द, हरीतकी आदि सौम्य विरेचन देना चाहिए।

३ बार-बार विरेचन लेने से अजीर्ण, अतिसार, अन्त्रप्रदाह आदि उपद्रव होने लग जाते हैं।

४ जमालगोटे का तेल १-२ घण्टे में, लावणिक विरेचन ३-४ घण्टे में, एरण्ड तैल ४-५ घण्टे मे और एलुआ आदि ८-१० घण्टे मे विरेचन कराते हैं।

५ एरण्डतैल के साथ सोठ का क्वाथ देने से उदर मे पीडा नही होती।

६ दुर्बल, वृद्ध और बालकों को मृदुविरेचन देना चाहिए।

७ मलावरोध के पुराने रोगी को विरेचन न दे, अपितु चन्द्रप्रभा, शुद्ध कुचला, नागभस्म आदि देकर अन्त्र को सबल बनायें।

८ वातरक्त के रोगी के लिए कुटकी, मजीठ आदि का प्रयोग करे।

९ जिसे विरेचन-औषधि न पचती हो या छर्दि आदि होने लगे, उसे विरेचन न देकर **वस्ति** का प्रयोग करे।

१० अधिक तीव्रविरेचन-औषध के साथ अजवायन मिला देने से उसकी उग्रता कम हो जाती है।

११ **प्राकृतिक प्रयोग**—ऐसा उपाय करे कि कोष्ठबद्धता होवे ही नही, इसके लिए भूसी मिले मोटे आटे की मोटी रोटी, परवर, करेला, नेनुआ-मूली, पालक, चौलाई, सूरण की सब्जी, देशी घी, अगूर, किशमिश, मुनक्का, पपीता तथा अजीर का सेवन करना हितकर है।

पीने के लिए गरम जल का प्रयोग करना, नियमित व्यायाम करना और घूमना-टहलना चाहिए और गरिष्ठ पदार्थ, वनस्पति घी के बने आहार-द्रव्य, कोहडा, कटहल, बण्डा, अरुई, भिण्डी, दही, अधपका चावल, खडी दाल और कच्चे अन्न नहीं खाने चाहिए।

कबीला, ११ वायविडङ्ग, १२ इन्द्रवारुणी, १३ पीलु, १४ चिरोजी, १५ मुनक्का, १६ गम्भार का फल, १७ फालसा, १८ बेर, १९. अनार, २० आँवला, २१ हर्रा, २२ बहेडा, २३ सफेद पुनर्नवा, २४ रक्त पुनर्नवा और २५ विदारीगन्धादि गण[१]।

सुश्रुतोक्त विरेचन-द्रव्य

सुश्रुत[२] ने चरकोक्त द्रव्यों के उल्लेख के साथ—कुश, काश, बकायन और ज्योतिष्मती का अधिक उल्लेख किया है।

[३]वाग्भटोक्त विरेचन-गण

१ दन्तीमूल, २ निशोथमूल, ३ आँवला, ४ हर्रा, ५ बहेडा, ६ इन्द्रायणमूल, ७ सेहुण्डदुग्ध, ८ यवतिक्ता, ९ नीलबीज, १० तिल्वक, ११ अमलतास, १२ कबीला, १३ भडभाड, १४ दुग्ध और १५ गोमूत्र।

विरेचन-द्रव्यों के प्रयोग की कल्पनाएँ[४]

रोगी की प्रकृति आदि का विचार कर उचित सहपान के साथ विरेचन औषधों का प्रयोग करना फलप्रद होता है। जैसे—चूर्ण, वटी, आसव, अरिष्ट, क्वाथ, यूप, घृत, दुग्ध, यवागू, राग-षाडव, मोदक, तर्पण, मासरस, अवलेह, सुरा आदि, घृतयोग,[५] तैलयोग, क्षीरयोग, मद्ययोग, मूत्रयोग, मासरसयोग, भक्ष्यान्नयोग, अवलेहयोग तथा क्षीर-रस-कल्क-कषाय-श्रृतशीत फाण्ट।

विरेचन का पूर्वकर्म

विरेचन-कर्म करने का निश्चय हो जाने पर निम्नाङ्कित बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए—१ विरेचनोपयोगी सामग्री का सञ्चय, २ रोगी का परीक्षण, ३ रोगी को तैयार करना तथा ४ प्रयोज्य औषधों की कल्पना करना।

(१) सामग्री[६]—

विरेचन के प्रयोग के पूर्व रोगी का स्नेहन-स्वेदन और वमन कराना चाहिए। स्नेहन के लिए—तिक्तघृत, षट्पलघृत, कल्याणघृत, पिप्पल्यादिघृत, शुद्धघृत और

---

१ च० वि० ८।१३६। २. सु० सूत्र० ३९।४।

३ निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि।
शम्पाककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥ —अ० हृ० सू० १५

४. च० वि० ८।१३६।

५ घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु।
भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु विरेचनान्यग्रमतिर्विदध्यात्॥
क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः श्रृतश्च शीतश्च तथैव फाण्टम्।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः॥ —सु० सू० ४४।९०-९१

६ वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात् सम्भारा उपकल्पनीया भवन्ति। —च० सू० १५।३

शुद्ध तिलतैल का उपयुक्त मात्रा में संग्रह कर लेना चाहिए। स्वेदनार्थ वाष्पस्वेदन, नाडीस्वेदन या होलाकस्वेदन की व्यवस्था रखे। मलपात्र (Bed pans), मेजर-ग्लास और जल की व्यवस्था कर लें। सम्भावित उपद्रवशमनार्थ —शिवाक्षारपाचन चूर्ण, हिंग्वादि वटी, शंखवटी, संजीवनी वटी, कुटजघन वटी, कर्पूर रस, गंगाधर रस, बिल्वादि चूर्ण और जातीफलादि चूर्ण आदि रख लेना चाहिए।

(२) रोगी-परीक्षा—

सर्वप्रथम यह निश्चय करे कि क्या रोगी विरेच्य है? यदि है तो देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति आदि का परीक्षण कर उसके लिए विरेचन-प्रकार का निर्धारण करे तथा रोगानुसार स्नेहन, स्वेदन और वमन के प्रयोग का निश्चय करे।

(३) रोगी की तैयारी—

१ यदि रोगी को विरेचन से पूर्व वमन कराना हो, तो स्नेहन-स्वेदन-वमन-पथ्यग्रहण के पश्चात् फिर नये क्रम से पूर्वोक्त स्निग्धरस आदि से पुनः स्नेहन करे और भोजन में भी स्नेह की अधिक मात्रा दे[1]।

२ वमन के बाद संसर्जन-क्रमानुसार पथ्य के प्रयोग के बाद नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दिन स्नेहपान करावे[2]।

३ स्नेहन के बाद तीन दिन विश्राम कराके विरेचन कराना चाहिए[3]।

४ विरेचनार्ह को स्नेह से मिश्रित द्रव, उष्ण मांसरस और भात अम्लरस द्रव्यों के साथ तीन दिन तक खिलाकर विरेचन दें।

५ विरेचन का प्रयोग प्रातःकाल निरन्न खाली पेट करना चाहिए।

६. रोगी को मानसिक दृष्टि से भी तैयार करना चाहिए। उसे एक दिन पहले ही यह बतला दे कि 'आज रात भोजन में उष्ण, द्रव, स्निग्ध पदार्थों का सेवन करना है और कल प्रातःकाल विरेचन की औषध दी जायेगी, जिससे शरीर का शोधन होकर रोग ठीक हो जायेगा, कोई परेशानी नहीं होगी।'

(४) प्रयोज्य औषध की कल्पना

१ दुर्बल, पूर्व में शोधित, अल्पदोष, कृश और अज्ञातकोष्ठ रोगी को प्रारम्भ में मृदु और अल्पमात्रा में औषध देनी चाहिए। ऐसे रोगी को थोड़ी मात्रा में औषध देकर बार-बार विरेचन कराना निरापद होता है[4]।

---

१ (क) अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य । —च० सू० १५।१७
(ख) रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः स्निग्धैः कफावृद्धिकरैर्विरेच्य । —च० सि० १।९
२ संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेत् । —च० सि० १।२०
३ स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत् ।
स्नेहवद् द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम् ॥ —च० सू० १३।८०
४. दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः । अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ॥
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥ —अ० हृ० सू० १८।५०-५१

२ मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति का विरेचन गुड के शर्बत, गन्ने के रस, दूध, खीर, खिचडी, घी, गम्भार, त्रिफला, द्राक्षा, मद्य और गरम जल के पीने से हो जाता है, किन्तु क्रूर कोष्ठवाले पर इन सबका कोई असर नही होता[1]।

३ क्रूर कोष्ठवाले व्यक्ति की ग्रहणी मे वात की प्रधानता होती है और मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति की ग्रहणी मे पित्त की प्रधानता रहती है तथा वात और कफ अल्प प्रमाण मे होते है[2]। अत वह सुख-विरेच्य होता है।

४ औषध की मात्रा और प्रकार के निश्चय के पूर्व रोगी के कोष्ठ, दोष, अग्नि और प्रकृति आदि का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

तीक्ष्ण अग्निवाले व्यक्ति को तीक्ष्ण औषध अधिक मात्रा मे देनी चाहिए और मन्दाग्निवाले को मृदु औषध भी अल्प मात्रा मे देनी चाहिए।

मात्रा का सामान्य प्रमाण[3]

(शार्ङ्गधरानुसार)

	उत्तम	मध्यम	हीन
विरेचन क्वाथ की मात्रा	२ पल (१०० मि० ली०)	१ पल (५० मि० ली०)	आधा पल (२५ मि० ली०)
कल्क, चूर्ण, मोदक	५० ग्राम	२५ ग्राम	१२ ग्राम

व्यवहारोपयोगी मात्रा

	क्रूरकोष्ठ	मध्यमकोष्ठ	मृदुकोष्ठ
इच्छाभेदी रस	५०० मि० ग्रा०	२५० मि० ग्रा०	१२५ मि० ग्रा०
एरण्डतैल	१२० मि० ली०	६० मि० ली०	३० मि० ली०
इसबगोल	१५ ग्राम	८ ग्राम	४ ग्राम
त्रिवृत्चूर्ण	१५ ग्राम	८ ग्राम	४ ग्राम
पञ्चसकारचूर्ण	१५ गाम	८ ग्राम	४ ग्राम
मुनक्का या अमलतास का क्वाथ	१२० मि० ली०	६० मि० ली०	३० मि० ली०

---

१ गुडमिक्षुरस मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि। पायस कृशरा सर्पि काश्मर्यं त्रिफलारसम्॥
द्राक्षारस पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्य वा तरुण पीत्वा मृदुकोष्ठी विरिच्यते॥
विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठ कदाचन॥ —च० सू० १३।६६-६८

२ भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्वणाऽनिला। उदीर्णपित्ताल्पकफा ग्रहणीमन्दमारुता॥
मृदुकोष्ठस्य तस्माद् स सुविरेच्यो नर. स्मृत। —च० सू० १३।६८-६९

३ द्विपलं श्रेष्ठमाख्यात मध्यम च पलं भवेत्। पलार्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्॥
कल्कमोदकचूर्णानां कर्षं मध्वाज्ययोगत॰। कर्षद्वयं पलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया॥

४ समुचित (हृतदोष) विरेचन होने पर पहले मल, तब पित्त, फिर कफ निकलता है तथा शरीर में कृशता, दौर्बल्य और लघुता होती है[१]।

५ यदि औषध पच जाये और विरेचन न हो, तो उस दिन भोजन करा दे। पुन दूसरे दिन विरेचनार्थ औषध दे। यदि फिर भी विरेचन न हो, तो १० दिन बाद पुन: स्नेहन-स्वेदन कराकर फिर विरेचन की तीव्रतम औषध पिलाकर विरेचन कराना चाहिए।

(३) वेग-निर्णय—

१ विरेचन पिलाने के बाद मलसयुक्त जो पहले २–३ वेग आते हैं, उनको छोड़कर वेगों को गिनना चाहिए।

२ विरेचन में प्रवर, मध्य और अवर शुद्धि का निर्णय, वेगों की संख्या, विसृष्ट मल का वजन अन्तिम विरेचन और लक्षणों के आधार पर किया जाता है।

३ प्रवर शुद्धि में ३० वेग, ४ प्रस्थ विसृष्ट मल और कफान्त विरेचन,

मध्य शुद्धि में २० वेग, ३ प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन और

अवर शुद्धि में १० वेग, २ प्रस्थ विसृष्ट मल और कफान्त विरेचन—ये लक्षण होते हैं।

सारणी

क्रमाङ्क	शुद्धि	वेग	मान	अन्त	लिङ्ग
१	प्रवर	३०	४ प्रस्थ	कफान्त	लक्षणानुसार
२	मध्य	२०	३ ,,	,,	,,
३	अवर	१०	२ ,,	,,	,,

वक्तव्य—प्रत्येक वेग के समय प्रतिग्रह (Bedpan) अलग-अलग रखें और सबको यथाक्रम (वेगानुसार) रखें बाद में प्रयोगशाला में परीक्षार्थ भेजें, जिससे वेगों का रूपान्तर का निरीक्षण हो सके। लैङ्गिकी शुद्धि को [illegible] आदि के लक्षणों के अनुसार जानना चाहिए।

(४) अयोग-लक्षण—

विरेचन के अयोग में तीनों दोषों का प्रकोप होता है, जिससे [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible], [illegible], अतिप्रवाह तथा [illegible] [illegible]।

१ [illegible]
[illegible]
[illegible] —[illegible]
२ [illegible]
[illegible] —[illegible]

(५) सम्यग्योग-लक्षण[1]—

प्रवर, मध्यम और अवर शुद्धि के अनुसार सम्यक् शुद्धि होने पर क्रमश विरेचन के ३० वेग, २० वेग और १० वेग होते हे। अन्त मे कफ आता है, वायु का अनुलोमन होता है, स्रोत शुद्ध हो जाते हे और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ अपना कार्य सुचारु रूप से करने लगती हे। शरीर मे हलकापन होता हे, अग्नि प्रदीप्त होती है और रोग का ह्रास होता हे। क्रमश मूत्र, मल, पित्त, औपध, कफ और वात का निर्गमन होता है[2]।

(६) अतियोग-लक्षण[3]—

प्रवर आदि शुद्धि के प्रमाण से अधिक वेग आना और मलादि का भी अधिक प्रमाण मे निकलना तथा कफ-पित्त-वात का क्षय होना—ये लक्षण होते हे।

स्पर्शज्ञान का अभाव, अगमर्द, क्लम, कम्पन, निद्रा, मूर्च्छा, दौर्बल्य, आँखो के सामने अँधेरा छा जाना, उन्माद, हिक्का, गुदभ्रंश और शूल होना—ये लक्षण विरेचन के अतियोग के सूचक है। गुदा मे कफपित्त-विहीन श्वेत, कृष्ण, मरक्त, मासधावनजलतुल्य या मेद खण्डमिश्रित जल जैसा मल निकलना, गुदवलि का बाहर निकलना, प्यास लगना, चक्कर आना, आँखो का भीतर चले जाना और अतिवमन के लक्षणो जैसे लक्षणो का उत्पन्न होना—ये विरेचन के अतियोग के लक्षण है।

विरेचन-लक्षण सारणी

अयोग-लक्षण	सम्यग्योग-लक्षण	अतियोग-लक्षण
१ कफप्रकोप	१ स्रोतोविशुद्धि	१ कफक्षयज विकार
२ पित्तप्रकोप	२ इन्द्रियप्रसाद	२ पित्तक्षयज विकार
३ वातप्रकोप	३ लघुता	३ वातक्षयज विकार
४ अग्निमान्द्य	४. अग्निदीप्ति	४ सुप्ति
५ गौरव	५ अनामयत्व	५ अगमर्द
६ प्रतिश्याय	६ क्रमश विट्, पित्त, कफ, वात का नि सरण	६ क्लम
७ तन्द्रा		७ वेपथु
८ छर्दि	७ वातानुलोमन	८ निद्रा

१ (क) स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलाना सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् कमेण ॥ —च० सि० १।१७
(ख) सुश्रुत चि० ३३।२५ तथा अ० हृ० सू० १८।३९।

२ एव विरेचने मूत्रपुरीषपित्तऔषधकफा (गच्छन्ति) इति। —सु० चि० ३३।२३

३ (क) कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्था सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्या।
निद्राबलाभावतम प्रवेशा- सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति ॥ —च० सि० १।१९
(ख) मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगा- शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम् ॥ —सु० चि० ३३।२४
(ग) अ० हृ० सू० १८।४०-४२।

९ अग्नि	८ अयोग लक्षणों का अभाव	९ बलाभाव
१० वातप्रतिलोमता		१० तम प्रवेश
११ दाह		११ उन्माद
१२ हृदय-अशुद्धि		१२ हिक्का
१३ कुक्षि-अशुद्धि		१३ मूर्च्छा
१४ कण्डू		१४ गुदभ्रंश
१५ पिडका		१५ शूल
१६ विड्भंग		१६ कफपित्त-रहित श्वेत जल निकलना
१७ मूत्रभंग		१७ कफपित्त-रहित लोहित जल निकलना
		१८ मांसधावनतुल्य जल निकलना
		१९ मेद खण्ड-मिश्रित जैसा जलमय म[illegible]
		२० तृष्णा
		२१ भ्रम
		२२ नेत्र का अन्दर प्रवेश
		२३ अतिवमनवत् उपद्रव
		२४ रक्तक्षयज विकार

(७) उपद्रवों का शमन—

आचार्य चरक ने कहा है कि परिचारक की असावधानी, औषध की [illegible], रोगी के प्रमाद अथवा चिकित्सक की भूल से जब विरेचन का अयोग या अतियोग [illegible] है, तो १० प्रकार के उपद्रव होते हैं। जिनमें—१ [illegible], २ परि[illegible] [illegible] आदि [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] उत्पन्न होते हैं, [illegible] [illegible] और ३ [illegible] [illegible] होता है।

[illegible]

विरेचनौषधि की कल्पनाएँ

[illegible]

भोजन के न पचने से विरेचनकारक औषध वमनकारक हो जाती है। ऐसी स्थिति मे रुग्ण का पुन स्नेहन-स्वेदन करके पुन विरेचनौषधि दे।

अयोग की स्थिति मे सामान्यत अभ्यङ्ग और स्वेदन करके पुन विरेचनौषधि दे अथवा गोमूत्रयुक्त वस्ति दे।

अयोग के कारण होने वाले विभ्रश, हिक्का, पिण्डिकोद्वेष्टन, कण्डू, विवर्णता आदि मे—

२–२ घण्टे पर ४–५ बार—

सूतशेखर रस	२५० मि० ग्रा०
हृदयार्णव	१ ग्राम
प्रवाल पिष्टी	१ ग्राम
मुक्ताशुक्ति	१ ग्राम
मधु मे।	योग ५ मात्रा

हिग्वादि वटी, रसोनादि वटी, शखवटी, शिवाक्षारपाचन, वैश्वानर चूर्ण —इनमे मे जो उपलब्ध हो बीच-बीच मे २–२ घण्टे पर देते रहे।

अतियोग के लक्षणो मे मुख पर शीतल जल के छीटे दे। कषाय और मधुर रस की औषधे दे। षडङ्गपानीय, सौफ का अर्क, अजवायन का अर्क या गुलाबजल पिलाये।

२–२ घण्टे पर—

सजीवनी वटी	१ ग्राम
कर्पूर रस	१ ग्राम
शखभस्म	१ ग्राम
नागकेशर चूर्ण	५ ग्राम
जातीफलादि चूर्ण	७ ग्राम
मधु से।	योग ७ मात्रा

सामान्य उपद्रव

(१) **आध्मान** मे—१ अभ्यङ्ग, स्वेदन, गुदवर्ति, निरूह और अनुवासन वस्ति दे। २ एरण्डमूलादि क्वाथ आधा लीटर मे एरण्ड तैल १०० मि० ली० मिलाकर निरूहवस्ति दे। ३ शिवाक्षारपाचन चूर्ण २-२ ग्राम, २-२ घण्टे पर दे और उसके बाद हिग्वादि वटी चूसने के लिए दे।

(२) **परिकर्तिका** मे—१ उदुम्बरत्वक् क्वाथ आधा लीटर मे १०० मि० ली० तिल-तैल मिलाकर पिच्छावस्ति दे। २ शिवाक्षारपाचन और हिग्वादिवटी देते रहे।

(३) **परिस्राव**[1] मे—१ अल्पदोष मे कुटजघन वटी, शखोदर रस, नागकेशर

---

१ अल्पाल्प स्रावयेत् कण्डू शोफं कुष्ठानि गौरवम् ॥
कुर्याच्चाग्निबलोत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुता । परिस्राव स, न दोष शमयेद् वामयेदपि ॥

चूर्ण आदि का प्रयोग कर शमन उपचार करे। २ दोष अधिक हों और ऊर्ध्वगामी हों, तो वमन कराये। ३ अधोभाग प्रवृत्त हो तो विरेचन कराये, फिर स्नेहन-स्वेदन कराकर आस्थापन वस्ति दे। तदनन्तर ग्रहणीरोगाधिकार के आसव, चूर्ण एवं दीपन-पाचन औषधें देकर शमन-चिकित्सा करे।

(४) **हृद्ग्रह**[1]—१ दोषों की ऊर्ध्वगति के कारण आमाशय के ऊर्ध्वभाग में स्तब्धता होने से हृदयप्रदेश में जकड़न की प्रतीति होती है। इसमें वमन कराना चाहिए। २ अग्निदीपन, पाचन, वातानुलोमन और बल्य उपचार करे। ३ चित्रकादि वटी, शङ्खवटी, शिवादि वटी और दशमूलारिष्ट दे। ४ संज्ञानाश (मूर्च्छा में) नस्य दे और शीतोपचार करे।

(५) **अङ्गग्रह**[2]—सम्पूर्ण शरीर का तैलाभ्यङ्ग एवं स्वेदन करना चाहिए और बाह्याभ्यन्तर वातनाशक चिकित्सा करे।

(६) **जीवादान**—शुद्ध रक्त निकलने को जीवादान कहते हैं। निकले हुए रक्त में सत्तू या भात मिलाकर कुत्ते या कौवे को खिलायें, यदि वह खा जाये तो शुद्ध रक्त जानें और नहीं खाने पर दुष्ट रक्त जानें। इस स्थिति में—१ शीतल जल से परिषेक करे, बर्फ का पानी पिलाये, अनार का रस या द्राक्षाक्वाथ पीने को दे। २ न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में घृत मिलाकर पिच्छावस्ति दे या इक्षुरस और घृत की वस्ति दे या पलाशपत्र के पुटपक्व रस में घृत मिलाकर वस्ति दे। ३ कुटजघन वटी, कर्पूररस, प्रवालपिष्टी, नागकेशर चूर्ण, चन्दनासव एवं उशीरासव का यथोचित प्रयोग करे।

(७) **विभ्रंश**[3]—यह तीन प्रकार का होता है—१ गुदभ्रंश, २. संज्ञाभ्रंश और ३ कण्डू-पिडका आदि होना।

१ **गुदभ्रंश** में गूलर-बेर-वटजटा-लोध-चमेली के पत्ते के क्वाथ में फिटकरी का फूला मिलाकर उसमें रुई भिगोकर गुदा पर रखे। चाङ्गेर्यादि तैल लगाकर गुदा को अन्दर प्रविष्ट करे : मूषक तैल का गुदा के आभ्यन्तर में लेप करना लाभप्रद है।

२ **संज्ञानाश** में मन की प्रसन्नता के लिए मधुर संगीत-ध्वनि, इत्र, सुगन्धित द्रव्य, शीतल तैल-लेप आदि प्रयोग करे।

३ **कण्डू-पिडका आदि भ्रंश**[4] में स्नेहन-स्वेदन कराकर तीक्ष्ण शोधन दे।

स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेत विरेचनम्। शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ॥ —च० सि० ६।६८-७०

१ तन्द्रोपमरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः ... तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टीमधुकमिश्रेण ... आस्थापयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टीमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्, पश्चात् ... गोमूत्रायेण वेन वस्तिभिरुपचरेत्। —सु० चि० ३४।१९

२ तत्र वा ... सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत्। —च० सि० ६।७७

३ गुद भ्रंशं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्। सामगान्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ॥

४ तथा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन् दोषा प्रकुपिता गदान्।
स विभ्रंशो मतस्तत्र व्याधयश्चाव्याधिभेषजम् ॥ —च० सि० ६।८५,८७

(८) **स्तम्भ**[1] मे- १ लघन, २ पाचन, ३. तीक्ष्ण विरेचन और ४ वस्ति चिकित्सा करे।

(९) **उपद्रव**[2] मे—१ स्नेहन-स्वेदन तथा २ वातनाशक उपचार करे।

(१०) **क्लम**[3] मे—१ लघन, २ पाचन, ३. स्नेहन और ४ तीक्ष्ण शोधन चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—औषधो के सम्यक् प्रयोग मे कुशल, अनुभवी, दृष्टकर्मा, अभ्यासनित्य चिकित्सक, जब विधि-विधानपूर्वक शोधन-कर्म कराता है, तो विना किसी उपद्रव के सफलता के साथ सशोधन-कार्य सम्पन्न करता है। सशोधन-चिकित्सा के द्वारा दोषो का प्रकोप सर्वथा निर्मूल हो जाता है, अत स्थायी आरोग्यलाभ के लिए सशोधन सर्वोत्तम चिकित्सा है।

पश्चात्कर्म

विरेचन के वेग समाप्त हो जाने के वाद से प्राकृत भोजन कराने के समय के वीच मे जो कर्म किये जाते हैं, वे पश्चात्कर्म कहे जाते हैं। जैसे—१ ससर्जन-क्रम, २ तर्पण औषध, ३ सयम-नियम और ४ विरेचनोत्तर कर्म।

इन चारो मे से १-२-३ का वर्णन इस पुस्तक के तीसरे अध्याय (वमन प्रकरण) मे देखे। विरेचन मे भी वमनवत् वह सव करना चाहिए।

विरचनोत्तर कर्म—

१ विरेचन के वाद यदि कोई शोधन-कर्म न करना हो, तो ससर्जन-क्रम समाप्त हो जाने पर रोगानुसार शमन-चिकित्सा करनी चाहिए। २ यदि विरेचन के वाद वस्ति देनी हो, तो विरेचन समाप्ति के नवे दिन पहले अनुवासनवस्ति दे, फिर तीन दिन के वाद अभ्यक्त किये हुए व्यक्ति को निरूहवस्ति देनी चाहिए[4]।

विरेचन के ७ दिन के वाद ही निरूहवस्ति देनी चाहिए, क्योकि विरेचन मे कोष्ठ रिक्त हुआ रहता है, ऐसे समय निरूह के प्रयोग का शरीर पर घातक प्रभाव हो सकता है[5]।

कुछ विरेचन-योग

इच्छाभेदी रस, नाराच रस, अश्वकचुकी, जलोदरारि, सिंहनाद गुग्गुलु, आरोग्यवर्धिनी, अविपत्तिकर चूर्ण, एरण्डतैल, त्रिवृत् चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, हरीतकी चूर्ण,

---

१ तीक्ष्ण वस्ति विरेक वा सोऽर्हो लङ्घितपाचित । —च० सि० ६।८९

२ स्नेहस्वेदादिरत्रात्र कार्यो वातहरो विधि । —च० सि० ६।९१

३ आशु तदुल्लिखेत्। लङ्घन पाचन चात्र स्निग्ध तीक्ष्ण च शोधनम्। —च० सि० ६।९३

४ ससृष्टभक्त नवमेऽह्नि सर्पिस्त पाययेताप्यनुवासयेद्वा।
तैलाक्तगात्राय ततो निरूह दद्यात् त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय ॥ —च० सि० १।२०

५. नरो विरिक्तस्तु निरूहदान विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम्।
शुद्धो निरूहेण विरेचन च तद्ध्यस्य शून्य विकसेच्छरीरम् ॥ —च० सि० २।२६

इसब्वेल, नारायण चूर्ण, अभयारिष्ट, आरग्वधादि क्वाथ, गुरण्टपाक मेवर्तापाक, कालादाना चूर्ण आदि ।

विरेचन के कुछ कल्प

१ हरीतकी, वायविडग, सेंधानमक, सोठ, निशोथ और मरीच का चूर्ण ५ ग्राम की मात्रा मे गोमूत्र के साथ दे ।

२ बडी हर्रे का चूर्ण सेंधानमक मिलाकर १० ग्राम गरम जल मे दे ।

३. एरण्ड तैल ६० मि० ग्रा० १५० मि० ली० त्रिफला क्वाथ मे मिलाकर पिलाये या दूध मे दे ।

४ त्रिवृत् चूर्ण ६ ग्राम त्रिकुट २ ग्राम के साथ दे ।

५ त्रिफला चूर्ण १० ग्राम उष्णोदक से दे ।

६ त्रिवृत् चूर्ण ६ ग्राम समान चीनी के साथ दे ।

७ कल्याण गुड २०-२५ ग्राम की मात्रा उष्णोदक मे दे ।

८ अभयादि मोदक २० ग्राम गरम जल से दे ।

९ अमलतास की फली के गूदे के क्वाथ मे त्रिवृत् चूर्ण और चीनी डालकर पिलाये ।

१० स्नुहीक्षीर २-४ बूँद घी के साथ प्रयोग करे ।

११ सुरा के साथ स्नुहीक्षीर मिलाकर प्रयोग करे ।

१२ दन्ती-द्रवन्ती के मूल के चूर्ण को मूँग के यूष के साथ प्रयोग करे ।

हरीतकी-प्रयोग

ऋतु के अनुसार हरीतकी-प्रयोग रसायन है, इसे—१ वर्षाऋतु मे सेंधानमक के साथ, २ शरद् मे चीनी के साथ, ३ हेमन्त मे सोठ चूर्ण के साथ, ४ शिशिर मे पीपल के साथ, ५ वसन्त मे मधु के साथ तथा ६ ग्रीष्म मे गुड के साथ ४ ग्राम की मात्रा मे प्रयोग करे ।

दोषानुसार हरीतकी—हरीतकी चूर्ण नमक के साथ कफनाशक है, चीनी के साथ पित्तनाशक है, घी के साथ वातनाशक है तथा गुड के साथ सर्वरोगनाशक है ।

षष्ठ अध्याय

वस्तिकर्म

परिचय और परिभाषा

'सामान्य तौर पर वस्तिकर्म उस क्रियाकलाप को कहा जाता है, जिसमे औषधो के क्वाथ, तैल, दुग्ध, मासरस, रक्त आदि तरल पदार्थो को वस्तियन्त्र मे भरकर गुदद्वार मे तैल लगाकर उसमे वस्तिनेत्र प्रविष्ट कर, वस्तिपुटक को दबाकर तरल पदार्थ को पक्वाशय मे प्रविष्ट किया जाता है।

प्राचीनकाल मे गाय-बैल-भैस आदि के मूत्राशय या वस्ति को लेकर संशोधित कर उसका ही इस कार्य मे प्रयोग किया जाता था, इसीलिए इस क्रिया का नामकरण[1] वस्तिकर्म पड गया।

गुदमार्ग के अतिरिक्त मूत्रमार्ग और योनि मे भी वस्ति दी जाती है, जिसे **उत्तरवस्ति** कहते है। व्रण मे भी वस्ति दी जाती है, जिसे व्रणवस्ति कहते है। इस प्रकार गुदा से पक्वाशय मे, मेढ्र से मूत्राशय मे, योनि से गर्भाशय मे और व्रणमुख मे व्रण मे वस्ति दी जाती है।

वस्तिकर्म वातरोग की प्रधान चिकित्सा है, परन्तु वस्ति का प्रभाव सार्वदैहिक होता है और शरीर के किसी भी अङ्ग मे किसी भी दोष से उत्पन्न व्याधि मे इससे लाभ होता है। वस्तुत पित्त और कफ पगु है और जैसे वायु अपने प्रवाह से मेघो को इधर-उधर उडा ले जाता है, वैसे ही शरीरस्थ वायु पित्त और कफ को सचालित करता है। वायु की स्वस्थता पर ही पित्त और कफ की स्वस्थता निर्भर है। जब कोई वात-विकार होता है, तो वे दोनो भी प्रभावित हो जाते है। वायु का प्रधान स्थान पक्वाशय है और वहाँ वस्तिद्रव्य को प्रविष्ट कर वायु का उपचार किया जाता है। वायु की चिकित्सा मे तीनो दोषो की चिकित्सा हो जाती है। वस्तिकर्म का क्षेत्र बडा व्यापक है। यह सम्पूर्ण शरीरगत रोगो की चिकित्सा है। यह सर्वश्रेष्ठ, अतिशय महत्त्वपूर्ण, विलक्षण लाभकारी अग्रणी[2] उपक्रम है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता—सिद्धि० अ० १, २, ३।
२ सुश्रुतसहिता—चि० अ० ३५, ३७, ३८।
३ अष्टाङ्गसङ्ग्रह—सूत्र० अ० २८।
४ अष्टाङ्गहृदय—सूत्र० अ० १९।
५ भावप्रकाश—पू० ख० पञ्चकर्म।

---

१ वस्तिना दीयते यस्मात् तस्माद् वस्तिरितीरितः। —शार्ङ्गधर० उ० ख०।
२. उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणी. । —अ० हृ० सू० १९।१

६. शार्ङ्गधरसंहिता —उ० ग्र० ।

चरक-सुश्रुत-वाग्भट के अनुसार

आस्थापन या निरूह वस्ति के अयोग्य रोग और रोगी[1]

१. अजीर्णी	२ अतिस्निग्ध	३ पीतस्नेह
४. उत्क्लिष्ट दोष	५ अल्पाग्नि	६ यानक्लान्त
७ अतिदुर्बल	८ क्षुधार्त	९ तृष्णार्त
१० श्रमार्त	११. अतिकृश	१२. भुक्तभक्त
१३ पीतोदक	१४ वमित	१५. विरिक्त
१६. कृतनस्यकर्म	१७ क्रुद्ध	१८. भीत
१९ मत्त	२०. मूर्च्छित	२१ प्रसक्तछर्दि
२२ प्रसक्तनिष्ठीव	२३ श्वासप्रसक्त	२४ कासप्रसक्त
२५ हिक्काप्रसक्त	२६ बद्धगुदोदर	२७ छिद्रोदर
२८ दकोदर	२९. आध्मान	३० अलसक
३१. विसूचिका	३२ आमदोष	३३. आमातिसार
३४. मधुमेह-प्रमेह	३५ कुष्ठ	३६ अर्श
३७ पाण्डु	३८. भ्रम	३९. अरोचक
४० उन्माद	४१. शोकग्रस्त	४२. स्थौल्य
४३ कण्ठशोष	४४ क्षतक्षीण	४५ सप्तममास गर्भिणी
४६ बाल-वृद्ध	४७ अल्पवर्चं	४८ शूनपायु
४९ आमप्रजाता	५० शोफ ।	

आस्थापन के योग्य रोग और रोगी[2]

१. सर्वाङ्गरोग	२. एकाङ्गरोग	३ कुक्षिरोग
४ वातसग	५. [illegible]सग	६. मलसग
७. शुक्रसग	८. [illegible]क्षय	९. मासक्षय
१०. दोषक्षय	११ शुक्रक्षय	१२. आध्मान
१३ अगसुप्ति	१४ क्रिमिकोष्ठ	१५ उदावर्त
१६. शुद्धातिसार	१७. पर्वभेद	१८ अभिताप
१९ प्लीहदोष	२० गुल्म	२१ शूल
२२ हृद्रोग	२३ भगन्दर	२४ उन्माद
२५ ज्वर	२६ ब्रध्न	२७. शिर शूल
२८ कर्णशूल	२९. हृदयशूल	३० पार्श्वशूल

१ (क) च० सि० २।१४। (ख) सु० चि० ३५।२१। (ग) अ० हृ० सू० १९।४-६।
(घ) च० सि० २।१५।

२ (क) च० सि० २।१६। (ख) सु० चि० ३५।५। (ग) अ० हृ० सू० १०।२-३।

३१ पृष्ठशूल	३२. कटिशूल	३३ वेपन
३४ आक्षेप	३५ अंगगौरव	३६. अतिलाघव
३७ रज क्षय	३८. विषमाग्नि	३९. स्फिक्शूल
४०. जानुशूल	४१. जंघाशूल	४२. ऊरुशूल
४३. गुल्मशूल	४४ पार्ष्णिशूल	४५. प्रपादशूल
४६ योनिशूल	४७. बाहुशूल	४८ अंगुलीशूल
४९ स्तनशूल	५०. दन्तशूल	५१ नखशूल
५२. पर्व-अस्थिशूल	५३ शोष	५४ स्तम्भ
५५ आन्त्रकूजन	५६ परिकर्तिका	५७ महारोगाध्यायोक्त वातरोग
५८ ज्वर	५९ तिमिर	६० प्रतिश्याय
६१ अधिमन्थ	६२ अर्दित	६३ पक्षाघात
६४ अश्मरी	६५ उपदंश	६६ वातरक्त
६७ अर्श	६८. स्तन्यक्षय	६९ मन्याग्रह
७० हनुग्रह	७१ शर्कराशूल	७२ मूढगर्भ
७३ मूत्रकृच्छ्र।		

चरक आदि के अनुसार अनुवासन के अयोग्य[1] रोग-रोगी

१ अनास्थाप्य	२ नवज्वर	३ पाण्डु
४ कामला	५ अभुक्तभक्त	६ प्रमेह
७ अर्श	८. प्रतिश्याय	९ अरोचक
१० मन्दाग्नि	११ दुर्बल	१२ प्लीहोदर
१३ कफोदर	१४ ऊरुस्तम्भ	१५ वर्चोभेद
१६ विषपीत	१७. गर(विष)पीत	१८ कफाभिष्यन्द
१९ गुरुकोष्ठ	२० श्लीपद	२१ गलगण्ड
२२ अपची	२३ क्रिमिकोष्ठी	२४ प्रमेह
२५ कुष्ठ	२६ स्थौल्य	२७ पीनस
२८. कृश।		

अनुवासन योग्य[2] रोग-रोगी

जो आस्थापन-योग्य कहे गये हैं, वे ही अनुवासन-योग्य होते हैं। विशेष करके

---

१ (क) य एवानास्थाप्यास्त एवानुवास्याः स्युः विशेषतस्त्वभुक्तभक्तनवज्वर क्रिमिकोष्ठिन।
—च० सि० २।१७

(ख) सुश्रुत० चि० ३५।०० । (ग) अ० हृ० सू० १९।७-८ । (घ) च० सि० २।१८ ।

२ (क) य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः, विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च। एतेषु हि अनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूले द्रुमप्रसेकवत्।
—च० सि० २।१०

(ख) अ० हृ० सू० १९।९ ।

जो अत्यन्त रूक्ष शरीर होते हैं, जिनकी जठराग्नि तीक्ष्ण होती है और जो केवल वात रोग से पीड़ित होते हैं, वे अनुवासन के योग्य होते हैं।

वस्तिकर्म की उपयोगिता और उसके लाभ

वस्ति वातज रोगों की सर्वोत्तम चिकित्सा है तथा पित्तज, कफज, संसर्गज, सन्निपातज और रक्तज रोगों में भी हितकर है[1]।

शाखा, मर्म और कोष्ठ, इन तीनों मार्गों में होने वाले रोगों में वायु की प्रधान भूमिका होती है, क्योंकि वायु ही मल-मूत्र-स्वेद-कफ-पित्तादि के विक्षेप और संघात का कारण है, जिनकी अव्यवस्था में रोग होते हैं। उस वायु-विकार के शमनार्थ वस्तिकर्म ही सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा है।

शरीर या मन के आधे से अधिक रोग वात के कारण होते हैं तथा दूसरे दोषों से होने वाले रोगों में भी वात एक सहकारी कारण होता है, उस वात की चिकित्सा एक दुष्कर कार्य है। उस प्रबलतम वातदोष की चिकित्सा **वस्तिकर्म** द्वारा की जाती है। अतः वस्ति को **चिकित्सार्ध** कहा गया है और कुछ विद्वान् वस्तिकर्म को **सम्पूर्ण चिकित्सा** का गौरव प्रदान करते हैं[2]।

वस्ति की कल्पना (निर्माण) में अनेक औषधियों का क्वाथ, कल्क आदि मिलाया जाता है, इसलिए वह दोषों का शमन, शोधन और संग्रह भी करती है। क्षीणवीर्य व्यक्ति को रतिकर्म-सामर्थ्य, कृश को स्थूलता, अति स्थूल को कृशता तथा नेत्रों को ज्योति देती है। चेहरे पर झुर्री पड़ना, असमय में बाल पकना, त्वचा की सिकुड़न और बालों का झड़ना रोकती है। यौवन को चिरकाल तक कायम रखती और बुढ़ापा के आगमन पर रोक लगाती है। शरीर को हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ बनाकर, वर्ण को निखार कर आरोग्य प्रदान करती है। वस्ति का सम्यक् प्रयोग शरीर-संवर्धन, आयुष्य और नैरुज्यप्रद प्रक्रिया है[3]।

निरूहवस्ति—वयःस्थापन, सुखायुष्य, अग्निवर्धन, मेधावर्धन, स्वर-वर्ण-प्रसादन, युवा-बाल-वृद्ध, इन सबके लिए निरुपद्रव, सर्वरोगनाशन, दोष-मल-मूत्र शोधन, दृढ़ताकरण, शुक्र-बल-वर्धन और सभी शरीर के सञ्चित मलों का निर्हरण करती है[4]।

---

१ वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते। संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव हितः सदा ॥
—सु० चि० ३५।३

२ शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां नहि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित्।
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥

३ सु० चि० ३५।१–२।

४. वस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च ॥

अनुवासनवस्ति—बल-वर्णप्रद, मन प्रसादन, पुष्टिकर, वीर्यवर्धक, वात की रूक्षता, लघुता एव शैत्य विनाशक और वातज रोगो की श्रेष्ठतम चिकित्सा है[1]।

जिस प्रकार वृक्ष के मूल मे जल सीचने से उसका पोषण होता है और वह हरा-भरा हो जाता है, उसमे कोमल पत्ते तथा यथासमय फल-फूल लगते है, उसी प्रकार अनुवासनवस्ति से शरीर के मूलस्थान गुद का सिञ्चन होने से सभी सिराओ का तर्पण होकर शरीर का पोषण होता है और शुक्र धातु की वृद्धि होने से सन्तानोत्पत्तिक्षमता उत्पन्न होती है[2]।

हाथ-पैर की स्तब्धता (जकडन), सकोच, पगुता, अस्थिभग, वातकृत गात्रशूल, आध्मान, विबन्ध, आमाशय-पक्वाशयशूल, कुक्षिशूल, अरुचि और अग्निमान्द्य मे वस्तिकर्म श्रेष्ठ उपचार है। स्त्रियो की गर्भधारण अक्षमता और पुरुषो के पौरुषशक्ति के ह्रास मे वस्तिकर्म प्रशस्त चिकित्सा है[3]।

वस्ति अपने वीर्य से पैर मे लेकर शिर तक के सभी दोषो को खीचकर उनका शोधन करती है। जिस प्रकार करोडो कोस दूर रहकर भी सूर्य अपनी किरणो से वनस्पतियो के रसो का शोषण करता है, उसी तरह पक्वाशयस्थ वस्ति अपने वीर्य से पृष्ठ, कटि, श्रोणि आदि सभी स्थानो से सचित दोषो को आकृष्ट कर समूल बाहर निकाल देती है[4]।

विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावह शुक्रबलप्रदश्च ।
विष्वक् स्थित दोषचय निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूह ॥
—च० सि० १।२७-२८

१ देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे सस्नेहन वर्णबलप्रदश्च ।
न तैलदानात् परमस्ति किञ्चिद् द्रव्य विशेषेण समीरणार्ते ॥
स्नेहेन रौक्ष्य लघुता गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्य पवनस्य हत्वा ।
तैल ददात्याशु मन.प्रसाद वीर्यं बल वर्णमथापि पुष्टि ॥ —च० सि० १।२९-३०

२ मूले निषिक्तो हि यथा द्रुम स्यात् नीलच्छद कोमलपल्लवाग्र. ।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नर स्यादनुवासनेन ॥ —च० सि० १।३१

तत्र चक्रपाणिटीका—मूलदृष्टान्तेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्व दर्शयति। उक्त हि पाराशरे—

'मूल गुद शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिता ।
सर्व शरीर पुष्णान्ति मूर्धान यावदाश्रिता ॥' इति ।

तथाऽनुवासनादपि नरो बलवीर्याद्युपेतोऽपत्यवाश्चापि स्यादित्यर्थ. ॥

३ स्तब्धाश्च ये सङ्कुचिताश्च येऽपि ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णा ।
येषा च शाखासु चरन्ति वाता. शस्तो विशेषेण हि तेषु वस्ति ॥
आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूलेषु भक्तानभिनन्दने च ।
एवम्प्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च वस्तिरिष्ट ॥
याश्च स्त्रियो वातकृतोपसृष्टा गर्भ न गृह्णन्ति नृभि समेता ।
क्षीणेन्द्रिया ये च नरा कृशाश्च वस्ति प्रशस्त. परम च तेषु ॥ —च० सि० १।३२-३४

४. वीर्येण वस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात् । पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव ॥

अनुवासनवस्ति—तैल, घी, क्वाथ, दूध, मधु, लवण आदि के सयोग से वनायी जाती है, उसमे स्नेह की प्रधानता रहती है। स्नेह मे अणु-प्रवणभाव होता है, जिससे वह प्रसरणशील होता है, वह अपने सयुक्त द्रव्यो से मिलकर पक्वाशय-ग्रहणी किवा आमाशय तक के परिसर के शरीर-घटको की वृद्धि का कार्य करता है, वह आपादतलमस्तक शरीर के रोगो मे लाभकारी है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञानी भी इस बात से सहमत है कि 'एनीमा से दिये गये द्रव्य अन्त्र की दीवारो के सहारे ग्रहणी-आमाशय या मुख तक आ सकते हैं'[1]।

चक्रपाणि[2] ने कहा है कि वामपार्श्वसुप्त व्यक्ति के ग्रहणी-गुद प्रकृतिस्थ रहते है और इस स्थिति मे दी हुई वस्ति के द्रव्यो के वीर्य से ग्रहणी तक के अवयव प्रभावित होते है।

जेज्जट[3] ने भी कहा है कि वामपार्श्व पर लेटने पर सामानान्तर से वस्तिद्रव्य स्थूलान्त्र से ग्रहणी तक जा सकता है। वहाँ पहुँचकर वह वस्ति अग्नि को विनष्ट नही करती और समान वायु से प्रेरित अग्नि अपना पाचन-कार्य करते हुए वस्ति का उपकार ही करती है।

वस्ति मे दिये गये स्नेह के शरीर मे शोषित होने की वात-परीक्षणो से सिद्ध हो चुकी है। बृंहणवस्ति देने से रक्त के स्नेहांश तथा प्रोटीन की वृद्धि होती है। शरीर का वजन १–२ किलोग्राम बढते हुए देखा गया है। वस्ति का प्रभाव सर्वाङ्गगत वातरोग पर आरोग्यप्रद पाया जाता है। वस्तिकर्म का सवर्धक प्रभाव अस्थिवह तथा मज्जावह स्रोतो पर सकारात्मक होता है। मज्जाधातु प्राय स्नेहो से बनती है, सभी वातनाडियाँ मज्जा से बनी है। मज्जा वात का अधिष्ठान है। मज्जा के पोषण मे स्नेह का महत्त्वपूर्ण भाग होने से इन्द्रियायतन शिरस्थ वातवह केन्द्र, पृष्ठवश के वातवह केन्द्र तथा सर्वशरीर की नाडियो की क्रियाशीलता पर वस्ति का प्रभाव होता है।

स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य सञ्चयान्।
उत्खातमूलान् हरति दोषाणा साधु योजित.॥ —सु० चि० ३५।२७–२८

1 Materials introduced by enema, in some instances pass through the walls into the illium, such incompitence may permit the enema fluid to reach the duodenum.

—The Physiological Basis of Medical Practice p 580

२. वामपार्श्वसुप्तस्य ग्रहणीगुदे प्रकृतिस्थे भवत। प्रकृतिस्थे च गुदे गुदस्य वस्तिना सम्यगुपश्लेषात् व्याप्तिर्भवति तथा वलयश्च लीना भवन्ति। तेन सुख वस्तिर्यानि ग्रहणीगुदयो प्रकृतिस्थतया च वस्तिर्व्याप्य सुख ग्रहणीं भावयनीति बोद्धव्यम्। —च० सि० ३।२४ पर चक्रपाणि

३ ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानप्रतिबद्धा प्रविशन् वस्ति तदुपघात न करोति, अन्यथा पुनर-नियतस्थानवस्तिना प्रतिहन्यते। स च तत्रावस्थितो न च प्रतिहतस्थानोऽग्नि. समानपवनधूत स्वकर्म कुर्वाणो वस्तेरुपकरोत्येव। न वस्तिनापि चाल्यते छाद्यते प्लाव्यते वा पक्वाशयप्राप्त्या तदग्न्यधिष्ठान प्राप्यते इति। —च० सि० ३।२४ जेज्जट

वस्ति द्वारा शोधन-कार्य सम्पन्न होने से पक्वाशय, कटि, पार्श्व तथा कोष्ठ मे दवाव कम हो जाने से वातकृत शूल का सद्य- शमन हो जाता है। स्नेह के ग्रहणी तक पहुँच के कारण ही क्षीरवस्ति के प्रयोग से परिणामशूल मे व्रण (Gastric ulcer) रोपण हो जाने से शूल का शमन होता है, यह अनुभव-सिद्ध प्रयोग है।

इस प्रकार वस्तिकर्म एक ऐसी चिकित्सा-प्रक्रिया है, जिसके चमत्कार से सार्वदेहिक रोगो का निवारण और स्वास्थ्य उपलब्ध होता है।

वस्ति के भेद या प्रकार

(१) अधिष्ठान-भेद से ४ प्रकार

१ **पक्वाशयगत**—गुदमार्ग से पक्वाशय मे औषधद्रव्य का प्रेषण होता है।

२. **गर्भाशयगत**—योनिमार्ग से गर्भाशय मे औषध पहुँचाई जाती है।

३ **मूत्राशयगत**—मूत्रेन्द्रिय से मूत्राशय मे वस्तिद्रव्य पहुँचाया जाता है। गर्भाशय और मूत्राशय की वस्ति को उत्तरवस्ति कहा जाता है।

४. **व्रणगत**—व्रणमुख से व्रण के शोधन-रोपणार्थ औषध पहुँचाई जाती है।

(२) द्रव्य-भेद से २ प्रकार

१ **निरूहवस्ति**—जिस वस्ति के निर्माण मे क्वाथ की प्रधानता होती है, उसे निरूहवस्ति कहते हैं। इसका अन्य नाम आस्थापन है।

वक्तव्य—यह सम्पूर्ण शरीर मे रहनेवाले दोष के सचय को निकालकर सभी प्रकार के रोगो को शान्त करती है, अत इसे **निरूह** कहते है और बुढापे मे भी जवानी को वरकरार रखने के कारण इसको **आस्थापन** कहते हैं[1]। निरूह और आस्थापन, ये दोनो शब्द परस्पर पर्याय हैं।

निरूह का एक विकल्प **माधुतैलिकवस्ति**[2] है, जिसके निर्माण मे मधु और तैल प्रधान द्रव्य होते है। इसके पर्याय हैं—**यापनवस्ति, युक्तरथवस्ति और सिद्धवस्ति**।

(क) **यापनवस्ति**[3] सब समय दी जा सकती है, यह आयु को बढाती है।

(ख) **युक्तरथवस्ति** घोडे जुते रथ या किसी वाहन से यात्रा करनी हो, उस स्थिति मे भी इसकी रोक नही है अर्थात् यह दी जा सकती है।

(ग) **सिद्धवस्ति**—यह बल-वर्णदायक और सैकडो रोगो की निवारक है।

---

१ (क) विष्वक्स्थित दोषचय निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूह.। —च० सि० १।२८

(ख) स दोषनिर्हरणात् शरीरदोषहरणाद्वा निरूह.। वय स्थापनात् आयु.स्थापनाद्वा आस्थापनम्।

—सु० चि० ३५।१८

२ आस्थापन निरूहो इत्यनर्थान्तरम्, तस्य विकल्पो माधुतैलिकः, तस्य पर्यायशब्दो यापनो युक्तरथ सिद्धवस्तिरिति।

३. यापनास्तु वस्तय- सर्वकाल देया.। —च० सि० १२।१५

तत्र चक्रपाणि.—आयुषो यापन दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वन्तीति।

तथा—सु० चि० ३८।११४-११६।

२ **अनुवासनवस्ति**[1]—जिस वस्ति के निर्माण मे स्नेह की प्रधानता होती है, उसे अनुवासनवस्ति कहते है ।

यह अन्वर्थक शब्द है, जो शरीर के अन्दर रहकर कोई दोष नही उत्पन्न करती है एव जिसे प्रतिदिन दिया जा सकता है, वह अनुवासन है ।

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत ने अनुवासन के स्थान मे **स्नैहिकवस्ति**[2] का उल्लेख किया है और अनुवासन को स्नैहिकवस्ति का एक प्रकार माना है । स्नैहिक वस्ति के ३ प्रकार कहे गये हैं—

डल्हण[3] ने स्नेहवस्ति की उत्तम मात्रा ६ पल (२८८ ग्राम), मध्यम मात्रा ३ पल (१४४ ग्राम) और कनीयसी मात्रा १½ पल (७४ ग्राम) बतलाया है । **चक्रपाणि**[4] ने भी यही बतलाया है, किन्तु उत्तम, मध्यम और कनीयस के स्थान मे अन्य सज्ञा दी है । जैसे—

१ **स्नेहवस्ति** की मात्रा ६ पल होती है ।

२ **अनुवासनवस्ति** की मात्रा ३ पल होती है ।

३ **मात्रावस्ति**[5] की मात्रा १½ पल होती है ।

(३) कर्म-भेद से १२ प्रकार (निरूहवस्ति)

१ **शोधनवस्ति**—यह मृदु तथा तीक्ष्ण भेद से द्विविध है । इससे दोषो एव मलो का शोधन किया जाता है ।

२ **लेखनवस्ति**—यह मेद को घटाकर शरीर को कृश करती है ।

३ **उत्क्लेशनवस्ति**—यह चिपके हुए दोषो एव मलो को स्थानच्युत कर, द्रवीभूत कर, प्रमाण बढाकर उनका निर्मूलन करती है ।

४ **शमनवस्ति**—यह कुपित दोषो का शमन करती है ।

५ **बृहणवस्ति**—यह धातुओ को बढाकर शरीर का सवर्धन करती है ।

६ **रसायनवस्ति**—यह बल-वर्ण-आयुवर्धक और रोगहर है ।

७ **वाजीकरणवस्ति**—यह वीर्य को बढाकर पौरुष-शक्ति प्रदान करती है ।

८ **कर्षणवस्ति**—यह मोटापे को दूर करती है ।

९ **स्नेहनीयवस्ति**—यह स्नेह प्रधान होती है, अत शरीर का स्नेहन करती है ।

१० **चक्षुष्यवस्ति**—यह नेत्र के लिए हितकर है ।

११ **संग्राहीवस्ति**—यह सग्राहक होती है ।

१२ **वर्णप्रसादनवस्ति**—यह शरीर के वर्ण को स्वच्छ बनाती है ।

---

१. अनुवसन् अपि न दुष्यति, अनुदिवस वा दीयत इत्यनुवासन । —सु० चि० ३५।१८

२. तत्र द्विविधो वस्ति —नैरूहिको स्नैहिकश्च । —सु० चि० ३५।१८

३ ··· तन्त्रान्तरेऽप्युक्त—'षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत् । कनीयस्यर्धपलिका त्रिधा मात्रानुवासने । —सु० चि० ३७ २ पर डल्हण

४ अनेन सार्धपलमानो मात्रावस्तिरुक्तो भवति, तत्र हि षट्पल स्नेहवस्ति., अनुवासन तु त्रिपलम् । —च० सि० ४।५४ पर चक्रपाणि

५. ह्रस्वायाः स्नेहमात्रायाः मात्रावस्तिः समो भवेत् । —च० सि० ४।५३ पर चक्रपाणि

(४) संख्या-भेद से ३ प्रकार[1]

सख्या के आधार पर वस्ति के ३ भेद होते ह —१ कर्मवस्ति, २ कालवस्ति और ३. योगवस्ति ।

१ **कर्मवस्ति**—कर्मवस्ति मे ३० वस्तियाँ दी जाती है। पहले १ अनुवासन, फिर अनुवासन और निरूह का क्रम वारी-वारी से चलता है तथा दोनो १२-१२ दी जाती हैं। अन्त मे ५ अनुवामनवस्तियाँ दी जाती है। इस प्रकार कुल १+१२+१२+५=३० वस्तियाँ दी जाती हैं। इसमे १८ अनुवासन और १२ निरूह वस्तियाँ दी जाती हैं। इसे कर्मवस्ति कहा जाता है।

२ **कालवस्ति**— इसमे १६ वस्तियाँ दी जाती ह। पहले १ अनुवासन, फिर क्रम से ६ अनुवासन और ६ निरूहवस्ति तथा अन्त मे फिर ३ अनुवासनवस्ति दी जाती है। इस प्रकार १+६+६+३=१६ वस्तियो की सख्या पूर्ण होती है। जिसमे १० अनुवासन और ६ निरूहवस्ति दी जाती है। यह कालवस्ति है।

३ **योगवस्ति**—इसमे ८ वस्तियाँ दी जाती है। पहले १ अनुवासनवस्ति, फिर १ निरूह एव १ अनुवासन-क्रम से ३ निरूह और ३ अनुवासन तथा अन्त मे पुन १ अनुवासनवस्ति दी जाती है। इस प्रकार १+३+३+१=८ वस्तियाँ दी जाती है, जिनमे ५ अनुवासन और ३ निरूहवस्ति दी जाती है।

(५) आनुषङ्गिक-भेद से ९ विशिष्ट प्रकार

१ **यापनवस्ति**—यह वल-वर्ण-आयुर्वर्धक एव निरापद वस्ति है। इसमे क्वाथ दूध, गुड, घृत आदि का प्रयोग होता हैं। शुक्र तथा मास की वृद्धि के लिए इसका प्रयोग होता है। यापनवस्ति की कुल २६ कल्पनाएँ चरक ने वतलायी हैं।

२ **सिद्धवस्ति**—किसी विशेष रोग को दूर करने के लिए किसी विशिष्ट वस्ति देने को **सिद्धवस्ति** कहते है।

३ **प्रासृतयौगिकीवस्ति**—एक प्रसृत प्रमाण (लगभग १०० ग्राम) मे औषधि लेकर उसका क्वाथ वनाकर वस्ति देना **प्रासृतयौगिकी वस्ति** कहा जाता है। चरक ने क्षीरवस्ति, पटोलादिवस्ति, विडगादिवस्ति आदि का वर्णन सिद्धि० अ० ८ मे किया है।

४ **द्वादश प्रासृतिकीवस्ति**—जिसमे कुल वस्ति द्रव्य का प्रमाण १२ प्रसृत (लगभग ११५२ ग्राम) हो, उसे द्वादश **प्रासृतिकीवस्ति** कहते है। यह वस्ति का उच्च प्रमाण है। इसका उदाहरण माधुतैलिकवस्ति है, जिसमे सेधानमक १ कर्ष,

---

१ त्रिंशन्मता· कर्मसु वस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योग· ।
सान्वासना· द्वादश वै निरूहाः प्राक् स्नेह एक परतश्च पञ्च ॥
काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैक· स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्यु ।
योगे निरूहास्त्रय एव देया स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्या ॥ —च० सि० १।४७-४८

तत्र **चक्रपाणिः**—कालस्ततोऽर्धेनेत्यत्र न समप्रतिवचन·, तेन त्रिंशदर्धं षोडश भवन्ति ।' कर्मादिसंज्ञा च तन्त्रान्तरे। तथाहि जतूकर्ण·—वस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगा· ' " ।

मधु २ प्रसृत, स्नेह ३ प्रसृत, कल्क १ प्रसृत, क्वाथ ४ प्रसृत और प्रक्षेप २ प्रसृत मिलाकर कुल १२ प्रसृत की वस्ति दी जाती है।

५. **पादहीनवस्ति**—इसमे एक चौथाई (३ प्रसृत) कम करके ९ प्रसृत की वस्ति दी जाती है। यह भी माधुतैलिकवस्ति है।

६ **तीक्ष्णवस्ति**—क्षार, मूत्र, लवण एव उष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यो से जो वस्ति दी जाती है, वह तीक्ष्णवस्ति कही जाती है।

७ **मृदुवस्ति**—मधुरस्कन्ध की औषधे और दूध-घी आदि मृदु द्रव्यो से निर्मित वस्ति मृदुवस्ति होती है। बाल-वृद्ध-सुकुमार तथा अवरसत्त्व मनुष्यो को यह दी जाती है।

८ **पिच्छावस्ति**—यह एक सग्राही वस्ति है, जिसका प्रयोग रक्तस्राव के अवरोध के लिए अर्श, अतिसार आदि मे किया जाता है। यह पिच्छिल द्रव्यो के योग से निर्मित होती है।

९. **रक्तवस्ति**—किसी कारण रक्तक्षय होने पर उसकी पूर्ति के लिए रक्तवस्ति दी जाती है।

वस्तिभेद-सारणी

(१) अधिष्ठान-भेद से चार

- पक्वाशयगत
- गर्भाशयगत
- मूत्राशयगत
- व्रणगत

(२) द्रव्य-भेद से दो

- निरूह (माधुतैलिक)
  - यापन
  - सिद्ध
  - युक्तरथ
- अनुवासन
  - स्नेह
  - अनुवासन
  - मात्रा

(३) विधि-भेद से तीन

- निरूह
- अनुवासन
- उत्तर

(४) संख्या भेद से तीन

- कर्म
- काल
- योग

(५) कर्म-भेद से बारह

शोधन | लेखन | उत्क्लेशन | शमन | बृंहण | कर्षण | रसायन | वाजीकरण | स्नेहनीय | चक्षुष्य | संग्राही | वर्णप्रसादन

(६) आनुषङ्गिक विशिष्ट नौ वस्तियाँ

यापन | सिद्ध | प्रासृतयौगिकी | द्वादशप्रासृतकी | पादहीन | तीक्ष्ण | मृदु | पिच्छा | रक्त

वस्तिकर्म मे उपयोगी द्रव्य

शोधन-चिकित्सा के पुरोधा आचार्य चरक ने संशोधन की प्रखर क्रियाशीलता की ओर चिकित्सकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए चरकसंहिता के आदि, मध्य और अवसान मे यत्र क्वापि सर्वत्र पञ्चकर्म के विषयो का समावेश किया है। वस्तिकर्मोपयोगी द्रव्यो की संख्या बहुत अधिक है, जिनका वर्णन यहाँ अभीष्ट नही है, फिर भी उदाहरण के तौर पर संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

(१) आस्थापन या [1]निरूहोपयोगी फल-प्रधान द्रव्य

१ धामार्गव	२ ईक्ष्वाकु	३ जीमूत	४ कृतवेधन
५ मदनफल	६ कुटज	७ त्रपुष	८ हस्तिपर्णिनी।

(२) आस्थापनोपयोगी अष्टमूत्र[2]

१ भेड	२ बकरी	३ गाय	४ भैंस
५. हाथी	६ ऊँट	७ घोडा	८ गदहा के मूत्र।

(३) आस्थापनोपयोगी अष्टक्षीर[3]

१ भेड	२ बकरी	३ गाय	४ भैंस
५ हथिनी	६ ऊँटिनी	७ घोडी	८ स्त्री के दुग्ध।

(४) आस्थापनोपयोगी पञ्चलवण[4]

१ सौवर्चल	२ सैन्धव	३ विड्लवण	४ औद्भिद	५ सामुद्र।

(५) आस्थापनोपग[5] द्रव्य

१. त्रिवृत्	२ बिल्व	३ पिप्पली	४ कुष्ठ	५ सर्षप
६ वच	७ कुटज	८ सौंफ	९ यष्टीमधु	१०. मदनफल।

१. फलिनीः शृणु। ' एतानि योज्यान्यास्थापनेषु च। —च० सू० १।८५–८६
२. अविमूत्रमजामूत्र । ॥ युक्तमास्थापने मूत्र ' ॥ —च० सू० १।९५, ९७
३ अविक्षीरमजाक्षीर वमनास्थापनेषु च। —च० सू० १।१०७–१०८, ११३
४. च० सू० १।९०–९२।
५ त्रिवृद्बिल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति। —च० सू० ४।२५

(६) छह आस्थापन स्कन्ध[1]

१ मधुरस्कन्ध	२ अम्लस्कन्ध	३. लवणस्कन्ध
४ कटुस्कन्ध	५ तिक्तस्कन्ध	६. कषायस्कन्ध ।

ये छह स्कन्ध आस्थापनवस्ति द्वारा साध्य सभी रोगो मे दोषानुसार कल्पना कर प्रयोग करने से लाभकर होते हैं।

इनमे से—१ मधुरस्कन्ध वातरोग तथा पित्तरोग मे लाभकर है। २ अम्लस्कन्ध और ३. लवणस्कन्ध वातरोग मे हितकर है। ४ कटुस्कन्ध कफज रोगो मे लाभकर होता है। ५. तिक्तस्कन्ध और ६ कषायस्कन्ध कफज रोग तथा पित्तज रोग का शमन करते है।

(७) सुश्रुतोक्त निरूहोपयोगी द्रव्य[2]

१. अष्टक्षीर	२ अम्लवर्ग	३ अष्टमूत्र
४ स्नेह	५. क्वाथ	६ मासरस
७ लवण	८ त्रिफला	९ मधु
१० शतपुष्पा	११ सर्षप	१२ वचा
१३ एला	१४. त्रिकटु	१५ रास्ना
१६ सरल	१७ देवदारु	१८. हरिद्रा
१९. यष्टीमधु	२० हिंगु	२१ कुष्ठ
२२ सशोधनगणोक्त द्रव्य	२३ कटुका	२४ शर्करा
२५. मुस्ता	२६ उशीर	२७ चन्दन
२८. कपूर	२९. मञ्जिष्ठा	३० मदनफल
३१ चण्डा	३२ त्रायमाणा	३३ रसाञ्जल
३४. बिल्वफल	३५ यवानी	३६. फलिनी वर्ग
३७. इन्द्रजौ	३८ काकोली	३९ क्षीरकाकोली
४० जीवक	४१ ऋषभक	४२ मेदा
४३ महामेदा	४४ ऋद्धि	४५ वृद्धि
४६ मधूलिका		

इन द्रव्यो मे जितने द्रव्य मिल सके उनका प्रयोग करना चाहिए। ये द्रव्य निरूह और अनुवासन, इन दोनो वस्तियो मे उपयोगी है।

(८) वाग्भट-कथित निरूह[3] द्रव्य

१ मदनफल	२ कुटज	३ कुष्ठ
४ देवदाली	५. यष्टीमधु	६. वचा

---

१. च० वि० ८।१३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४।
२. सु० चि० ३८।२४, २५, २६, २७, २८।
३. अ० हृ० सू० १५।१।

७ दशमूल	८. देवदारु	९ रास्ना
१०. यव	११ सौंफ	१२ कृतवेधन
१३ कुलथी	१४ मधु	१५ लवण
१६ त्रिवृत् ।		

ये सब निरूहोपयोगी द्रव्य हैं।

(९) आस्थापन[1] तथा अनुवासन गण

१ पाटला	२ अग्निमन्थ	३. बिल्व
४ श्योनाक	५ काश्मरी	६ शालिपर्णी
७ पृश्निपर्णी	८. छोटी कटेरी	९ बला
१०. गोक्षुर	११ बडी कटेरी	१२. एरण्ड
१३. पुनर्नवा	१४. यव	१५ कुलत्थ
१६ गुडूची	१७ मदनफल	१८ बेर
१९. पलाश	२० कत्तृण	२१. स्नेह
२२ लवण ।		

आस्थापन के लिए इनके क्वाथ का तथा अनुवासन के लिए इनके कल्क से सिद्ध स्नेहो का प्रयोग करना चाहिए।

(१०) अनुवासन के स्नेह-द्रव्य[2]

१. घृत	२. तैल	३ वसा	४. मज्जा ।

(११) अनुवासनोपग[3] गण

१. रास्ना	२. देवदारु	३. बिल्व
४ मदनफल	५ सौंफ	६ रक्त पुनर्नवा
७ श्वेत पुनर्नवा	८. गोखरू	९. अग्निमन्थ
१० श्योनाक ।		

ये सब अनुवासनवस्ति के सहकारी द्रव्य है।

वस्ति का प्रयोग

जिस यन्त्र से वस्ति दी जाती है, उसे 'वस्तियन्त्र' कहते है। इस यन्त्र के २ भाग होते हैं—१ वस्तिनेत्र और २ वस्तिपुटक।

---

१ पाटला चाग्निमन्थञ्च बिल्व श्योनाकमेव च।
काश्मर्यं शालिपर्णी च पृश्निपर्णी निदिग्धिकाम् ॥
बला श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम्। यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च ॥
पलाश कत्तृण चैव स्नेहाश्च लवणानि च। उदावर्ते विबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च ॥
अत एवौषधगणात् सङ्कल्प्यमनुवासनम्। —च० सू० २।११-१४

२. सर्पिस्तैल वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विध। पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ॥
—च० सू० १।८८

३ रास्ना-सुरदारु-बिल्व-मदन-शतपुष्पा-वृश्चीर-पुनर्नवा-श्वदंष्ट्रा-ऽग्निमन्थ-श्योनाका इति दशेमानि अनुवासनोपगानि भवन्ति। —च० सू० ४।२६

वस्तिनेत्र[1]

यहाँ नेत्र का नलिका या यन्त्र अर्थ है। जिस भाग को गुदा मे प्रविष्ट कर वस्ति दी जाती है, उसे **वस्तिनेत्र** कहते है। यह एक प्रकार का नलिका-यन्त्र है। प्राचीनकाल मे धनी लोगो के प्रयोग के लिए यह नली सोने, चाँदी या ताम्बे की वनती थी। सामान्यत काँसा, पीतल, राँगा, अस्थि, शृङ्ग, वेणु (बाँस) की भी बनायी जाती थी। वर्तमान काल मे स्टेनलेस स्टील की नली का प्रयोग सुलभ है।

यह अन्त सुषिर नलिका गोपुच्छाकार एव मोटाई मे उतार-चढाववाली होती है। मूलभाग मे अगुष्ठ जैसी मोटी और अग्रभाग मे कनिष्ठिका जैसी पतली होनी चाहिए। सहिताओ मे आयु के अनुसार इस नलिका की लम्बाई और छिद्र का वर्णन किया गया है, जो सम्प्रति व्यावहारिक नही है। फिर भी जिज्ञासुजनो को अपनी जिज्ञासा के शमन के लिए सहिताग्रन्थो (यथा —चरक० सिद्धि० ३।७-९, सुश्रुत० चि० ३५।७ से १२ तक, सु० चि० ३५।१४ एव ३६।६-९ तथा सु० चि० ३७।१११, चरक० सि० ५।४-५ एव च० सि० ९।५०-५१ एव अष्टाङ्गहृ० सू० १९।५१) को देखना चाहिए।

चरक के अनुसार वस्तिनेत्र के छिद्र का प्रमाण

१ १ वर्ष से ६ वर्ष तक की आयु के लिए मूग प्रविष्ट होने लायक।
२ ८ वर्ष तक की आयु के लिए उडद (माष) प्रविष्ट होने लायक।
३ ८ से १६ वर्ष तक की आयु के लिए कलाय (मटर) प्रवेश योग्य।
४ १६ से २५ वर्ष तक की आयु के लिए जल मे फूले हुए मटर बराबर।

उत्तरवस्ति-नेत्र का प्रमाण

उत्तरवस्ति के नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा जाता है। वह प्राचीनकाल मे सोने-चाँदी का बनता था। इसका आकार जातीपुष्प (चमेली के फूल) या कनेर के फूल की नली के समान होना चाहिए। यह चिकना और सीधा होना चाहिए। इसकी लम्बाई १२ अँगुल (९ इञ्च) होनी चाहिए। इसका छिद्र सरसो के आकार का होना चाहिए।

यह पुरुषो की मूत्रेन्द्रिय के प्रमाणानुरूप और स्त्रियो मे प्रयोगार्थ मूत्रमार्ग तथा योनि के अनुसार होना चाहिए।

नेत्र के दोष

छोटा होना, बहुत लम्बा होना, पतला होना, बहुत मोटा होना, जीर्ण-शीर्ण

---

१. सुवर्णरौप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः।
नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि सुकर्णिकानि ॥
षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम्।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राणि वर्त्याऽपिहितानि चैव ॥
यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ॥ —च० सि० ३।७९

का प्रयोग तभी सफल होता है, जब वह— १ दोप, २ औपध, ३. देश, ४ काल, ५ सात्म्य, ६ अग्नि, ७ सत्त्व, ८. ओक, ९ वय तथा १०. वल की समीक्षा[1] करके दी जाती है।" अत इन सभी पहलुओ पर विचार करना आवश्यक है। जैसे—

(१) **दोष की समीक्षा**[2]—दोष की दृष्टि से यहाँ वातदोप अधिक विचारणीय है, क्योकि वात-विकार के लिए वस्ति सर्वोत्तम चिकित्सा है। फिर भी कफ-पित्त के विकारो मे भी वस्ति का प्रयोग सफल होता है, अत सभी दोपो के क्षय, वृद्धि, समत्व, ऊर्ध्वदेहगमन, अधोदेहगमन, तिर्यग्गमन, शाखाश्रयित्व, कोष्ठाश्रयित्व, मध्यममार्गाश्रयित्व, स्वदेशगमन, परदेशगमन, स्वतन्त्रत्व, परतन्त्रत्व, अशाशकल्पना, धातुविशेषाश्रयित्व और कालप्रकृति आदि का विचार कर शोधन, लेखन या वृंहण आदि उपयुक्त वस्ति की योजना करनी चाहिए।

(२) **औषध की समीक्षा**—औषध के तरुणत्व, वृद्धत्व, आर्द्रत्व, शुष्कत्व, द्रव्यान्तरसयुक्तत्व, स्वरसादि-कल्पनायोगित्व तथा रस-वीर्य-विपाक की दृष्टि से किस तरह के व्यक्ति, रोग या दोष मे प्रयोग-योग्य है, यह सब विचार करना चाहिए।

औषधद्रव्यो के ११ दोष वतलाये गये हैं—१ आमता, २. हीनमात्रता, ३ अतिमात्रता, ४ अतिशीतता, ५. अतिउष्णता, ६. अतितीक्ष्णता, ७ अतिमृदुता, ८. अतिस्निग्धता, ९ अतिरूक्षता, १० अतिसान्द्रता और ११. अतिद्रवता। अत वस्ति द्रव्यो के इन दोषो से मुक्त होने पर ही प्रयोग करे।

वक्तव्य—वस्ति-प्रयोग सम्वन्धी निम्न बातो को ध्यान मे रखे—

१. शोधन-योग्य रोगो (कुष्ठ-प्रमेह-मेदोरोग आदि) मे बृंहणीय वस्ति का प्रयोग कदापि न करें[3]।

२. क्षतक्षीण-शोष या मूर्च्छापीडित, अतिदुर्बल और विशोधित रोगियो मे शोधनवस्ति का प्रयोग कथमपि न करे[4]।

३ **वस्ति-द्रव्यो का सम्मिश्रण**—पहले मधु और नमक घोटे, फिर स्नेह मिलाकर मथे, फिर कल्क डाले और अन्त मे क्वाथ मिलाकर मथ लेना चाहिए[5]।

४. वस्ति-द्रव्य तैयार कर एक छोटी टोपिया मे रखे और उसे बडी टोपिया के गरम जल मे रखकर गरम करे[6]।

---

१. वस्तिनरेभ्य. किमपेक्ष्य दत्त. स्यात् सिद्धिमान् ?
समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि।
वस्ति प्रयुक्तो नियत गुणाय स्यात् सवकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥ —च० सि० ३।४-६

२. चरक० सूत्र० १५।५ पर चक्रपाणि टीका द्रष्टव्य।

३. च० सि० १।३७। ४. च० सि० १।३७।

५. च० सि० ३।२३। तथा—माक्षिकं लवण स्नेहं कल्क क्वाथमिति क्रमात्।
आवपेत निरूहाणां ह्येष सयोजने विधिः ॥
—अ० हृ० सू० १९।४५

६. उष्णाम्बुकुम्भीवाष्पे वा तप्त खजसमाहितम् ॥ —अ० हृ० सू० १९।४४

५. वस्ति के जिस योग मे कल्क-द्रव्यो का उल्लेख न किया गया हो, उनमें, अजवायन, मदनफल, विल्व, कूठ, वचा, सौंफ, नागरमोथा और पीपर का चूर्ण मिलाना चाहिए, साथ ही मधु, घृत, तैल, गुड और नमक मिला, मथकर सुखोष्ण कर प्रयोग करायें[1]।

(३) देश-समीक्षा—देश —१ भूमिदेश और २ आतुरदेश दो प्रकार का है।

१. भूमिदेश—१ जाङ्गल, २ आनूप और ३ साधारण भेद से देश तीन प्रकार का होता है। जाङ्गल वातदोषकर, आनूप कफदोषकर और साधारण समदोष होता है। इनका विचार कर देश-गुण के विपरीत गुणवाले द्रव्यो के योग से वस्ति की कल्पना कर उसका प्रयोग करना चाहिए।

२. आतुरदेश—रोगी निरूहण योग्य है या नही, सर्वप्रथम यह विचार करे। रोगी का अभ्यंग एवं स्वेदन करने और अनुवासनवस्ति देने के पश्चात् निरुह देना चाहिए। वस्ति के पूर्व अनुवासन देकर ही स्नेहन करना चाहिए[2]।

निरूहणीय रोगी को शुक्लपक्ष मे उत्तम दिन, नक्षत्र एव मुहूर्त देखकर प्रशस्त, स्वच्छ, निर्मल गगनवाले काल मे पूर्वकृत भोजन के जीर्ण हो जाने पर एकाग्रचित्त वाले को भोजन के पूर्व निरूहवस्ति देनी चाहिए[3]।

(४) काल-समीक्षा—ऋतु रूपी काल और रोगावस्था रूपी काल—इन दोनो का विचार कर वस्ति दें।

सामान्य नियमानुसार वमन के पन्द्रहवें दिन विरेचन और विरेचन के ७ दिन के बाद निरूह, फिर नवें दिन अनुवासन देकर उसी दिन शाम को या दूसरे दिन निरूह दिया जा सकता है।

(५) सात्म्य-समीक्षा—निरूह देने की अनुकूलता का विचार करना चाहिए। जैसे—पूर्व के भोजन के पच जाने पर तथा बिना भोजन किये (अभुक्त भक्त) ही निरूह दिया जाता है, क्योंकि भोजन के बाद दी गयी निरूहवस्ति छर्दि और विसूचिका को उत्पन्न करती है[4]।

(६) अग्नि-समीक्षा—जिनकी अग्नि मन्द हो, उनकी पहले दीपन, पाचन एव अग्निवर्धन चिकित्सा करे, फिर निरूह दें।

(७) सत्त्व-समीक्षा—सत्त्व का अर्थ मन है। वह प्रवर, मध्यम और अवर

---

१. पूतो यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम्।
कल्कैर्घृतक्षौद्रगुडैः सतैलैः युक्तः सुखोष्णो लवणान्वितश्च॥
वस्तौ च यस्मिन् पठितो न कल्क. सर्वत्र दद्यादमुमेव नम्र। —अ० हृ० कल्प० ४।२-३

२. रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनम्। दत्वा स्निग्धतनु ज्ञात्वा तत पश्चान्निरूहयेत्॥ —सु० चि० ३७।४४

३. आस्थापनार्हं पुरुष विधिज्ञ समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्लपक्षे।
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत॥ —च० सि० ३।१२

४ न तु भुक्तवते देयमास्थापनमिति स्थिति। विसूचिकां वा जनयेत् छर्दिं वापि सुदारुणाम्॥
कोपयेत् सर्वदोषान् वा तस्माद् दद्यात् अभोजने। —सु० चि० ३८।१९-२०

भेद से सहिष्णु, सामान्य सहिष्णु और सर्वथा असहिष्णु होता है, जो थोडा कष्ट भी नही वर्दास्त करता और तिल का ताड वना देता है। अत मन का परीक्षण करके मृदु या तीक्ष्ण वस्ति देनी चाहिए। प्रवरसत्त्व को तीक्ष्ण, मध्यम को मध्यम और अवर को मृदु वस्ति दे।

(८) **ओक-समीक्षा**—ओक अभ्यास को कहते हैं। रोगी शाकाहारी है या मासाहारी तथा खाने-पीने मे वह सादा भोजन दूध, घी आदि लेता है या तीखा। यह सब जान-समझकर उसे सौम्य या तीक्ष्ण वस्ति दे।

(९) **वय-समीक्षा**—वाल्यावस्था, युवा या वार्धक्य के अनुसार वस्तिनेत्र का छिद्र लम्वाई या मोटाई हो, वस्ति की मात्रा और द्रव्य भी वय के अनुसार ही रखना चाहिए।

(१०) **वल-समीक्षा**—रोगी के वल के अनुसार स्निग्ध, मृदु या उष्ण, तीक्ष्ण गुणयुक्त वस्ति देनी चाहिए। अति दुर्वल व्यक्ति को वस्ति नही दी जानी चाहिए। वलकारक और वृहण औषधो के सेवन से वल के वढ जाने पर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वस्ति चाहे निरूह हो या अनुवासन हो या उत्तरवस्ति देनी हो, प्रत्येक स्थिति मे उपरोक्त दश विषयो पर विचार कर लेना चाहिए। तदनन्तर ही वस्ति का प्रयोग करना उचित है, अन्यथा व्यापद् की सम्भावना होती है।

प्रधान कर्म

प्रधान कर्म मे वस्ति के प्रयोग से लेकर वस्ति के लौटने तक के सभी कर्म समाविष्ट है। जैसे—

१ वस्ति-दान।

२. वस्ति-प्रत्यागमन एव देख-रेख।

३ सम्यग्योग, अयोग एव अतियोग लक्षणो का निरीक्षण।

(१) वस्ति-दान

वस्ति-द्रव्य को सम्मिश्रित कर तैयार करे। आवश्यक सब साधन-सामग्री एकत्रित करके, रोगी को मल-मूत्र विसर्जित कराकर उसका अभ्यङ्ग और स्वेदन कराये। वलातैल या पचगुण से सर्वाङ्ग का अभ्यङ्ग कराये। नितम्ब, ऊरु, कटि, पक्वाशय पर विशेप अभ्यङ्ग कराये, तत्पश्चात् पोटली से या तापस्वेद से स्वेदन कराकर वस्ति के टेविल पर लिटाये।

उचित मात्रा मे सुखोष्ण और अच्छी तरह से मथा हुआ वस्ति-द्रव्य वस्तियन्त्र मे भरकर तैयार कर ले।

वामपार्श्व शयन[१]—रोगी को बाँये करवट लिटाकर वस्ति देनी चाहिए, क्योकि गुदा की वलियाँ, मलाशय, पक्वाशय एव ग्रहणी, ये अवयव वामपार्श्व पर शयन

१. वामाश्रये हि ग्रहणीगुदे च तत्पार्श्वसस्थस्य सुखोपलब्धि।
लीयन्त एव वलयश्च तस्मात् सव्य शयानोऽर्हति वस्तिदानम्॥ —च० सि० ३।२४

करने से समानान्तर स्थिति में होते हैं, जिससे बस्ति उन अवयवों में पहुँचकर अपना कार्य कर आसानी से लौट आती है। बस्ति के कुछ द्रव्य तैल, घृत, दुग्ध, मांसरस आदि स्नेह के अणु (सूक्ष्म) प्रवण (प्रसरणशील) भाव से ग्रहणी तक पहुँचकर उसकी सक्रियता में वृद्धि करते हैं।

यदि किसी वजह से वामपार्श्व शयन में रुकावट हो, तो जैसे सुविधा प्रतीत हो वैसे लिटाकर बस्ति देनी चाहिए।

रोगी अपने हाथ का ही तकिया लगाकर सोये। उसका बायाँ पैर एकदम सीधा प्रसारित हो और दाहिना पैर जानुसन्धि से तथा वंक्षणसन्धि से मोड़कर वाम पैर पर टिका कर रखें। गुदा में जात्यादि तैल या घृत लगाकर चिकनी कर ले और बस्तियन्त्र के नेत्र को भी स्निग्ध कर गुदा में ४ से ६ इञ्च तक धीरे-धीरे पृष्ठवंश के समानान्तर रखते हुए प्रविष्ट करावें। फिर बस्तिनेत्र को बस्तियन्त्र के ट्यूब से जोड़ दें।

सम्पूर्ण बस्तिद्रव्य नहीं देना चाहिए,[1] नहीं तो कुछ वायु भी अन्दर प्रविष्ट हो जायेगी, जिससे पीड़ा उत्पन्न होगी। बस्तिनेत्र को सावधानी से निकालकर एक-आध मिनट रोगी को वैसे ही रखें। फिर उसे उकड़ूँ बैठाकर मल-विसर्जन के लिए प्रेरित करे। यदि ऐसे बैठने में किसी कारण से दिक्कत हो तो बिस्तर पर बेडपैन का प्रयोग करे।

बृंहणबस्ति, वयस्थबस्ति या वाजीकरणबस्ति दी गयी हो, तो रोगी को वैसे ही लिटाकर अधिक देर तक बस्ति को भीतर रोकने की कोशिश करें और नितम्ब को थपथपायें। जब मलवेग प्रतीत हो तो शौच के लिए बिठायें।

यदि बस्ति-प्रयोगकाल में वेग की प्रवृत्ति हो, तो बस्तिनेत्र को निकाल लें और मलविसर्जन के बाद फिर दूसरी बस्ति देनी चाहिए। नितम्ब के नीचे तकिया लगाकर उसे कुछ ऊँचा कर दें, जिससे बस्तिद्रव्य अधिक समय तक भीतर रहकर अच्छी तरह कार्य कर सके[2]।

(२) बस्ति-प्रत्यागम और देखरेख

बस्ति लौटने के काल को प्रत्यागमकाल कहते हैं। प्रत्यागमकाल[3] एक मुहूर्त (लगभग ४८ मिनट) का कहा गया है। यदि उक्त काल में बस्ति बाहर नहीं आती है, तो आध्मान, पक्वाशयशूल, विष्टम्भ, ज्वर आदि उपद्रव होते हैं। ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण निरूहबस्ति द्वारा शोधन[4] करे।

---

१ सावशेषं च कुर्वीत वायु शेषे हि कुप्यति (तिष्ठति)। —अ० हृ० सू० १९।२६

२ विट्वातवेगो यदि वार्यदत्ते निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम्।
उत्तानदेहस्य कृतोपधान स्याद् वीर्यमाप्नोति तथास्य देह॥ —च० सि० ३।२५

३. निरूहप्रत्यागमकालस्तु मुहूर्तो भवति। —सु० चि० ३८।५

४. अनायान्त मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत्। तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतगान् क्षारमूत्राम्लसयुतै॥ —सु० चि० ३५।२७

यदि उचित समय मे वस्ति न लौटे तो उसका निम्न उपचार करे—

१ यवक्षार, गोमूत्र, अम्ल द्रव्य, तीक्ष्ण त्रिकटु आदि से युक्त तीक्ष्ण वस्ति दें।

२ गुदा मे फलवर्ति लगाकर विरेचन कराना चाहिए।

३ नितम्ब-प्रदेश, वक्षण, पक्वाशय आदि का स्वेदन कराये।

४. रोगी को किसी तरह भयभीत करे, जिससे कि वह मलोत्सर्ग कर दे।

५ एरण्ड-स्नेह पिलाकर या त्रिवृत् चूर्ण खिलाकर विरेचन कराये।

वस्ति-प्रत्यागम तक रोगी की गतिविधि का निरीक्षण करते रहे।

(३) सम्यग्योग, अयोग, अतियोग लक्षणो का निरीक्षण

सम्यग्योग-लक्षण[१]—जो वस्ति नाभिप्रदेश-कटि-पार्श्व-कुक्षि तक जाकर सम्पूर्ण मलसघात को आलोडित कर तथा शरीर को स्निग्ध कर मल तथा दोषो के साथ आसानी से निकल आती है, उसे वस्ति का **सम्यग्योग** जानना चाहिए। जिसके निम्नलिखित लक्षण है—

१ मल-मूत्र-अधोवात की सम्यक् प्रवृत्ति।

२ क्रमश मल-पित्त, कफ और वायु का विसर्ग।

३ शरीर मे हलकापन, भोजन मे रुचि और अग्नि की तीव्रता।

४ पक्वाशय आदि की लघुता, रोग का शमन होना।

५ रोगी का स्वस्थ हो जाना और उसके शरीर मे बल बढना[२]।

अयोग-लक्षण[३]—निरूह का कार्य अधूरा होने पर निम्नलिखित लक्षण होते है—

१ शिर-हृदय-नाभि-वस्ति-गुद-मेढ्र या योनि मे वेदना होने लगती है।

२ शोथ, प्रतिश्याय, विकर्तिका और मुख से लालास्राव होता है।

३ अधोवायु तथा मूत्र की रुकावट एव श्वासकृच्छ्रता होती है।

४ वेग कम आते है, वस्ति-द्रव्य अल्प निकलता है और मल भी अल्प मात्रा मे निर्गत होता है।

५ भोजन मे अरुचि और शरीर मे जडता हो जाती है।

इसमे भी वस्ति-प्रत्यागमकारक चिकित्सा करनी चाहिए।

---

१. नाभिप्रदेश कटिपार्श्वकुक्षि गत्वा शकृद्दोषचय विलोड्य।
सस्नेह्य काय सपुरीषदोष. सम्यक् सुखेनैति च या स वस्ति॰॥ —च॰ सि॰ १।४०

२ प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्व रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि।
रोगोपशान्ति. प्रकृतिस्थता च बल च तत् स्यात् सुनिरूढलिङ्गम्॥ —च॰ सि॰ १।४१

× × ×

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायव । लाघव चोपजायेत सुनिरूढ तमादिशेत्॥
—सु॰ चि॰ ३८।१०

३ स्याद् रुक् शिरोहृद्गुदवस्तिलिङ्गे शोफ प्रतिश्यायविकर्तिके च।
हृल्लासिका मारुतमूत्रसङ्ग॰ श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्युः॥ —च॰ सि॰ १।४२

अतियोग-लक्षण—विरेचन के अतियोग[1] के जो लक्षण होते है, वे ही लक्षण निरूह के अतियोग मे भी होते है। जैसे—

१ अगनुप्ति, २. अगमर्द, ३ क्लम, ४ कम्प, ५ निद्रा, ६ दौर्बल्य, ७ आंखो के सामने अंधेरा होना, ८ उन्माद और ९ हिचकी आना।

उसमे दीपन, पाचन और ग्राही चिकित्सा करें।

(३) पश्चात्कर्म

वस्ति देने के बाद वस्ति के लौटने और रोगी को पथ्य देने, अपथ्य से परहेज करने और वस्तिजन्य उपद्रव के प्रतिकार करने की प्रक्रिया, ये सब विषय पश्चात्कर्म के अन्तर्गत समाहित होते है। इन विषयो को तीन शीर्षको मे वर्णित किया जायेगा। जैसे—

१ वस्ति देने के तत्काल बाद के कर्तव्य।

२ पथ्य और सयम-नियम।

३ वस्ति के उपद्रव और उपचार।

(१) तत्काल बाद के कर्तव्य—

१ वस्ति देकर उनके प्रत्यागम का निरीक्षण करते रहे।

२ यदि केवल वस्तिद्रव्य ही निकले, तो दूसरी निरूहवस्ति तत्काल उसी समय दी जा सकती है।

३ सम्यक् योग होने के निरूह के लक्षण न मिले तब तक वस्ति दी जानी चाहिए।

४ वाताधिक एव रूक्ष रोगी को दो-तीन अनुवासन देकर जब उसे स्निग्ध-शरीर जाने, तो फिर निरूहवस्ति दें[2]।

(२) पथ्य और सयम-नियम

पथ्य—

१ वस्ति के प्रत्यागमन होने एव सम्यग् योग होने पर रोगी को विश्राम कराये।

२ तदनन्तर सुखोष्ण जल से स्नान कराये और पित्त-प्रधान दोष हो तो दूध, कफ-प्रधान हो तो यूष तथा वात-प्रधान हो तो मासरसयुक्त भोजन दे[3]।

३ निरूह से आमाशय या पक्वाशय मे अधिक क्षोभ नही होता, अत इसमे ससर्जनक्रम आवश्यक नही होता। फिर भी अग्नि की मन्दता, तीक्ष्णता एव समता के अनुसार लघु, गुरु या सामान्य मध्यम कोटि का भोजन दें।

---

१ लिङ्ग यदेवातिविरेचितस्य भवेत्तदेवातिनिरूहितस्य। —च० सि० ३।४३

२. रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनम्। दत्वा स्निग्धतनु ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्॥ —सु० चि० ३७।४४

३. प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम्। —च० सि० ३।२१

४ निरूहानन्तर अल्पभुक्त व्यक्ति को सायकाल अनुवासन दे ।

संयम-नियम—

(१) जितने दिन वस्ति दी जाये, उसके दुगुने दिनो तक सयम-नियम का पालन करना चाहिए[१] ।

(२) १ देर तक बैठना या खडे रहना, २ अति बोलना, ३ सवारी से यात्रा करना, ४. दिन मे सोना, ५ मैथुन करना, ६ वेगो को रोकना, ७ ठण्डा जल पीना या ठण्डे जल से नहाना, ८. धूप मे बैठना, ९ शोक या क्रोध करना छोड देना चाहिए, १० हलका भोजन, जो समयानुकूल हो, खाना चाहिए और ११ असमय मे तथा अहितकर भोजन नही करे[२] ।

(३) वस्तिकर्म के उपद्रव और उपचार

यदि वस्ति देनेवाला व्यक्ति वस्तिकर्म करने का अभ्यस्त नही हो, तो निम्नलिखित उपद्रव होते है—

(१) **गुदा मे वायुप्रवेश**[३]—असावधानी से वस्ति देने के कारण वस्ति-द्रव्य के साथ वायु भी गुदा मे प्रविष्ट होकर शूल और सूई चुभाने जैसी पीडा उत्पन्न करता है ।

चिकित्सा—१ गुदा का मृदु स्वेदन करे और उसके पूर्व २ पचगुण तैल आदि से अभ्यङ्ग कराना चाहिए ।

(२) **वस्तिनेत्र का शीघ्र प्रवेश या निष्कासन**[४]—वस्तिनेत्र के शीघ्रता से प्रविष्ट करने या निकालने से गुदा, वक्षण, जघा, ऊरु और कटि मे वेदना, मूत्राघात आदि उपद्रव होते है ।

चिकित्सा—वातघ्न अन्नपान, उष्ण, स्निग्ध, मधुर आहार, अभ्यग, स्वेदन एव अनुवासन या पिच्छा वस्ति का प्रयोग करे ।

(३) **तिर्यक् प्रवेश**—वस्तिनेत्र के तिरछा प्रवेश करने से गुदवलि से उसका द्वार बन्द हो जाने से वस्ति भीतर प्रविष्ट नही होती है ।

चिकित्सा—ऐसी स्थिति मे उसे बाहर निकालकर पुन सीधा प्रविष्ट करे[५] ।

(४) **सकम्प वस्ति-प्रवेश**—वस्तिनेत्र को गुदा मे प्रविष्ट करते समय प्रणेता के हाथ मे कम्पन होने से गुदा मे शोथ और दाह होता है ।

---

१. कालस्तु वस्त्यादिपु याति यावान् तावान् भवेद् द्वि. परिहारकालः । —च० सि० १।५४

२. अत्यासनस्थानवचासि यानं स्वप्न दिवा मैथुनवेगरोधान् ।
शीतोपचारातपशोकरोषास्त्यजेदकालाहितभोजन च ॥ —च० सि० १।५५

३. प्रविश्य कुपितो वायु. शूलतोदकरो भवेत् ।
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ॥ —च० सि० ५।१०

४. स्यात् कटीगुदजङ्घार्तिवस्तिस्तम्भार्तिवेदनाः ।
भोजन तत्र वातघ्न स्नेहा स्वेदाः सवस्तयः ॥ —च० सि० ५।११

५. ' ' 'निष्कृष्य सशोध्य च प्रवेशयेत् । —च० सि० ५।१२

चिकित्सा—इसमे लोध, त्रिफला, मोचरस, धातकीपुष्प, खदिरत्वक् आदि से सिद्ध क्वाथ आदि की वस्ति दें तथा उस क्वाथ से गुदा का सिञ्चन भी करे[१]।

(५) **अतिमात्र-प्रवेश**—वस्तिनेत्र को भीतर तक प्रविष्ट करने से गुदवलियों मे व्रण होता है। गुदा मे वेदना, दाह और गुदभ्रंश होना—ये लक्षण होते है।

चिकित्सा[२]—इसमे पिच्छावस्ति या क्षीरवस्ति दे। गुदा मे जात्यादि घृत या जात्यादि तैल का पिचु धारण करायें।

(६) **अतिबाह्य या अतिमन्द वस्ति**—वस्तिनेत्र अधिक बाहर रखने से वस्ति-द्रव्य तुरन्त लौट आता है और बहुत धीरे-धीरे वस्ति देने से वह पक्वाशय तक नही पहुँच सकती।

चिकित्सा—इसमे तुरन्त फिर दूसरी वस्ति दें[३]।

(७) **अतिवेग से वस्तिदान**—बहुत वेग से वस्ति देने पर वस्तिद्रव्य बृहदन्त्र एव क्षुद्रान्त्र के मध्य जाकर उत्तेजनाप्रद हो जाता है, जिससे आमाशय का क्षोभ होने से छर्दि होती है।

चिकित्सा[४]—इसमे गले मे मृदु अभ्यग करे, विरेचन-औषध दें, एतदर्थ अविपत्तिकर चूर्ण ५ ग्राम खिलाये। यवानीषाडव चूर्ण बार-बार चूसने के लिए २-२ ग्राम दे।

वस्तिदान में प्रमाद से १२ व्यापदें[५]

नियमानुकूल वस्ति देने मे असावधानी करने से निम्न १२ प्रकार के उपद्रव होते हैं—१. अयोग, २ अतियोग, ३ क्लम, ४ आध्मान, ५ हिक्का, ६ हृत्प्राप्ति, ७ ऊर्ध्वप्राप्ति, ८ प्रवाहिका, ९ शिरोऽर्ति, १० अगार्ति, ११. परिकर्त तथा १२ परिस्रव।

१ **अयोग**[६]—इसमे मल मूत्र-अधोवायु सग, नाभि-वस्ति मे पीडा, दाह, गुदकण्डू, अरुचि और अग्नि की मन्दता—ये लक्षण होते है।

उपचार—दीपन-पाचन क्वाथ पिलायें, स्वेदन करे, फलवर्ति लगाये या विरेचन कराये।

वेल का मूल, निशोथ, देवदारु, जव, कुलथी—इनके आधा लीटर क्वाथ मे १०० मि० ली० सुरा और उतना ही गोमूत्र मिलाकर वस्ति दें।

२ **अतियोग**[७]—इसमे विरेचन के अतियोग के लक्षण होते है।

उपचार—इसका उपचार अतिसार की भाँति करना चाहिए।

---

१ कषायमधुरा शीताः सेकास्तत्र सवस्तयः। —च० सि० ५।२५

२ तत्र सर्पि पिचुः क्षीरं पिच्छावस्तिश्च शस्यते। —च० सि० ५।२६

३. स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रणेय. सिद्धिमिच्छता। —च० सि० ५।२७

४ तत्र वस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च। —च० सि० ५।२८

५. च० सि० ७।५–६। ६ च० सि० ७।७–११।

७. च० चि० ७।१२–१४।

३ क्लम[1]--इसमे विदाह, शरीर मे भारीपन, पिण्डिकोद्वेष्टन, अग्निमान्द्य आदि लक्षण होते है।

उपचार--आमपाचन, विरूक्षण और स्वेदन करे। दशमूल क्वाथ आधा लीटर मे १०० मि० ली० गोमूत्र मिलाकर वस्ति दें तथा पक्वाशय का स्वेदन करे।

४. आध्मान[2]--वायु का मार्गविरोध होने से गुदा मे पीडा, विदाह, वृषण-वक्षण और हृदय मे शूल होता है।

उपचार--फलवर्ति लगाये। विल्वादि (पूर्वोक्त) वस्ति दे। तदनन्तर देवदारु-सिद्ध तैल से अनुवासनवस्ति दे।

५ हिक्का--अल्पवल रोगी को, जिसका कोष्ठ मृदु हो, उसे तीक्ष्ण वस्ति देने मे अधिक शोधन होकर हिक्का उत्पन्न होती है।

उपचार--कास-श्वास और हिक्का अधिकार की औषधे दे। वासावलेह खिलायें, स्त्रीस्तन्य नाक मे डाले, धूम्रपान करायें तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग करे।

६ हृत्प्राप्ति--अतितीक्ष्ण औषध-सिद्ध वस्ति अथवा वातल वस्ति देने से हृदयप्रदेश मे जकडन का अनुभव होता है।

उपचार--इसमे चरक-विमान अ० ८ मे कथित अम्लस्कन्ध और लवणस्कन्ध से सिद्ध वस्ति दे और दशमूल-सिद्ध तैल से अनुवासन वस्ति दे।

७. ऊर्ध्वप्राप्ति[3]--वस्ति-प्रदान के पश्चात् मल-मूत्र या अधोवायु के अवरोध के कारण वस्तिद्रव्य का प्रभाव ऊपर की ओर होकर मूर्च्छा आदि विकार होते हैं।

उपचार--मूर्च्छा होने पर तीक्ष्ण नस्य देकर होश मे लाये, ठडी हवा मे सुलाये, शीतोपचार करे, शिर पर शीतल तैल की मालिश करे, वायु के अनुलोमनार्थ हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण खिलाये या पथ्यादि चूर्ण दे।

८ प्रवाहिका[4]--इसमे गुदा मे शोथ, जघा और ऊरु मे थकावट होती है। वार-वार प्रवाहण-कुथन होता है।

उपचार--अभ्यग तथा स्वेदन कराकर निरूहवस्ति दे। विरेचन औषध दे। तदनन्तर ससर्जन-क्रम से पथ्य दे।

९ शिरोऽर्ति[5]--क्रूर-कोष्ठवाले एव तीव्र दोषयुक्त रोगी को पतली, मृदु और शीत वस्ति देने से दोषो द्वारा आवृत होकर वह वायु को प्रतिलोम कर देती है। वह वायु अगो मे जकडन उत्पन्न कर मूर्धा मे चली जाती है, जिससे सिर फटने लगता है तथा कर्णनाद, कर्णवाधिर्य, पीनस आदि उपद्रव हो जाते हैं।

---

१. च० सि० ७।१५–२०। २. च० सि० ७।२१–२६।

३. च० सि० ७।३२–३९।

४ निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्ण सम्प्रवाहते ॥
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान्।
विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्ति कुर्याद् विरिक्तवत् ॥ —च० सि० ७।४०–४२

५ युञ्ज्यात प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्य विरेचनै.। तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्ध भुक्तोऽनुवासयेत ॥
—च० सि० ७।४६

परिहार—यापनवस्ति के प्रयोग-काल मे व्यायाम, मैथुन, मद्यपान, मधु, शीतल जल एव भोजन तथा रथक्षोभ —इनका त्याग करना चाहिए[१] ।

यापनवस्ति के उपद्रव[२]

१ शोथ, २ अग्निनाश, ३ पाण्डु, ४ शूल, ५ अर्श, ६ परिकर्तिका, ७ ज्वर और ८ अतिसार ।

चिकित्सा—१ दीपन-पाचन औषध सेवन कराये । २ क्षीरपान, आसव-अरिष्ट-सीधु का सेवन कराये । ३ हिंग्वादिचूर्ण आदि दे ।

यदि दी हुई वस्ति का प्रत्यावर्तन न हो रहा हो, तो उसे प्रत्यावर्तित कराने के लिए गोमूत्र, यवक्षार तथा तीक्ष्ण औषधसयुक्त तीक्ष्ण निरूहवरित दे ।

अनुवासनवस्ति

अनुवासन का दूसरा नाम स्नेहवस्ति है ।

समीक्ष्य विषय—

१ वस्ति देने के पूर्व—१ दोष, २ औषध, ३ देश, ४. काल, ५ सात्म्य, ६. ओक, ७. अग्नि, ८ सत्त्व, ९ वय और १०. वल—इनका विचार कर रोगी का सूक्ष्म निरीक्षण कर यह निर्णय करना चाहिए कि शोधन, वृहण आदि मे से किस प्रकार की वस्ति दी जाये ।

२. यह निश्चय करे कि क्या रोगी अनुवासन-योग्य है ।

३ जव दोष सामावस्था मे हो, तो अनुवासन न दे ।

४ **अनुवासन-काल**—१. शिशिर, हेमन्त और वसन्त मे **दिन** मे तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुओ मे **रात्रि** मे अनुवासन दे[३] । २ सामान्यत शैत्य के दोषोत्क्लेश, आध्मान, गौरव आदि जनक होने से रात्रि मे अनुवासनवस्ति निषिद्ध है, किन्तु आत्ययिक स्थिति मे कभी भी देय है[४] ।

५ वमन आदि पूर्वक जव वस्ति का प्रयोग करना हो, तो विरेचन के वाद नवे दिन अनुवासनवस्ति देनी चाहिए[५] ।

सुश्रुत ने विरेचन के वाद ससर्जन-क्रम से प्राकृत भोजन पर आये हुए सञ्जात-वल रोगी को सातवे दिन अनुवासन देने का विधान किया है[६] । क्रमागत वस्ति मे निरूह के वाद पुन अनुवासन वस्ति देनी चाहिए । निरूह से मार्ग शुद्ध होने पर ही स्नेह शरीर मे भलीभाँति फैल सकता है[७] ।

---

१. च० सि० १२।५० । २ च० सि० १२।५७ ५८ ।

३. शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु । —च० सि० १।२२

४. सु० चि० ३७।४७-५१ ।

५ ससृष्टभक्त नवमेऽह्नि सर्पिस्त पाययेताप्यनुवासयेद्वा । —च० सि० १।२०

६ विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातवलाय च । कृतान्नायानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासन. ॥ —सु० चि० ३७।१

७. निरूहशोधितान् मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति । —सु० चि० ३५।१९

६ अनुवासनवस्ति भोजन के बाद ही देनी चाहिए। बिना भोजन किये देने पर अन्ननलिका तक प्रभावकारी हो सकती है[1]।

७ कफज विकारो मे 1 से 3, पित्तज विकारो मे 5 से 7, तथा वातज विकारो मे 9 से 11 स्नेहवस्ति देनी चाहिए[2]। केवल निरूह या केवल अनुवासन अधिक नही देना चाहिए, इन उक्त वस्तियो के मध्य मे निरूहवस्ति देते रहना चाहिए[3]। गुद और मुख से एक साथ स्नेह न दें[4]।

अनुवासन-विधि

अनुवासन की सपूर्ण प्रक्रिया तीन चरणो मे पूरणीय है—

1. पूर्वकर्म, २ प्रधान कर्म और ३ पश्चात्कर्म।

(१) पूर्वकर्म

इसके ३ अग है—1 अभ्यङ्ग-स्वेदनादि, २ आहार-व्यवस्था और ३ भोजनोत्तर टहलना।

1. अभ्यङ्ग-स्वेदनादि[5]—रोगी की यथोचित रूप से मालिश करानी चाहिए। तत्पश्चात् सुखोष्ण जल से स्वेदन कराये। सुविधानुसार टब मे मन्दोष्ण जल भरकर उसमे अवगाहन कराये या परिषेक या तापस्वेद कराये।

२ **आहार**[6]—जिस व्यक्ति को अनुवासनवस्ति देय हो, उसे भोजन के बाद ही वस्ति देनी चाहिए। भोजन मे घी-तेल आदि चिकनी चीजे नही दे। अधिक रूक्ष आहार भी न दे।

वात-विकार मे मासरस, पित्त-विकार मे दूध और कफ मे यूष का प्रयोग करे। भोजन की मात्रा तीन-चौथाई ही देनी चाहिए।

भोजन के बाद अधिक विलम्ब न करे। भोजनोत्तर सौ-दो-सौ कदम टहलने के

---

१ न चाभुक्तवत स्नेह प्रणिधेय कथञ्चन।
शुद्धत्वात् शून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत्।
सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम्॥ —सु० चि० ३७।५३-५४

२ एक तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वाऽपि।
वाते नवैकादश वा पुनर्वा वस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात्॥ —च० सि० १।२५

३ स्नेहवस्तिं निरूह वा नैकमेवातिशीलयेत्।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहात् निरूहात् मरुतो भयम्।
तस्मान्निरूढो संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासित॥ —च० सि० ४।५०-५१

४ न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात्स्नेहमनन्तरम्।
उभयस्माद् सम गच्छन् वातमग्नि च दूषयेत्॥ —च० सि० ४।४९

५ अथानुवास्य स्वभ्यक्त सुखाम्बुस्वेदित शनै.। —सु० चि० ३७।५८

६ भोज्यं पुनर्व्याधिमपेक्ष्य तद्वत् प्रकल्पयेद् यूषपयोरसाद्यै। —च० सि० ३।३४
यथोचिताद् पादहीन भोजयित्वाऽनुवासयेत्। —सु० चि० ३७।५७
भोजयित्वा यथाशास्त्र कृतचङ्क्रमण तत.। विसर्ज्य च शकृन्मूत्र योजयेत् स्नेहवस्तिना॥ —सु० चि० ३७।५९

वाद वस्ति दे देनी चाहिए। इस वात का ध्यान रखे कि रोगी को वस्ति देने के पूर्व मल-मूत्रादि वेगो को विमृष्ट करा दिया जाय।

(२) प्रधान कर्म

१ रोगी को वामपार्श्व लिटाये। वायाँ पैर फैला हो और उसके ऊपर दाहिने पैर को रखे, जो कुछ झुका हुआ हो और जानु तथा वक्षण से मुडा हुआ हो। रोगी अपने हाथ का सिरहाना लगाये। वस्तिनेत्र तथा गुदा मे स्नेह लगाकर स्निग्ध करे, फिर अनुपृष्ठवश वस्तिनेत्र प्रविष्ट करे।

२ वस्ति देने के वाद एक सौ अङ्क गिनने तक रोगी को उत्तान स्थिति मे लिटाकर रखे और हाथ-पैर सीधे फैला दे। शयनासन को पैर की ओर से ऊँचा कर दे। पैर के तलवे मे तेल का मुलायम हाथो से मर्दन करे तथा श्रोणिमण्डल पर मृदु अभ्यग कर थपथपी लगाये। अनुवासन के वाद रोगी कोई श्रम का कार्य न करे।

३ चिकित्सक सम्यक् अनुवासन के लक्षण देखता रहे। वात और पुरीष के साथ विना दाह के उचित काल मे स्नेह यदि लौट आये, तो इसे सम्यक् अनुवासन हुआ जानना चाहिए[1]।

४ अनुवासनवस्ति की कल्पना रोगानुसार करे और उसमे स्नेह के साथ ३-८ ग्राम सैन्धव तथा सौंफ १-२ ग्राम पिसा हुआ डालकर हल्का गरम करके वस्ति देने से वह सुखपूर्वक वापस लौट आती है[2]।

५ यदि उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु होने से, मन्दाग्नि होने या वायु के दवाव के कारण या अधिक मात्रा मे होने से वस्ति तुरन्त वापस आ जाये तो पहले की अपेक्षा कम मात्रा मे पुन अनुवासनवस्ति देनी चाहिए[3]।

६ अनुवासन के वाद जिन अगो मे पीडा हो रही हो, उनका धीरे-धीरे मर्दन करे और सिरहानी लगाकर सुला दे[4]।

(३) पश्चात्कर्म

स्नेहवस्ति देने के वाद वस्ति के लौटने और रोगी को पथ्य देने तथा उपद्रवो के प्रतिकार, ये सव विषय पश्चात्कर्म मे आते हैं। जैसे—

---

१ सानिल. सपुरीषश्च स्नेह प्रत्येति यस्य तु। ओष चोष विना शीघ्र स सम्यगनुवासित ॥
—सु० चि० ३७।६७

२ स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजित । देय· सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥
—सु० चि० ३७।६३

३ यस्यानुवासनो दत्त. सकृदन्वक्षमाव्रजेत् ।
अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद् वा वायुना वा प्रपीडित· ॥
स वातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद् वा सभेषज ।
तस्याऽन्योऽल्पतरो देयो न स्निह्यत्यतितिष्ठति ॥ —सु० चि० ३७।६४-६५

४ स्नेहेन पाष्ण्यंङ्गुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवा रुगार्ता· ।
तांश्चावमृद्नीत सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः ॥ —च० सि० ३।१०

१ वस्ति का प्रत्यागमन ।
२ पथ्य आदि व्यवस्था ।
३ उपद्रव और उनका प्रतिकार ।

(१) वस्ति का प्रत्यागमन—

१ स्नेहवस्ति देने के बाद यदि १२ घण्टे तक भीतर रुकी रहे, तो उसका कार्य समुचित हुआ जानना चाहिए। यदि वस्ति शीघ्र ही बाहर निकल जाये, तो दूसरी वस्ति देनी चाहिए[1] ।

प्रात ८ बजे कुछ खिलाकर स्नेहवस्ति देनी चाहिए ।

२ २४ घण्टे तक स्नेहवस्ति के वापस आने की प्रतीक्षा करे। यदि फिर भी वापस न आये और कोई कष्ट न हो, तो चिन्ता न करे। यदि वस्ति के वापस न आने से उदर मे कष्ट हो तो फलवर्ति अथवा तीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग कर वस्ति का प्रत्यागमन कराये[2] ।

(२) पथ्य आदि व्यवस्था—

१ वस्ति के वापस आने के बाद एक भोजन-काल उपवास कराकर दूसरे दिन मध्याह्न मे हलका मनोऽनुकूल भोजन दे ।

२ सायकाल यूष-मासरस आदि अनुकूल भोजन कराकर फिर अनुवासन दे। यदि तीसरे दिन या पाँचवे दिन भी अनुवासन देना हो, तो निरूह देकर अनुवासन दे[3] ।

३ वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन के बाद गरम जल पीना कल्याण-कारक होता है[4] ।

(३) स्नेहवस्ति के उपद्रव और उनका प्रतिकार—

स्नेहवस्ति देने मे सावधानी न रखने से छह प्रकार[5] के उपद्रव होते है। जैसे—

१ स्नेह का वात से आवृत होना ।
२ स्नेह का पित्त से आवृत होना ।
३ स्नेह का कफ से आवृत होना ।
४ स्नेह का अन्न से आवृत होना ।

---

१. यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नर स्यात स विशुद्धदेह. ।
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेय. स्नेहो न च स्नेहयति ह्यतिष्ठन् ॥ —च० सि० १।४६

२. निवृत्तिकाल- परमस्त्रयो यामास्तत. परम् । अहोरात्रमुपेक्षेत, परत फलवर्तिभि ॥
तीक्ष्णैर्वा वस्तिभि. कुर्यात् यत्न स्नेहनिवृत्तये । —अ० हृ० सू० १९।३२-३३

३ प्रत्यागते वाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेय व्युषिताय भोज्यम् । —च० सि० १।२३

४ मारुतस्यानुलोम्य च कुर्यादुष्णोदक नृणाम् ॥
वमने च निरूहे च विरेके सानुवासने । तस्मादुष्णोदक देय वातश्लेष्मोपशान्तये ॥
—च० सि० ४।४४-४५

५ वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च । अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहवस्ते· षडापदः ॥
—च० सि० ४।२५

५ स्नेह का मल से आवृत होना ।

६ अभुक्तदत्त स्नेहवस्ति-उपद्रव ।

(१) **वातावृत स्नेह**—वातरोग मे अल्प एव शीत स्नेहवस्ति कुपित वात से आवृत हो जाती है और उसका प्रत्यागमन यथाकाल नही होता। जिससे मुख मे कसैलापन, जम्भाई, वातज पीडाएँ, कम्पन तथा विपमज्वर आदि लक्षण होते है[1] ।

चिकित्सा—सस्नेह, अम्ल-लवणयुक्त रास्नादि निरूहवस्ति दे या रास्नादि तैल, पचपूल क्वाथ और गोमूत्र तथा अम्ल द्रव्य की वस्ति दे। निरूह से शोधन हो जाने पर सायकाल भोजनोत्तर रास्नादि तैल की अनुवासनवस्ति दे।

(२) **पित्तावृत स्नेह**—पित्तप्रधानता मे अत्युष्ण स्नेहवस्ति कुपित पित्त से आवृत हो जाती है, जिससे मुख मे कटुरसता, दाह, तृपा, ज्वर, नेत्र-मूत्र-अगो मे पीलापन आदि लक्षण होते है[2] ।

चिकित्सा—इसमे मधुर स्कन्ध तथा तिक्त स्कन्ध की औपधो से सिद्ध निरूह-वस्ति देनी चाहिए।

(३) **कफावृत स्नेह**—कफदोप की प्रधानता मे अति मृदु द्रव्यसयुक्त वस्ति कुपित कफ से आवृत हो जाती है, जिससे तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, अरुचि, मुख-माधुर्य आदि लक्षण होते है[3] ।

चिकित्सा—कटु स्कन्ध एव कपाय स्कन्ध के द्रव्यो के क्वाथ मे उष्ण, तीक्ष्णक्षार, गोमूत्र एव सुरा मिलाकर निरूह दे।

(४) **अन्नावृत स्नेह**—अत्यधिक भोजन के बाद वस्ति देने पर वह अन्न से आवृत होने के कारण लौटती नही है, जिससे छर्दि, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा, अगमर्द तथा आम के लक्षण उत्पन्न होते है।

चिकित्सा[4]—त्रिकटु चूर्ण और सैन्धव लवण खिलाये। हिङ्गु के योग से बने हिंग्वादि चूर्ण या हिंग्वष्टक चूर्ण या चित्रकादि वटी दे। त्रिवृत् चूर्ण या अविपत्तिकर चूर्ण देकर विरेचन कराये।

(५) **पुरीषावृत स्नेह**—रोगी को वस्ति देने के पहले यदि मूत्र-पुरीष के वेगो से निवृत्त न करा लिया जाये तो स्नेहवस्ति पुरीष से आवृत हो जाती है। इसमे मल-मूत्र-अधोवायु की रुकावट, पक्वाशय मे भारीपन, आध्मान, हृद्ग्रह, श्वास और शूल होना—ये लक्षण होते है।

---

१. तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता। जृम्भा वातरुजास्तास्ता वेपथुर्विषमज्वर॰ ॥
—सु० चि० ३७।८३

२ पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत्। दाहस्तृष्णा ज्वर॰ स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता ॥
—सु० चि० ३७।८४

३ श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता। गौरव छर्दिरुच्छ्वास॰ कृच्छ्रात् शीतज्वरोऽरुचि॰ ॥
—सु० चि० ३७।८५

४. कटूना लवणाना च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम्। विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ॥
—च० सि० ४।३५

चिकित्सा[1]—स्नेहन-स्वेदन करे। गुदा मे फलवर्ति लगाकर स्नेह को वापस कराये। श्यामात्रिवृत् बिल्वादि-सिद्ध निरूहवस्ति देकर पुन. अनुवासनवस्ति दे। हिङ्ग्रुग्रगन्धादि चूर्ण, शिवाक्षारपाचन चूर्ण आदि का प्रयोग करे।

(६) **अभुक्त वस्तिदान**—बिना भोजन कराये वस्ति देने से गुदा से पक्वाशय तक का मार्ग रिक्त होने से दिया हुआ स्नेह वेगपूर्वक कण्ठ मे आकर बाहर आ जाता है। इसमे अगो मे जकडन, अवसाद, मुख मे स्नेहगन्ध, कास-श्वास और अरुचि—ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा[2]—श्यामात्रिवृत् आदि वस्ति मे यव, कोल, कुलत्थ मिलाकर निरूहवस्ति दे। गले को हाथ से मृदु सहलाये, विरेचन दे तथा छर्दिनाशक चिकित्सा करे।

मात्रावस्ति

यह स्नेहवस्ति का ही एक प्रकार है, जिसमे स्नेह की ह्रस्वमात्रा[3] दी जाती है। चक्रपाणि ने तन्त्रान्तर का वचन देकर स्नेहवस्ति का प्रमाण ६ पल (२८८ ग्राम), अनुवासनवस्ति का प्रमाण ३ पल (१४४ ग्राम) और मात्रावस्ति का प्रमाण १½ पल (७२ ग्राम) बतलाया है।

मात्रावस्ति की विशेषता

यह सदा प्रयोग-योग्य है। इसकी मात्रा कम होने से यह निरापद है। इसके साथ निरूहवस्ति देने की आवश्यकता नही है।

७५ ग्राम से १२० ग्राम तक तिल-तैल या रोगानुसार कोई भी तेल या घृत अल्प लवण मिलाकर गुदा मे सिरिञ्ज से प्रविष्ट कराये। वस्ति देने के पूर्व रोगी को भोजन करा देना चाहिए।

मात्रावस्ति के योग्य व्यक्ति

जो व्यक्ति कार्य करने, व्यायाम करने, भार ढोने या रास्ता चलने से थके हो तथा मद्यपान, अतिमैथुन से क्षीण, दुर्बल और वातरोग से पीडित हो, उन्हे मात्रावस्ति देनी चाहिए[4]।

इसके प्रयोग मे कोई पथ्य-परिहार की पाबन्दी नही है। यह बालक, वृद्ध, राजा, रईस, सुकुमार लोगो के लिए प्रशस्त है। यह बृंहण करती है और वातरोगो को मिटाती है[5]।

---

१ श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहै सानुवासनै। निर्हरेद् विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च॥ —च० सि० ४।३७

२ कण्ठादागच्छत स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनै। छर्दिघ्नीभि. क्रियाभिश्च तस्य कार्यं निवर्तनम्॥ —च० सि० ४।४०

३ ह्रस्वाया स्नेहमात्राया. मात्रावस्तिः समो भवेत्। —च० सि० ४।५३

४. कर्मव्यायामभाराध्वयानस्त्रीकर्षितेषु च। दुर्बले वातभग्ने च मात्रावस्ति. सदा मत.॥
यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्यय.॥ —च० सि० ४।५२-५३

५. स्नेहमात्राविधान हि बृंहण वातरोगनुद्। —च० सि० ४।५४

उत्तरवस्ति

स्त्रियो मे अपत्यपथ से गर्भाशय मे और पुरुषो मे मूत्रमार्ग से मूत्राशय मे दी जाने वाली वस्ति को **उत्तरवस्ति** कहते है। यहाँ इसी सन्दर्भ का व्याख्यान किया जायेगा।

उत्तरवस्ति—उत्तरवस्ति शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया जाता है—१. उत्तर मार्ग से दी जाने के कारण 'उत्तरवस्ति' यह सज्ञा है तथा २ उत्तर अर्थात् श्रेष्ठ गुणसम्पन्न होने के कारण 'उत्तरवस्ति' कहलाती है[1]।

उत्तरवस्ति-नेत्र

यह नेत्र स्वर्ण या चाँदी का बनाने के लिए प्राचीन आचार्यो ने निर्देश दिया है। **सुश्रुत** ने इसका प्रमाण १४ अगुल वतलाया है। नेत्र की आकृति कनेर के फूल के मूल जैसी, गोपुच्छ के समान मूल मे चौडी और अग्रभाग मे सिकुडी होनी चाहिए। इसका छिद्र सरसो के दाने के प्रवेश-योग्य होना चाहिए। इसमे दो कर्णिकाएँ होती है। एक मूलभाग मे वस्ति को बाँधने के लिए और दूसरी एकदम बीच मे होती है। मध्यकर्णिका तक ही अर्थात् ६ या ७ अगुल[2] नेत्र प्रविष्ट किया जाता है।

स्त्रियो के लिए नेत्र १० अगुल लम्बा होना चाहिए। इसकी स्थूलता मूत्रवह स्रोत के छिद्र के अनुसार होनी चाहिए। अपत्यमार्ग मे नेत्र का प्रवेश ४ अगुल[3] तक और मूत्रमार्ग मे २ अगुल तक करना चाहिए।

उत्तरवस्ति-पुटक

बकरी या भेड की वस्ति से इसका निर्माण करना चाहिए। उत्तरवस्ति की मात्रा कम होने के नाते इसके लिए वस्तियन्त्र छोटा ही चाहिए।

बालिकाओं मे नेत्र १ अगुल ही प्रविष्ट करना चाहिए और उनके अपत्यमार्ग मे उत्तरवस्ति नही देनी चाहिए।

उत्तरवस्ति की मात्रा

सुश्रुत ने पुरुषो मे (२५ वर्ष के युवा मे) स्नेह का प्रमाण १ प्रकुञ्च (५० ग्राम) कहा है और २५ से कम आयु वालो मे स्वविवेक के अनुसार उक्त मात्रा के किसी अश का प्रयोग करना चाहिए, यह निर्देश दिया है[4]।

स्त्रियो मे उत्तरवस्ति का प्रमाण उनके हाथ से १ प्रसृति (एक पसर) कहा

---

१. उत्तरवस्तिसज्ञा उत्तरभाग दीयमानतया किं वा श्रेष्ठगुणतया उत्तरवस्ति ।
—च० सि० ९।५० पर चक्रपाणि

२. सप्ताङ्गुलं पर नेत्र प्रणिधेय भिषग्विदा ।

३. तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम् । द्व्यङ्गुल मूत्रमार्गे तु कन्याना त्वेकमङ्गुलम् ॥
—सु० चि० ३७।१०५

४ स्नेहप्रमाण परम प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तित ।
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद् बुद्धिकल्पिताम् ॥ —सु० चि० ३७।१०२

गया है और यदि गर्भाशय-शोधन के लिए देना हो तो २ प्रसृति (२ पसर या १ अजलि) की मात्रा देनी चाहिए[1]।

क्वाथ के द्वारा निरूह उत्तरवस्ति देनी हो तो पुरुषो मे एक प्रसृति और स्त्रियो मे गर्भाशय-शोधन के लिए दो प्रसृति देनी चाहिए। १२ वर्ष से कम आयु की कन्याओ मे १ प्रसृति की मूत्राशयगत वस्ति ही देनी चाहिए[2]।

उत्तरवस्ति-योग्य रोग[3]

१ मूत्रौकसाद	२ मूत्रजठर	३ मूत्रकृच्छ्र
४. मूत्रोत्सग	५ सक्षय	६ मूत्रातीत
७. अष्ठीला	८. वातवस्ति	९ उष्णवात
१० वातकुण्डलिका	११ ग्रन्थि	१२ विड्विघात
१३. वस्तिकुण्डल	१४ शर्करा	१५. अश्मरी
१६ वस्तिशूल	१७ वक्षणशूल	१८ मेहनशूल
१९ शुक्रदोष	२० क्लैब्य	२१ ध्वजभङ्ग।

गर्भाशयिक उत्तरवस्ति-योग्य रोग

१ योनिभ्रंश	२ रजोदोष	३ योनिदोष
४ योनिशूल	५. तीव्र योनिव्यापद्	६ असृग्दर
७ रजोऽवरोध	८ अकाल रज प्रवृत्ति	९ अपरा द्वारा गर्भ-निरोध
१०. वन्ध्यत्व।		

उत्तरवस्ति-योग्य २० योनिव्यापद्

१ वातला योनि	२ पित्तला योनि	३ श्लेष्मला योनि
४ त्रिदोषजा योनि	५. अरजस्का योनि	६. असृजा योनि
७. अचरणा योनि	८. अतिचरणा योनि	९. प्राक्चरणा योनि
१० उपप्लुता योनि	११ परिप्लुता योनि	१२ उदावर्तिनी योनि
१३ कर्णिनी योनि	१४ पुत्रघ्नी योनि	१५ अन्तर्मुखी योनि
१६ सूचीमुखी योनि	१७. शुष्का योनि	१८. वामिनी योनि
१९. षण्ढी योनि	२०. महा योनि।	

उत्तरवस्ति-विधि

समस्त विधि को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—१. पूर्वकर्म, २. प्रधानकर्म और ३. पश्चात्कर्म।

---

१ (क) स्नेहस्य प्रसृत चात्र स्वाङ्गुलीमूलसम्मितम्। —सु० चि० ३७।१०६
(ख) गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु ॥ —सु० चि० ३७।११६

२ क्वाथप्रमाण प्रसृतं स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत्। कन्येतरस्य कन्याया तद्वद् वस्तिप्रमाणकम् ॥ —सु० चि० ३७।११७

३. च० सि० ९।४९ तथा सु० चि० ३७.१२५–१२६।

(१) पूर्वकर्म

१. रोगी की परीक्षा तथा उत्तरवस्ति देने का निश्चय।

२ रोगी को वस्ति के लिए तैयार करना।

(१) **रोगी-परीक्षा**—सर्वप्रथम रोगी का निरीक्षण कर उसकी वस्ति-योग्यता का निश्चय करे। आचार्य चरक ने तेरह प्रकार के मूत्ररोगो मे उत्तरवस्ति देने का आदेश दिया है, जिनका वर्णन चरक० सिद्धि० अ० ९ मे किया गया है। सुश्रुताचार्य ने सुश्रुत० चि० अ० ३७ मे उत्तरवस्ति के योग्य रोगो को वतलाया है। चरक० चि० अ० ३० मे वीस योनिव्यापदो का वर्णन है तथा सिद्धि० अ० ९ मे कतिपय स्त्रीरोगो मे उत्तरवस्ति देने की वात कही गयी हे।

उत्तरवस्ति स्त्रियो मे गर्भाशय तथा मूत्राशय मे और पुरुपो मे मूत्राशय मे दी जाती है। रोगी की परीक्षा कर किसे कौन-सी वस्ति देय है, इसका निश्चय करे।

उत्तरवस्ति दो प्रकार की होती है—१. निरूह और २ स्नेह। इनमे से कौन-सी वस्ति देना रोग के निराकरण मे उपयोगी होगा, यह भी निश्चय करके उसकी कल्पना करे।

(२) **रोगी को उत्तरवस्ति हेतु तैयार करना**—रोगी को वस्ति देने के पहले यवागू या वार्ली दूध-घी के साथ खिलाये, यदि मासाद व्यक्ति हो तो उसे मासरस युक्त भोजन दे। रोगी के नितम्व, कटि, पार्श्व और वक्षण-प्रदेश का अभ्यग कराये। रोगी मल-मूत्र वेग से निवृत्त हो।

सामग्री—वस्ति मे देने की सामग्री तैयार रखे और सम्भावित उपद्रवो के शमन के लिए भी आवश्यक औषधो को एकत्र कर ले, जिससे कोई सकट आ पडे तो उनका उपयोग हो सके और सकट टल जाये। सिरिञ्ज, मूत्रशलाका और गर्भाशय-शलाका आदि को विसक्रामित कर ले।

(२) प्रधानकर्म

इसमे दो वाते मुख्य है—१. वस्ति देना तथा २ उसकी देखरेख करना।

(१) **वस्तिदान**[१]—पुरुष-रोगी को जानु जितने ऊँचे गद्देदार टेविल या चौकी पर वैठाकर तैलाभ्यग कराये। फिर उपस्थ को प्रहृष्ट कर, स्निग्ध कर, स्निग्ध शलाका को उसमे प्रविष्ट कर, वस्ति-पर्यन्त मार्ग की परीक्षा करे, जिससे यह अनुमान लग जाये कि कितनी दूर तक वस्तिनेत्र को प्रविष्ट कराना होगा।

तदनन्तर वस्तिनेत्र को स्निग्ध कर सेवनी के समानान्तर शनै-शनै प्रविष्ट करे। इस कार्य के लिए रवर का कैथेटर प्रयोग करना उत्तम है। फिर नेत्र का दूसरा सिरा सिरिञ्ज मे लगाकर धीरे-धीरे औषध को भीतर प्रविष्ट कराये। औषध सुखोष्ण और निरापद होनी चाहिए। औषध के वस्ति मे चले जाने के वाद नेत्र को सावधानी से निकाल ले।

नारी को वस्ति देना[२]—स्त्री को टेविल या चौकी पर उत्तान सुलाकर जानु

---

१. च० सि० ९।५३-५६। २. च० सि० ९।६७ तथा सु० चि० ३७।११०-११४।

पर से पैर मोड़ दे और ऊरु को फैलाकर रखे। वंक्षण एवं वस्ति प्रदेश पर अभ्यंग करें। मूत्राशय में वस्ति देनी हो, तो वस्तिशलाका से मार्ग-परीक्षा करे। यदि गर्भाशय में देनी हो तो उसके मार्ग में शलाका प्रविष्ट कर मार्ग-परीक्षण करे। फिर गर्भाशय का कैनुला (Uterinecanula) गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे का भाग औषधयुक्त सिरिञ्ज के साथ जोड़कर औषध अन्दर प्रविष्ट कराये, और फिर उसे सावधानी से साथ निकाल दें।

(२) निरीक्षण या देखरेख—यदि सक्षार को उत्तरवस्ति दी गयी हो, तो वह लौट जाती है और इसे सम्यक् योग समझें। इस तरह दो या तीन वस्तियाँ दें। यदि स्नेह की उत्तरवस्ति दी गयी हो, तो वह जल्दी नहीं लौटती और वह स्नेहवस्ति के समान भीतर रहकर कार्य करती है। उत्तरवस्ति ३-३ दिन के अन्तर से दो या तीन बार दे। स्त्रियों में रजोदर्शन बन्द होने के बाद ३-८ दिन प्रतिदिन वस्ति दे।

(३) पश्चात्कर्म

उत्तरवस्ति के वापस न आने पर १२-१८ घण्टे प्रतीक्षा करनी चाहिए। फिर भी न आवे तो उसका प्रत्यावर्तन कराना चाहिए। वस्ति देने के बाद कोई वेदना-निवारक औषध देनी चाहिए। चित्रोदय रस २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा दिन में ३ बार दें। स्थानीय अभ्यंग और मृदु स्वेद करना चाहिए।

यदि वस्ति प्रत्यावर्तित न हो, तो निम्नलिखित वर्ति का प्रयोग करें—

पिप्पल्यादि वर्ति—पिप्पली, सेंधानमक, गृहधूम, अपामार्गपत्र, बैंगन के बीज, निर्गुण्डीपत्र, अमलतासफलमज्जा तथा कटसरैया—इनको गोमूत्र में पीसकर नीबू का रस और गुड़ मिलाकर यवाकार वर्ती बनायें। जो अंगुष्ठमूल के समान मोटी हो। इसे गुदा में लगाये। गुदा में संवेदना होने से मलप्रवृत्ति के साथ मूत्र की भी प्रवृत्ति होती है और वस्ति वापस आ जाती है। वंक्षण और वस्तिप्रदेश में धीरे-धीरे दबाये।

भोजन—वस्ति के लौटने के बाद दूध, यूष अथवा मांसरसयुक्त भोजन दे। इसका सम्यग्योग, परिहार और व्यापत् आदि अनुवासनवस्ति के समान जाने।

वक्तव्य—कदाचित् औषध-वेग या वस्ति पर आघात या गर्भाशय-ग्रीवा की उत्तेजना से अवसाद (Shock) के लक्षण उत्पन्न हो जाते है, जिसमे अतिस्वेदागम होता है और मूर्च्छा आती है। इसका उपचार तत्परता से करे। मूर्च्छा को दूर करने के उपाय नस्य, शीत जल परिषेक आदि करे। १०-१५ मिनट के अन्तर से द्राक्षासव या दशमूलारिष्ट मे कस्तूरीभैरव रस २५० ग्राम/1 मात्रा पिलाते रहे, जब तक रोगी सामान्य न हो जाये।

कतिपय वस्ति-कल्प

वात-विकार में निरूहवस्ति

१. बेल की छाल, गनियार की छाल, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल और पाढल की छाल के क्वाथ मे घृत-तैल-वसा-मज्जा और मासरस का प्रक्षेप देकर वातज रोगो मे वस्ति दे।

२ जौ, बेर, कुलथी और शालिपर्णी के क्वाथ में चारों स्नेह तथा मामरस मिलाकर निरूहवस्ति दें।

३ गुरुच, आँवला, हर्रा, वहेडा, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू, वेल, गनिआर, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, रास्ना, वरिआर—प्रत्येक १ पल (५० ग्राम), अजामास ३२ पल (१६०० ग्राम) लेकर १३६ पल पानी में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करें। फिर छानकर इसमें से ८ पल लेकर उसमे प्रियगु, नागरमोथा, सेधानमक, सौंफ, वच, पिप्पली, अजवायन, कूठ और बिल्व का पीसा हुआ कल्क तथा गुड प्रत्येक १२ ग्राम मिलायें और मदनफलकल्क २५ ग्राम, मधु, घृत, दूध, शुक्त, काजी, मस्तु और गोमूत्र उचित प्रमाण में मिलाकर वस्ति दें।

यह बल-वीर्यवर्धक, अग्निवर्धक और वातनाशक है[१]।

पित्त-विकार मे निरूहवस्ति

१ नल (नरसल) का मूल, वेत का मूल, जलवेत का मूल, कमल, शैवाल, इनके क्वाथ मे चीनी, मधु, घी और दूध मिलाकर वस्ति दें।

२ मजीठ, सारिवा, अनन्तमूल, क्षीरविदारी और मुलहठी के क्वाथ मे चीनी-घी-मधु-दूध मिलाकर वस्ति दें।

३ न्यग्रोधादिगण[२] की औषधों के क्वाथ मे दूध-चीनी-मधु-घृत मिलाकर वस्ति दें।

कफ-विकार में निरूह

१. आरग्वधादि गण के क्वाथ की वस्ति दें।

२. हल्दी, त्रिफला, केवटी मोथा, दारुहल्दी के क्वाथ की वस्ति दें।

३. पिप्पली व चित्रक के क्वाथ मे यवक्षार, गोमूत्र व मधु मिलाकर वस्ति दें।

४. कटफलादि (सु० चि० ३८) वस्ति दें।

माधुतैलिक वस्ति

मधु और तैल समान भाग (१२० ग्राम), सेंधानमक १२ ग्राम, सौंफ २५ ग्राम (कल्क) को एरण्डमूल क्वाथ ½ लीटर मे मिलाकर दी हुई वस्ति माधुतैलिक कहलाती है। यह रसायन है तथा प्रमेह, अर्श, कृमि विकारनाशक है।

युक्तरथवस्ति

एरण्डमूल क्वाथ ½ लीटर मे मधु, तैल, सैन्धव, वच, पिप्पली और मदनफल मिलाकर वस्ति दें। इसे युक्तरथवस्ति कहते हैं।

सिद्धवस्ति

लघु पञ्चमूल क्वाथ, तिलतैल, पीपर, मधु, सैन्धव और मुलहठी मिली वस्ति सिद्धवस्ति कही जाती है।

यापनवस्ति

बला, अतिबला (ककहिया), विदारीकन्द, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, दर्भमूल, यव, फालसा, गम्भार, बिल्वमूल से सिद्ध दूध मे यष्टीमधु

१. सु० चि० ३८।४७–५०। २ सु० सू० ३८।४८।

और मदनफल कल्क तथा मधु-घी एव सोचर लवण डालकर वस्ति दे। यह सद्य बलदायक है।

रसायन और वाजीकरण वस्तियाँ

१ लघु पञ्चमूल से सिद्ध दूध मे तीतर, मयूर तथा हस का मासरस तथा रास्ना, मदनफल, पिप्पली, इन्द्रजौ का कल्क एव घृत, तैल तथा गुड मिलाकर वस्ति दे। यह वस्ति बल-वीर्य तथा वर्ण कर है।

२ दशमूल कल्क और कुक्कुटमास डालकर क्षीरपाक-विधि से दूध पकाये और उसमे पिप्पली, यष्टीमधु, रास्ना, मदनफल का कल्क एव चीनी, मधु, घृत मिलाकर वस्ति दे। यह कामपिपासुओ के लिए बलसजनन है।

वक्तव्य—निरूहवस्ति—इसमे सामान्यत' क्वाथ ½ लीटर, मधु, तैल, घृत प्रत्येक १००-१०० ग्राम और कल्क १२ ग्राम होना चाहिए।

अनुवासनवस्ति-कल्प

१ **दशमूलादि अनुवासन**—तिलतैल २ आढक, दशमूल, बला, रास्ना, असगन्ध, पुनर्नवा, भारगी, वासा, रोहिष तृण, शतावर, कटसरैया, काकनाशा, प्रत्येक १–१ पल, जौ, उडद, बेर, कुलथी, तीसी, प्रत्येक २–२ पल लेकर जौकुट कर ८ द्रोण जल मे पकाये, २ द्रोण बचे तो छान ले। फिर इसमे अष्टवर्ग, यष्टीमधु, जीवन्ती, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, इनमे से प्रत्येक १ पल लेकर, उसका कल्क बनाकर डालकर तैल सिद्ध करे। इस तैल की अनुवासनवस्ति देने से वातरोग नष्ट होते है।

२ दशमूलादि तैल मे आनूप जीवो की चर्बी और जीवनीय गण का कल्क डालकर अनुवासनवस्ति दे।

उत्तरवस्ति-कल्प

१ गम्भार और कुटज की छाल के क्वाथ मे घृत मिलाकर उत्तरवस्ति देने से अरजस्का और पुत्रघ्नी योनि मे लाभ होता है।

२. दशमूल-सिद्ध तैल की तथा त्रिवृत्-सिद्ध तैल की उत्तरवस्ति महायोनि और उदावृत्ता योनि मे दे।

वक्तव्य—सामान्यत वस्ति-चिकित्सा वातरोग की सर्वोत्तम चिकित्सा है, फिर भी वस्ति का क्षेत्र बडा व्यापक है, क्योकि कोई भी रोग हो, उसमे वातानुबन्ध होता है और वात के बिना कफ-पित्त की कोई क्रिया या विक्रिया नही हो सकती। अत वात के शमन का सभी प्रकार के रोगो पर प्रभाव पडता है। अतएव वस्ति की बहुत-सी कल्पनाओ का वर्णन सहिताग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। जैसे—बृहणवस्ति, लेखनवस्ति, शोधनवस्ति, शमनवस्ति, शुक्रकृत्, प्रमेहनाशक, क्रमिघ्न, चक्षुष्य, अग्निदीपन, शिर शूलनाशक, वृष्य, रसायन आदि वस्तियाँ विभिन्न प्रयोजनो से प्रयुक्त होती है। वस्तिकर्म अभ्यासी और अनुभवी चिकित्सक से ही कराये।

सप्तम अध्याय

नस्यकर्म

परिचय और परिभाषा

जो औषध-द्रव्य सूक्ष्मचूर्ण अथवा द्रव के रूप मे नासिका के रन्ध्रो मे सुँघाया या टपकाया जाता है, उसे नस्य कहते हे[1]।

नासिका शिर का द्वार हे और इस द्वार से दी हुई औषध नासारन्ध्रो मे प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शिर मे व्याप्त हो जाती है, जिससे ऊर्ध्वजत्रुगत रोगो मे वडा लाभ होता है[2]।

शिर[3] उत्तमाङ्ग है, जिसमे इन्द्रिय तथा इन्द्रियो के प्राणो का वहन करनेवाले स्रोतस स्थित है। श्रोत्र, शृगाटक, कण्ठ, चक्षु आदि के शिरामुखो के मार्ग शिर मे खुलते है। यह प्रत्यक्षमेव देखा जाता है कि नस्य के प्रयोग से शिर स्थ विकृत कफ-द्रव जब नासामार्ग से स्रवित हो जाता है, तो शिर शूल, दुष्ट प्रतिश्याय, शिरो-गौरव, अर्धावभेदक, अपस्मार और मूर्च्छा मे सद्य आरोग्य-लाभ होता है[4]।

पर्याय—शिरोविरेचन, मूर्धविरेचन, नस्त कर्म, नस्त प्रच्छर्दन, शिरोविरेक, नस्य, नावन—ये पर्याय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—

१ चरकसहिता—सिद्धि० अ० १, २, ९।
२ सुश्रुतसहिता—चिकित्सा० अ० ४०।
३ अष्टाङ्गसग्रह—सूत्र० अ० २९।
४ अष्टाङ्गहृदय—सूत्र० अ० २०।
५ भावप्रकाश—पञ्चकर्मविधि।

---

१ नस्य तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्य यदौषधम्। नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वय मतम्॥
—भा० प्र० पू० ख० पञ्च०

२. ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।
नासा हि शिरसो द्वार तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्॥
—अ० हृ० सू० २०।१

३. शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतासि सूर्यमिव गभस्तय सश्रितानि।
—च० सि० ९।४

४ अपामार्गस्य बीजानि ···। दद्यात् शीर्षविरेचने।
गौरवे शिरस शूले पीनसेऽर्धावभेदके। क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहके॥
—च० सू० २।३ ६

नस्यकर्म की उपयोगिता और लाभ

१ नस्यकर्म स्नेहन, शोधन विरेचन, स्तम्भन, तर्पण, शमन, कर्षण, बृंहण और संज्ञा-प्रबोधन आदि कार्यों को करता है, जिससे उसकी बहुआयामी कार्यक्षमता का विस्तृत ज्ञान होता है।

२ नस्य के प्रयोग से नासान्तर्गत श्लैष्मिक कला में क्षोभ होता है और सम्बद्ध अवयवों में अवरुद्ध कफ द्रवित होकर नासाद्वार से बाहर निकल जाता है और

---

१. (क) च० सि० २।२०। (ख) सु० चि० ४०।४७। (ग) अ० ह० सू० २०।१२-१३।

२ चरक० सिद्धि० २।२२।

अवरोध दूर हो जाता है । फलत शिर का रक्तसवहन तेज हो जाता है तथा प्राणवह स्रोतोऽवरोध दूर हो जाता है ।

३ नस्य-देने से नासागत सकोच (Shasm) दूर हो जाता है और श्वासनलिका के सकोच पर भी विस्फारक प्रभाव पडता है, जिससे कफ निष्कासित होकर श्वासावरोध दूर हो जाता है ।

४ नस्य-सेवन से नेत्र-कर्ण-नासिका के रोग, बालो का झडना या सफेद होनी, पीनस, अर्धावभेदक, मन्यास्तम्भ, शिर शूल, अर्दित और हनुग्रह रोग नष्ट होते हैं।

५ नस्यकर्म से मुखमण्डल प्रसन्न, विकसित एव भरा हुआ तथा स्वर स्निग्ध, स्थिर और गम्भीर ध्वनियुक्त होता है । ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति बढती है, वृद्धावस्था देर से आती है, हनु, दन्त, बाहु और उर स्थल दृढ तथा बलवान् होते है। चेहरे पर या शरीरावयवो पर झुर्रियाँ पड जाती है और ऊर्ध्वजत्रुगत रोग नही होते ।

६ नस्यकर्म अवबाहुक, ग्रीवास्तम्भ आदि वातव्याधि, ऊर्ध्वजत्रुगत रोग और कफज रोगो मे तथा बृहण एव शमन या शोधन—इन तीनो रूपो मे लाभ पहुँचाता है।

७ (क) स्निग्ध नस्य शिर स्थ नाडीमण्डल का बृहण, तर्पण तथा शमन करता है ।

(ख) तीक्ष्ण नस्य शोधन का कार्य करता है ।

(ग) दूध, शर्करोदक या मासरस आदि का स्नेह के साथ प्रयोग करने से बृहण, तर्पण आदि कार्य होते है ।

(घ) चूर्ण के रूप मे दिया हुआ प्रधमन नस्य अपने कटु, तीक्ष्ण एव उष्ण गुण से गन्धवह स्रोत को उत्तेजित कर कफ का स्राव कराता है, जिससे शोधन हो जाने से जत्रु के ऊर्ध्वभाग मे होनेवाले विकारो का शमन हो जाता है ।

८. जत्रु के ऊपर होने वाले शिर के विकारो मे नस्य की विशेष उपयोगिता है, क्योंकि नासिका को शिर का द्वार माना गया है और इस द्वार से प्रविष्ट नस्य सपूर्ण शिर मे व्याप्त होकर शिर के विकारो को नष्ट करता है । इस प्रकार नस्यकर्म उत्तमाङ्ग की व्यवस्था को सुचारु बनाकर सम्पूर्ण दैहिक क्रियाओ को सुव्यवस्थित करने मे महान् योगदान करता है और इसकी उपयोगिता और लाभ प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है ।

नस्य के प्रकार

आचार्य चरक ने पॉच प्रकार के नस्य[1] का उल्लेख किया है—

१ **नावन नस्य**—यह १ स्नेहन और २. शोधन भेद से दो प्रकार का होता है ।

---

१. नावनं चावपीडश्च ध्मापन धूम एव च । प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्त कर्म तु पञ्चधा ॥
स्नेहन शोधन चैव द्विविध नावन स्मृतम् । शोधन स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मत ॥
चूर्णस्याध्मापन तद्धि देहस्रोतोविशोधनम् । विज्ञेयस्त्रिविधो धूम· प्रागुक्त शमनादिक ॥
प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत् । एवं तद् रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥
—चरक० सिद्धि० ९।८९-९२

२ अवपीड नस्य—यह १. शोधन और २. स्तम्भन भेद से दो प्रकार का होता है।

३ ध्मापन।

४. धूम नस्य—यह ३ प्रकार का होता है—१. प्रायोगिक, २. वैरेचनिक और ३ स्नैहिक धूम।

५ प्रतिमर्श नस्य—यह दो प्रकार का होता है—१. स्नेहन और २ विरेचन।

कर्म के आधार पर नस्य-भेद

कर्म के अनुसार—१ रेचन, २ तर्पण और ३. शमन, ये तीन भेद हैं।

नस्य के भेद में मतभेद

नस्य

चरक	सुश्रुत	वाग्भट	काश्यप	शार्ङ्गधर	भोज	विदेह
नावन	शिरोविरेचन	विरेचन	बृंहण	रेचन	प्रायोगिक	सञ्ज्ञाप्रबोधन
अवपीड	स्नेहन	बृंहण	कर्षण	स्नेहन	स्नैहिक	स्नैहिक
ध्मापन		शमन				
धूम						
प्रतिमर्श						

आश्रय-भेद से नस्य-भेद[1]

नस्य

फल	पत्र	मूल	कन्द	पुष्प	निर्यास	त्वक्
अपामार्ग	तुलसी	अर्क	हरिद्रा	लोध्र	देवदारु	तेजोवती
पिप्पली	सप्तपर्ण	अलर्क	सोंठ	मदन	हिंगु	गुडूची
विडंग	आरग्वध	कुष्ठ	मूली	सप्तपर्ण	अगुरु	इंगुदी
मरिच	मूलक	नागदन्ती	लशुन	निम्ब	सरल	शोभाञ्जन
शिग्रु	श्रृंगवेर	वच	आदि	अर्क	शल्लकी	दालचीनी
शिरीष	लशुन	भारंगी		आदि	महुआ	मेढासींगी
यवानी	तालीशपत्र	मालकांगनी			लाक्षा	
एला	तमालपत्र	ब्राह्मी			आदि	
हरेणुका	आदि	अतीस				
आदि		आदि				

१. शिरोविरेचनं सप्तविधम्—फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्प-निर्यास-त्वगाश्रयभेदात्।

—च० वि० ८।१५४

इन द्रव्यों के कल्क, स्वरस, चूर्ण, धूम या इनसे सिद्ध किये गये तैल या घृत का नस्यार्थ प्रयोग किया जा सकता है।

(१) नावन नस्य

रुई के फाहे को स्नेह मे डुबोकर नासिका के छिद्रो मे बूँद-बूँद टपकाना नावन कहा जाता है। यह सर्वदा प्रयोग-योग्य नस्य है। इसके—१. स्नेहन और २ शोधन, ये दो प्रकार है।

नस्य शब्द विशेषार्थबोधक

'शिर शून्यता को हटाने, ग्रीवा-स्कन्ध-वक्ष स्थल का वल वढाने और दृष्टि के तेज के सवर्धन के लिए जिस स्नेहन नस्य का प्रयोग किया जाता है, उसे नस्य[१] कहा जाता है।'

स्नेहन नस्य की मात्रा

स्नेहन नस्य

उत्तम मात्रा	मध्यम मात्रा	हीन मात्रा
३२ बूँद प्रत्येक नासाछिद्र मे	१६ बूँद प्रत्येक नासाछिद्र मे	८ बूँद प्रत्येक नासाछिद्र मे

शोधन नावन

इसमे पिप्पली, विडग, सहिजन-वीज, अपामार्ग-वीज आदि से सिद्ध स्नेह का नस्य दिया जाता है।

मात्रा—उत्तम ८ बूँद, मध्यम ६ बूँद, हीन ४ बूँद प्रत्येक नासिकापुट मे।

समय—शोधन नावन को कफज विकारो मे पूर्वाह्न, पित्तज मे मध्याह्न और वातज मे अपराह्न मे दें।

(२) अवपीड नस्य

जब किसी औषध के कल्क को निचोडकर उसका रस नासिका मे डाला जाता है, तो उसे **अवपीड** नस्य कहते है। येह—१ शोधन और २. स्तम्भन भेद से दो प्रकार का होता है।

मात्रा—उत्तम ८ बूँद, मध्यम ६ बूँद और हीन ४ बूँद है।

प्रयोग—मूर्च्छा, सर्पदश या शिर मे कफ भरे रहने पर सैंधवपिप्पल्यादि **शोधन** अवपीड नस्य देना चाहिए।

---

१. तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः। —सु० चि० ४०।२२

रक्तपित्त मे रक्तस्तम्भनार्थ अथवा क्षीणो मे दोषशमनार्थ स्तम्भन अवपीड नस्य देना चाहिए। इस नस्य मे दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दूर्वास्वरस, दाडिमपुष्पस्वरस, शर्करोदक आदि का प्रयोग किया जाता है।

(३) ध्मापन नस्य

१ ध्मापन नस्य का दूसरा नाम **प्रधमन नस्य** है। यह शोधन नस्य है। इसमे औषध-चूर्ण को एक छह अँगुल लम्बी, दोनो छोर मे खुली नली मे रखकर नासिका मे फूंक दिया जाता है। इसका प्रयोग उन्माद, अपस्मार आदि मे किया जाता है।

२ इसके प्रयोग का दूसरा प्रकार है—औषध-चूर्ण को बीस-पचीस ग्राम लेकर किसी वस्त्रखण्ड मे बाँधकर पोटली बना ले और उसे नासिका से सटाकर जोर से सूँघे। बारी-बारी से एक नासाछिद्र को बन्द कर दूसरे से सूंघे।

(४) धूम नस्य

१ औषध को चिलम की आग मे रखकर हुक्के पर चढाकर नासिका द्वारा धुआँ खीचने को **धूम नस्य** कहा जाता है। धुएँ को नाक से खीचकर मुख से निकालना चाहिए।

२ इसका दूसरा प्रकार है—किसी अँगीठी मे कोयला जलाकर निर्धूम हो जाने पर उसमे औषध डालकर उसके धुएँ को नासिका से खीचना। एक लम्बी तौलिया से शिर आच्छादित करे, जिसके दूसरे छोर से अँगीठी भी ढँक ले, जिससे धुआँ बाहर न निकले और सीधे नाक मे जाये।

यह नस्य नासावरोध, पीनस और कण्ठ रोगो मे अति हितकर है। इसमे बडी कटेरी, बहेडा और मुलहठी आदि का धुआँ लेना चाहिए।

(५) प्रतिमर्श[1] नस्य

स्नेह मे अँगुली डुबोकर उस स्नेह की बूँद को नासिका मे टपकाना और भीतर खीचना **प्रतिमर्श नस्य** कहलाता है। इसमे स्नेह की मात्रा २ बूँद होती है।

प्रयोग—इसे प्रात काल और सायकाल लेना चाहिए। यह सभी ऋतुओ और सभी वय मे देय है। प्रतिमर्श नस्य मे स्नेह की मात्रा इतनी ही होनी चाहिए जितनी मात्रा देने पर वह नासास्रोत से कण्ठ मे पहुँच जाये।

(६) मर्श नस्य

प्रतिमर्श और मर्श मे केवल मात्रा का ही अन्तर है। दोनो के गुण समान है। मर्श मे व्यापद् होने की सभावना होती है, जब कि प्रतिमर्श निरापद है।

वाग्भट ने कहा है कि प्रदेशिनी (तर्जनी) अँगुली को दो पर्व तक स्नेहन मे डुबोकर जितनी बूँद स्नेह (१० बूँद) गिरता है, उसे उत्तम मर्श जाने। इस प्रकार १० बूँद को उत्तम मर्श, ८ बूँद को मध्यम और ६ बूँद को हीन मात्रा कहा गया है।

मर्श और प्रतिमर्श मे अन्य स्नेहो की अपेक्षा तैल का प्रयोग करना श्रेष्ठ है।

---

१. सु० चि० ४०।५२।

प्रतिमर्श नस्य में काल-विचार[1]

प्रतिमर्श नस्य किसी भी समय दिया जा सकता है, फिर भी विशिष्ट प्रयोजनो से दिन मे १४ कालो मे इसका प्रयोग वतलाया गया है। जैसे—

१ **शयनोत्थित**—प्रात सोकर उठने पर प्रतिमर्श नस्य लेने से नासिका आदि मे लिप्त कफ निकल जाता है और मन प्रसन्न हो जाता है।

२ **दन्तप्रक्षालन** के वाद प्रतिमर्श नस्य लेने से दन्त दृढ होते है और मुख का शोधन हो जाता है।

३ **बहिर्गमन**—घर से वाहर जाते समय प्रतिमर्श नस्य लेने से नासिका स्निग्ध रहती है और धूल-धुआँ से उसकी सुरक्षा रहती है।

४ **व्यायामोत्तर** प्रतिमर्श नस्य लेने से थकावट दूर होती है।

५ **व्यवायोत्तर** प्रतिमर्श नस्य मैथुनजन्य श्रम को हटाता है।

६ **यात्राश्रान्त** को प्रतिमर्श नस्य लेने से थकावट मिटती है।

७-८ **मल-मूत्रविसर्जनोत्तर** प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से नेत्रो का भारीपन दूर होता है।

९-१० **कवल तथा अञ्जन** के पश्चात् प्रतिमर्श नस्य के प्रयोग से दृष्टि का प्रसादन होता है।

११. **भोजनोत्तर** प्रतिमर्श नस्य के प्रयोग से स्रोतस-शोधन तथा शरीर मे लघुता होती है।

१२ **वमनोत्तर** प्रतिमर्श नस्य लेने से कण्ठ आदि का शोधन हो जाने से भोजन मे रुचि होती है।

१३ **दिवाशयनोत्थित**—दिन मे सोकर जगने पर प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से प्रवुद्धता आती है और मन एकाग्र होता है।

१४ **सायंकाल** प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करने से रात्रि मे अच्छी नीद आती है और प्रात काल नीद खुलने पर सुखानुभूति होती है[2]।

नस्यप्रयोग-विधि

नस्य-प्रयोग की प्रक्रिया के सुवोध के लिए इसे तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—१ पूर्वकर्म, २ प्रधानकर्म और ३ पश्चात्कर्म।

---

१. सु० चि० ४०।५१।

२. तत्र तल्पोत्थितेनासेवित. प्रतिमर्शो रात्रावुपचित नासास्रोतोगत मलमुपहन्ति मन·प्रसाद च करोति; प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्ताना दृढता वदनसौगन्ध्य चापादयति; गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतस· क्लिन्नतया रजो धूमो वा न वाधते, व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवित श्रममुपहन्ति। मूत्रोच्चारान्ते वा सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति; कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टि प्रसादयति; भुक्तवताऽऽसेवितः स्रोतसां विशुद्धि लघुता चापादयति; वान्तेनासेवित स्रोतोविलग्न श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति; दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेष गुरुत्व मल चापोह्य चित्तैकाग्र्य जनयति; साय चासेवितः सुखनिद्रां प्रबोधं चेति। —सु० चि० ४०।५१

(१) पूर्वकर्म

पूर्वकर्म के तीन अग है—१. सामग्री-सचय, २ रोगी-परीक्षण और ३ नस्यार्थ रोगी को तैयार करना।

(१) सामग्री-सञ्चय—

१ नस्यकर्म के लिए अलग कक्ष या भवन होना चाहिए, जिसमे पर्याप्त प्रकाश हो, खुली हवा का प्रवेश हो, जो शरीर मे सीधे और वेगयुक्त न लगे, जो धूल, धुआँ और ध्वनि मे सुरक्षित हो तथा जो न अधिक शीत हो, न अधिक उष्ण हो।

आसन—रोगी को बैठाने के लिए डेढ-दो फुट ऊँची कुर्सी हो, जिसमे पीछे की ओर पीठ तक पट्टी हो और गरदन के पास का भाग कुछ पीछे झुका हो तथा वह गद्दीदार हो, जिसके सहारे रुग्ण का मुखमण्डल ऊर्ध्वमुख कर नस्य का प्रयोग किया जा सके।

एक दूसरा आसन या चौकी ऐसी चाहिए, जिसका सिरहाना कुछ नीचा कर रोगी को सुखपूर्वक सुलाया जा सके, जिससे नस्य देने मे सुविधा हो।

२ **औषध-व्यवस्था**—नस्य मे देय औषध का जो स्वरूप (चूर्ण, क्वाथ, दुग्ध, तैल आदि) अभीष्ट हो, उसे तैयार रखे। प्राय प्रयोज्य औषधो मे कट्फल चूर्ण, श्वासकुठार रस, अपामार्ग-बीजादि नस्य, षड्विन्दु तैल, शुद्ध घृत, पञ्चगुण तैल आदि मुख्य है।

३ नस्य देने वाली नली का नेत्र ६ अँगुल लम्बा और नासिका मे प्रवेश-योग्य मोटाई का होना चाहिए। रोगी एव औषध के बलाबल के अनुसार यह कम या अधिक लम्बी ली जा सकती है।

४ स्नेहविन्दु के निक्षेप के लिए स्वच्छ विसक्रामित रुई रखनी चाहिए।

५ एनामिल के कटोरे रखने चाहिए, जो ष्ठीवन पात्र का काम करे।

६ मालिश के तैल, अँगीठी, तापस्वेद के साधन एव ड्रापर आदि रखे।

७ जल के टब या ड्राम, जग, गिलास और तौलिया रखनी चाहिए।

८ सहायक और परिचारक तथा रोगी के ऐसे अभिभावक भी उपस्थित रहे, जो विना हिचक कोई भी कार्य सावधानी से कर सके।

(२) रोगी-परीक्षण—

सर्वप्रथम यह विचार करे कि क्या रोगी नस्य-प्रयोग के योग्य है। **वय**—७ वर्ष से नीचे और ८० वर्ष से ऊपर की आयु वाली को नस्य न दे। **प्रतिमर्श नस्य** जन्म से मृत्यु तक सभी वय मे देय है। **धूम नस्य** १२ वर्ष के ऊपर के वय मे देय है। **काल**—प्रावृट्, शरद् और वसन्त, इन तीन ऋतुओ मे नस्य का प्रयोग करे। गरमी मे पूर्वाह्न मे, शीत ऋतु मे मध्याह्न मे और वर्षा मे जब दुर्दिन न हो, तब नस्य दे।

(३) रोगी की नस्यार्थ तैयारी—

रोगी को मल-मूत्र के वेग से निवृत्त कराकर भोजन कराये। घण्टे भर बाद

दन्तधावन तथा धूमपान कराये, जिससे मुख और नासिका के स्रोत का शोधन हो जाये। तत्पश्चात् रोगी को नस्य वाली कुर्सी पर बैठायें अथवा शय्या पर लिटायें। शिर पर बला तैल या पचगुण तैल का अभ्यग करे, शिर, ग्रीवा और कण्ठ का तापस्वेदन करे और इन अगो का मृदु मर्दन कर रोगी को नस्यार्थ तैयार करे।

(२) प्रधान कर्म[१]

नस्य देने से लेकर उपद्रवो के शमन तक की क्रिया प्रधान कर्म मे समाविष्ट है। यह क्रिया तीन भागो मे विभक्त है, जैसे—१ नस्यदान, २ नस्योत्तर निरीक्षण और ३. व्यापत्-प्रतीकार।

(१) नस्यदान—

नस्य की कुर्सी पर बैठे हुए या नस्य-शय्या पर लेटे हुए, हाथ-पैर पसारे हुए, नेत्र को वस्त्र से ढँके हुए, अभ्यङ्ग-स्वेदन कराये हुए रोगी के शिर को पीछे की ओर थोडा झुकाकर, चिकित्सक अपने बाये हाथ के अँगुष्ठ-तर्जनी से रोगी के नासाग्र को उठाकर ड्रापर मे औषध भरकर मन्दोष्ण स्नेहबिन्दु धीरे-धीरे नासारन्ध्रो मे डाले। इसी प्रकार दूध, क्वाथ, स्वरस या मासरस का प्रयोग करे।

चूर्ण का नस्य देना हो, तो उसे नली मे रख पीछे के छोर से फूंके, जिससे वह भीतरी नासारन्ध्र मे चला जाय।

धूमनस्य लेना हो तो नस्य-द्रव्य सिगरेट मे भरकर नासिका से धूमपान करे और मुख से धुआँ को बाहर निकाले। इस प्रकार ३–४ कश ले अथवा कोयले की आग पर नस्य-द्रव्य रखकर शिर और आग को तौलिया से आच्छादित कर नासा द्वारा धूम को ग्रहण करे अथवा नस्य-द्रव्य को जल मे उबालकर उसका वाष्प नासिका से ग्रहण करे।

नस्य मात्रा

क्रम	नस्य-प्रकार	ह्रस्व मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
१	शमन स्नेह	१६ बिन्दु	३२ बिन्दु	६४ बिन्दु
	प्रत्येक नासा मे	८ बिन्दु	१६ बिन्दु	३२ बिन्दु
२	शोधन स्नेह	८ बिन्दु	१२ बिन्दु	१६ बिन्दु
	प्रत्येक नासा मे	४ बिन्दु	६ बिन्दु	८ बिन्दु
३.	मर्शनस्य	६ बिन्दु	८ बिन्दु	१० बिन्दु
४	प्रतिमर्शनस्य	२ बिन्दु	२ बिन्दु	२ बिन्दु
५	कल्कनस्य	४ बिन्दु	६ बिन्दु	८ बिन्दु

१ सुश्रुत० चिकित्सा० ४०।२५।

(२) नस्योत्तर निरीक्षण—

नस्य देने के वाद कुछ देर हिले-डुले नही। हँसना, भाषण आदि भी वर्जित करे। रोगी के गले पर, कपोल पर और ललाट पर स्वेदन करे और कन्धो का, हाथ-पैर के तलवो का मर्दन करे। नस्य की औषध को वार-वार थूके, कण्ठ से निगलना नही चाहिए। रोगी को सौ अक गिनने के समय तक उत्तान लिटाये रखे; तदनन्तर कवल, गण्डूष तथा धूमपान कराये। सुखोष्ण जल से मुख-प्रक्षालन कराये।

सामान्यत- नस्य प्रदान करने पर शिर को थोडा झुका कर रखे तथा ग्रीवा, स्कन्ध आदि का स्वेदन-मर्दन करे। नस्य की औषध को निगलना नही चाहिए। कफ को निकालने के लिए गरारा कराना चाहिए।

नस्य के सम्यग्योग के लक्षण—शरीर मे हलकापन होना, अच्छी नीद आना और समय से नीद का खुलना, इन्द्रियो की और मन की प्रसन्नता, शिर का हलकापन और स्रोतो की शुद्धि—ये नस्य के सम्यग्योग के लक्षण है।

अयोग या हीन योग के लक्षण—वातज विकार उत्पन्न होना, जिस रोग के निवारण के लिए नस्य दिया गया उसका निवारण न होना, कण्डू, अगो मे भारीपन, नासा एव मुख से कफस्राव, अश्रुस्राव तथा लालास्राव होना—ये अयोग के लक्षण है।

अतियोग-लक्षण—कफ का स्राव, शिर मे भारीपन, इन्द्रियो मे विभ्रम (विषय का ठीक ज्ञान न होना), शिर-शून्यता होना—ये लक्षण नस्य के अतियोग के सूचक हैं।

उपचार—इसमे कफवातघ्न चिकित्सा करनी चाहिए।

(३) नस्य के व्यापद् और प्रतिकार—

नस्य-व्यापद् दो तरह के होते है—१ दोषो का उत्क्लेश होना और २ दोषो का क्षय होना। प्रथम व्यापद् मे शोधन तथा शमन चिकित्सा करनी चाहिए। दूसरे मे बृहण चिकित्सा करनी चाहिए।

यदि कफज रोग मे कास-श्वास, पीनस, मन्दाग्नि आदि हो, तो त्रिभुवनकीर्ति, त्रिकटु चूर्ण, कस्तूरी भैरव और दशमूलारिष्ट का प्रयोग करना चाहिए।

कृश शरीर, तृष्णार्त, व्यायाम-श्रान्त और गर्भिणी स्त्री को नस्य देने से वात-प्रकोप होकर वातज रोग होते है। अत इनमे वातनाशक स्नेहन, स्वेदन और बृहण चिकित्सा करनी चाहिए। वातज शूल, अगमर्द, मुखशोष आदि के होने पर तापस्वेद, अश्वगन्धादि घृत, विषतिन्दुक वटी तथा शतावरी चूर्ण आदि का प्रयोग करें। मूर्च्छित रोगी का शीतल जल से परिसेचन करे।

(३) पश्चात्कर्म

नस्य देने के पश्चात् किये जाने वाले कर्म निम्नलिखित है—१ नस्यदान मे तत्काल करणीय कर्म, २ धूमपान, ३ कवल-गण्डूष, ४ भोजनादि व्यवस्था और ५ परिहार-परहेज।

(१) तत्काल करणीय कर्म—

रोगी को नस्य देने के वाद २ मिनट तक उत्तान लिटाये। ग्रीवा, ललाट और कपोल पर तापस्वेद करे। पादतल और मन्या का कोमल हाथो से मृदु मर्दन करें। सुखोष्ण जल से मुख का प्रक्षालन कराये।

(२) धूमपान—

कण्ठ, नासिका एव शिर स्थ कफ के विलयनार्थ धूमपान कराना चाहिए।

प्रायोगिक धूम—'एलादि गण' के द्रव्यो (सुश्रुतसहिता-सूत्रस्थान अध्याय ३८ मे पठित) मे से कूठ और तगर को छोडकर शेष सभी द्रव्यो को वारीक पीस लें। तदनन्तर एक शरकण्डा ले, जो लम्वाई मे १२ अँगुल और मोटाई मे मध्यमागुलि जितना हो, उस पर उक्त वारीक पीसे हुए कल्क का आठ अँगुल तक लेपन करें और सूखने पर शरकण्डे को निकाल दें और उस वर्तिका को घी से आर्द्र कर, फिर सिगरेट होल्डर मे रखकर पान कराये। इस प्रायोगिक धूम को वारी-वारी से ३-३ वार पीना चाहिए।

(३) कवल और गण्डूष—

नस्य देने के वाद शोधन प्रकार का कवल धारण कराना चाहिए। इसमे उष्ण, रूक्ष, कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त द्रव्यो का प्रयोग करे।

कफ के छेदन के लिए सुखोष्ण जल मे यवक्षार, सज्जीखार अथवा भुना सोहागा डालकर घोल वनाकर इसका गण्डूष या कवल धारण कराना चाहिए।

(४) भोजनादि व्यवस्था—

सुखोष्ण जल से रुग्ण के मुख आदि का प्रक्षालन कराना चाहिए। भोजन मे चिकनी चीजे न दे। आहार मे रोटी, मूँग की दाल, परवर, अदरक, आँवला इत्यादि का प्रयोग करना चाहिए।

(५) परिहार और परहेज—

दही, शीतल जल और गुरु पदार्थों का सेवन न करे। नहाने-धोने और पीने के लिए गरम जल का प्रयोग करे और उष्ण निवास मे रहे। धूल और धुआँ से बचना चाहिए। मद्य, धूप, शिर से नहाना, क्रोध एव शोक का परित्याग करे तथा किसी यान से अल्पतम यात्रा करनी चाहिए।

उक्त प्रकार से पञ्चकर्म कराने के पश्चात् रसायन आदि का प्रयोग करना समुचित है।

अष्टम अध्याय

रसायन

परिचय

रसायन चिकित्सा का एक ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रकार है, जो स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को पूर्वापेक्षया अधिक समुन्नत, श्रेष्ठ और प्रशस्त बनाता है। यह वृद्धावस्था, क्षुधा, पिपासा आदि स्वाभाविक रोगों को रोकता है और मैथुन के अतियोग से उत्पन्न अप्रहर्ष, मैथुन-असामर्थ्य, शुक्रक्षीणता आदि विकारो को दूर कर शरीर मे वल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम का सचार करता है।

महर्षि चरक और सुश्रुत ने आयुर्वेद के जिन दो प्रयोजनो[1] (१ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का सरक्षण और २ रोगी व्यक्ति के रोग का अपनयन) का उल्लेख किया है, उनमे से रसायन मुख्य रूप से स्वास्थ्य-सरक्षणकारक है और गौण रूप से रोगो को भी दूर करने मे समर्थ होता है[2]।

इस प्रकार रसायन शरीर की रोग-प्रतिरोधक शक्ति को वढानेवाला, वल-वीर्य-वय स्थापन करनेवाला, वार्धक्य को रोकनेवाला, शरीर मे दृढता और दिव्य शक्ति का सर्जन करनेवाला एक उत्कृष्ट आयुर्वेदाङ्ग है[3]।

परिभाषा

१ उत्तम गुणो से युक्त रस आदि धातुओ की प्राप्ति जिन उपायो द्वारा होती है, उन उपायो को **रसायन**[4] कहते हैं।'

२ 'जरा और व्याधि को दूर करनेवाले भेषज को **रसायन**[5] कहते हैं'।

समन्वय—प्रथम परिभाषा के अनुसार रसायन शरीर मे उत्तम रस, रक्त आदि धातुओ की प्राप्ति कराता है और द्वितीय के अनुसार रसायन का कार्य जरा और व्याधि का विध्वसन है। एवञ्च जब शरीर मे उत्तम रसादि धातुओं की स्थिति होगी, तब न वृद्धावस्था सतायेगी और न ही रोग उत्पन्न हो पायेंगे। इस प्रकार दोनो परिभाषाओ मे मतैक्य स्पष्ट है।

---

१. (क) प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यसरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमन च। —च० सू० ३०।२६

(ख) इह खल्वायुर्वेदप्रयोजन व्याध्युपसृष्टाना व्याधिपरिमोक्ष. स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं च। —सु० सू० १।२२

२. प्राय.शब्दो विशेषार्थो ह्युभय ह्युभयार्थकृत। —च० चि० १।६

३. रसायनतन्त्र नाम वय स्थापनमायुर्मेधावलकरं रोगापहरणसमर्थञ्च। —सु० सू० १।१५

४. लाभोपायो हि शस्तानां रसादीना रसायनम्। —च० चि० १।८

५. रसायनञ्च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। —शार्ङ्गधरसं०

३ युवावस्था को अधिक समय तक बनाये रखने के उपाय, आयु, मेधा (धारणा-शक्ति) और बल की वृद्धि के प्रकार तथा शरीर की रोगप्रतिरोधक शक्ति (Immunity) को बढाने के उपायो का जहाँ वर्णन किया गया हो, उसे रसायन-तन्त्र कहते है।

वक्तव्य—रसायनतन्त्र आयुर्वेद के आठ अगो मे अन्यतम अग है, जिसकी यह परिभाषा है। तन्त्र का अर्थ है—शास्त्र, विद्या, ज्ञान, शाखा, सूत्र, लक्षण और आयुर्वेद।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता—चिकित्सा० अ० १ के १ पाद से ४।

२. सुश्रुतसहिता—चिकित्सा० अ० २७, २८, २९, ३०।

३ अष्टाङ्गसग्रह—उत्तर० अ० ४९।

४ अष्टाङ्गहृदय—उत्तर० अ० ३९।

निरुक्ति

आचार्य डल्हण[१] ने रसायन शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—

'भेषजाश्रिताना रसवीर्यविपाकप्रभावपरमायुर्वलवीर्य्याणा वय स्थैर्यकराणामयन लाभोपायो रसायनम्'।

रसायन शब्द दो शब्दो से बना है—रस+अयन=रसायन।

रस-शब्दार्थ—१ 'रस्यते आस्वाद्यते इति रस' इस निरुक्ति के अनुसार 'रस' एक गुण है, जो जिह्वाग्राह्य होता है और वह—१ मधुर, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटु, ५ तिक्त तथा ६ कषाय भेद से छह प्रकार का होता है[२]।

२ गत्यर्थक रस धातु से रस शब्द बना है[३]। रात्रिन्दिवा जो गतिशील हो, उसे रस कहते हैं। यह 'रस' पूर्ण रूप से पचे हुए आहार का तेजोभूत सारभाग है[४]। यह सभी धातुओ का पोषक है[५]। यह 'रस' शब्द-सन्तान की तरह ध्वनि-तरङ्गो की तरह सभी दिशाओ मे, अग्निज्वाला की तरह ऊपर की ओर और जलप्रवाह की तरह नीचे की ओर होकर समस्त शरीर मे अनुधावन करता रहता है[६]।

अयनशब्दार्थ[७]—'ईयते अनेन इति अयनम्'। अयन का अर्थ मार्ग हैं और इसके

---

१ सु० सू० १।१५ पर उद्धृत। २. अमरकोष १।५।९।

३. तत्र रसगतौ धातु. अहरहर्गच्छतीत्यतो रस.। —सु० सू० १४।१३

४. आहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूत सार. परमसूक्ष्म. स रस इत्युच्यते। —सु० सू० १४।३

५. तत्रैषा सर्वधातूनामन्नपानरस. प्रीणयिता। —सु० सू० १४।११

६ स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीर केवलम्। सु० सू० १४।१६

७. अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थान पदवी सृतिः। सरणि. पद्धति· पद्या वर्तन्येकपदीति च॥ —अमर० २।१।१५

पर्याय शब्द है—वर्त्म, मार्ग, अध्वा, पन्था, पदवी, सृति, सरणि, पद्धति, पद्या, वर्तनी और एकपदी।

विस्तृत परिभाषा

रस (औषधो मे रहनेवाले षड्रस) गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति या प्रभाव का यथोचित रूप से शरीर मे आत्मसात् कराने, शरीर का सवर्धन तथा बलाधान आदि कराने शरीर की रस-रक्तादि धातुओ का प्रशस्त रूप से निर्माण कर शरीर को सुदृढ, यौवनसम्पन्न, रोगमुक्त, दीर्घायु, मेधासपन्न और पौरुष-पराक्रमसपन्न बनाने की क्षमता जिन उपायो मे निहित हो, उन्हे रसायन कहते है।

वक्तव्य—रसायन शब्द मे रस का अर्थ रस-वीर्य-विपाक-गुण और प्रभाव तथा रस आदि धातु है और अयन का अर्थ प्रापण या मार्ग है। इस प्रकार रस की उपलब्धि की प्रक्रिया को रसायन कहा जाता है।

पर्याय

स्वस्थ व्यक्ति के ऊर्जस्कर उपाय को रसायन कहते है और वह भेषज अर्थात् चिकित्सा का एक अग है, क्योकि भेषज को द्विविध कहा गया है—१ स्वस्थहित और २ रोगनाशक[1]।

इस प्रकार रसायन चिकित्सा की एक विधा है और उसके **पर्याय**[2] है—

१ चिकित्सित	२ व्याधिहर	३ पथ्य	४ साधन
५. औषध	६. प्रायश्चित्त	७ प्रशमन	८. प्रकृतिस्थापन
९ हित	१० भेषज।		

रसायन का ऐतिहासिक महत्त्व

आचार्य चरक[3] ने कहा है कि जो व्यक्ति उच्च मनोबल, प्रखर बुद्धि, उत्तम शारीरिक बल और उत्कृष्ट मन शक्ति से सम्पन्न हो तथा वे ऐहलौकिक अभ्युदय एव पारलौकिक नि श्रेयस की आकाक्षा रखते हो, तो उन्हे तीन प्रकार की एषणाओ (इच्छाओ) की आपूर्ति के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए, वे है—१ प्राणैषणा, २ धनैषणा और ३ परलोकैषणा।

---

१ भेषज द्विविध च तत्।
स्वस्थस्योर्जस्कर किञ्चित् किञ्चिदार्तस्य रोगनुत्।
स्वस्थस्योर्जस्कर यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम्॥
प्राय , प्रायेण रोगाणा द्वितीय प्रशमे मतम्। प्राय-शब्दो विशेषार्थो ह्युभय ह्युभयार्थकृत्॥
—च० चि० १।४,५,६

२. चिकित्सित व्याधिहर पथ्य साधनमौषधम्। प्रायश्चित्तं प्रशमन प्रकृतिस्थापन हितम्॥
विद्याद् भेषजनामानि । —च० चि० १।३-४

३ इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणा· पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति। आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्येत। कस्मात्, प्राणपरित्यागे हि सर्वपरित्याग·। च० सू० ११।३-४

इन तीन एषणाओ मे सर्वप्रथम प्राणैषणा आती है, क्योकि प्राण छूट जाने पर सासारिक समस्त वैभव और ठाट-वाट छूट जाते है और इनका कोई प्रयोजन नही होता।

'एक बार एक दरिद्र कवि चोरी की नियत से किसी राजा के अन्त पुर मे रात के अन्धेरे मे प्रविष्ट हो गया। राजा-रानी दोनो ही कविता-प्रेमी थे और शयन-शय्या पर लेटे-लेटे एक श्लोक की रचना कर रहे थे। वे श्लोक के तीन चरण तो वना लिये, किन्तु चौथे चरण की रचना मे घण्टो का समय वीत गया और वे परेशान हो उठे। दम्पती की इस विकलता को भाँप कर चोर कवि वोल उठा और श्लोक[1] पूरा हो गया, जिसका भावार्थ है—

'मेरे राजप्रसाद मे मनोहारिणी काया-कान्तिवाली युवतियाँ है, मेरे मित्र अनुकूल हैं, वन्धु-वान्धव सज्जन है, भृत्यवर्ग नतमन्तक होकर हाथ जोडे आदेश की प्रतीक्षा करते है और विनम्र वचन वोलते है, दोर्घ दाँतवाले महाकाय हाथी दरवाजे पर गर्जना कर रहे है और हवा से बात करनेवाले, तरल-तेजतर्रार तुरङ्गमो की कतार खडी है?

(सब ठीक है, किन्तु) जब आँखे वन्द हो जायेगी तव यह कुछ भी अपना नही होगा?'

तात्पर्य यह कि मानव की कामनाओ मे 'जिजीविषा—दीर्घायुष्य' का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। प्राचीनकाल के लोककल्याणकर, योग-क्षेमसवर्धक, तपोमय जीवन के व्रती ऋषिपुगवो ने अनेक प्रकार के ओजिष्ठ, वरिष्ठ एव श्रेष्ठ रसायनो का अन्वेषण किया था, जिनके प्रयोग से शत-सहस्र वर्ष पर्यन्त शरीर सुदृढ और वलवान् बना रहता था।

विश्व-वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद आदि मे दीर्घायुष्य, मेधा, स्मृति, कान्ति, इन्द्रिय-शक्ति के उत्कर्ष के लिए अनेक प्रार्थनासूक्त मिलते हैं, जिनमे सौ वर्ष या और भी अधिक वर्षो तक सर्वेन्द्रियसम्पन्न स्वस्थ जीवन की कामना की गयी है। जैसे—

"हम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करते हुए हँसते-खेलते हुए दीर्घ आयु को धारण करे[2]।"

"हे यज्ञ करने वालो! मृत्यु के पाशो को खदेडते हुए, दीर्घ आयु धारण करते हुए, वढते हुए प्रज्ञा और धन से समृद्ध होकर शुद्ध तथा पवित्र वनो[3]।"

---

१. चेतोहरा युवतय. सुहृदोऽनुकूला. सद्बान्धवाः प्रणतिनम्रगिरश्च भृत्या.।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गा. सम्मीलिते नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति॥

२. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतर दधाना.। —ऋग्वेद १०।१८।३

३. मृत्योः पद योपयन्तो यदैत द्राघीयायु प्रतर दधाना.।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियास॥ —ऋग्वेद १०।१८

"हे पुरुषो ! उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहो और यदि इससे पूर्व मृत्यु आवे, तो मृत्यु के मार्ग मे पर्वत खडा कर दो[1] ।"

"हम सौ वर्ष तक या उससे भी अधिक समय तक अदीन (साधनसम्पन्न) जीवन व्यतीत करें[2] ।"

"निरालस होकर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए[3] ।

अथर्ववेद मे अनेक स्थलो मे दीर्घ जीवन के सूत्र भरे पडे हैं। एक मन्त्र मे प्रार्थना की गयी है कि—

"हम सौ वर्ष तक देखे। हम सौ वर्ष तक जीवित रहे। हम सौ वर्ष तक बुद्धि युक्त रहे। हम सौ वर्ष तक उन्नति करते रहें। हम सौ वर्ष तक पुष्ट रहें। हम सौ वर्ष तक स्थिर रहे। हम सौ वर्ष तक या उससे भी अधिक आयुसम्पन्न हो[4] ।

रसायन के सन्दर्भ मे एक नाम अति प्राचीन काल से इतिहास और पुराणो मे विश्रुत है और वह है—मानवीय जिजीविषा के प्रोज्वल प्रतिविम्ब महर्षि च्यवन ।

राजा शर्याति, सुकन्या और च्यवन

विशाल बुद्धि महर्षि वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत मे यह उल्लेख किया है कि मनु की सन्तानो मे शर्याति एक ऐश्वर्यशाली वेदविद् विद्वान् था। राजा शर्याति वसन्त ऋतु के सौन्दर्य की शोभा से आकृष्ट होकर वन-विहार के लिए निकल पडे। उनकी अचिरयौवना कोमलाङ्गी कन्या सुकन्या भी साथ चल पडी। कुसुमाकर की सुगन्धित रसमयी सुषमा ने राजा को मोह लिया और वे प्रकृति-नटी के लास्य को निहारने मे आत्मविस्मृत हो गये। उन्हे यह स्मरण ही नही रहा कि सुकन्या कहाँ है।

उधर सुकन्या अपनी समवयस्का सखियो के साथ वनराजि के नयनाभिराम वासन्ती परिधान निहार रही थी। सहसा सुकन्या ने देखा कि एक मिट्टी के दीमक लगे स्तूप के दो लघु छिद्रो से प्रकाश-किरणे निकल रही हैं। कौतूहलवश सुकन्या ने एक काँटे से उन दोनो छिद्रो को वेंध दिया। फिर तो उनसे रक्त की धार बह निकली। तत्काल राजा शर्याति के सैनिको को भयकर उदावर्त हो गया, उनके मल-मूत्र वेग का अवरोध हो गया, त्राहि-त्राहि का कोलाहल मच गया।

जब शर्याति को इस वृत्तान्त का पता चला, तो वे चकित होकर आत्मनिरीक्षण करने लगे कि इस तपोवन मे मुझ से कोई भूल हो गयी है? उनकी व्यग्रता देखकर सुकन्या ने अपनी गलती का आख्यान पिता को सुनाया।

---

१ शत जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्यु दधता पर्वतेन। —ऋग्वेद १०।१८

२ अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरद. शतात्। —यजु० ३६।२४

३. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा.। —यजु० ४०।२

४ पश्येम शरद शतम्, जीवेम शरद. शतम्, बुध्येम शरद· शतम्, रोहेम शरदः शतम्, पूषेम शरद. शतम्, भवेम शरद शतम्, भूयेम शरद. शतम्, भूयसी. शरद. शतात्। —अथर्ववेद १९।६७

शर्याति उस स्तूपाकार, वेमुअट की मिट्टी से ढँके च्यवन ऋषि के समाधिस्थल पर जाकर अपना अपराध स्वीकार कर आतुरता के साथ उनकी स्तुति करने लगे। उत्तर मे महर्षि ने अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए उस सुकन्या की माँग की और विवश होकर राजा ने सुलक्षणा सुकन्या को समर्पित कर दिया। सुकन्या अपने स्निग्ध व्यवहार से मुनिवर की करुणा की अभिव्यक्ति बन गयी।

एक समय देववैद्य अश्विनीकुमार च्यवन के आश्रम पर पधारे और उनके आतिथ्य के पश्चात् महर्षि ने अपनी करुणा को विनयपूर्वक निवेदित किया कि आप लोग श्रेष्ठतम विद्वान् है। "आपने **दीर्घतपस** ऋषि के कटे हुए शिर का सन्धान किया और उन्हे वार्धक्य से मुक्त कर दशयुगपर्यन्त आयु दी। **खेल** राजा की पत्नी की टागो को शत्रुओ ने काट दिया था, जिसे लोहे की जघा लगाकर आप लोगो ने जोड दिया। आपने **अत्रि** के कटे हुए अवयवो को फिर से सुसयत कर दिया। आपने **दधीचि** ऋषि के शिर को धड से अलग कर उसकी जगह घोडे का शिर जोडकर उससे मधुविद्या (प्राणविद्या) ग्रहण करके, फिर घोडे का शिर काटकर उसके स्थान पर फिर से उनका शिर जोड दिया। आपने **ऋजाश्व** को दृष्टि, वहरे **पार्षद** को श्रोत्र, पगु **परावृज** को चलने की शक्ति और नपुसक पति वाली **वध्रिमती** को पुत्र देने आदि अनेक अद्‌भुत कार्य किये है।

फिर च्यवन ने अभ्यर्थना की कि आप मुझे युवा अवस्था प्रदान करे, जिसे युवती स्त्रियाँ चाहती है? उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर देववैद्यो ने उन्हे एक प्राश का उपदेश दिया और आगे चलकर वही **च्यवनप्राश रसायन** नाम से विख्यात हुआ। उसके सेवन से अतिशय वृद्ध च्यवन ऋषि युवा बन गये। यौवनोचित मेधा, स्मृति, कान्ति, आरोग्य तथा उत्कृष्ट पौरुषशक्तिसम्पन्न हो गये, अभिनव तारुण्य-सम्पन्न, दीर्घ आयुष्य और स्त्रीजनोचित सौन्दर्य के स्वामी बनकर च्यवन ने भरद्वाज (वीर्यसम्पन्न) रूप धारण किया।

रसायन के सन्दर्भ

प्राचीन काल के ऋषि रसायन औषधो के चमत्कारपूर्ण प्रयोग से वार्धक्य जनित दौर्बल्य, रुग्णता और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लिये थे। वे हजारो वर्ष तक निरामय आयु का उपभोग करते थे। उन्ही रसायनो की श्रेणी मे **च्यवनप्राशावलेह** ने सहस्रातीत सवत्सरो से अपने गौरवपूर्ण उत्कर्ष को स्थापित किया है।

आचार्य चरक ने चरकसहिता के चिकित्सास्थान के प्रथम अध्याय मे **रसायन** का विस्तार से वर्णन किया है—१ अभयामलकीय, २ प्राणकामीय, ३ करप्राचतीय एव ४ आयुर्वेदसमुत्थानीय, इन चार पादो मे उसका विस्तार है।

आचार्य सुश्रुत ने सुश्रुतसहिता के चिकित्सास्थान के अध्याय २७ सर्वोपघात-शमनीय, २८ मेधायुष्कामीय, २९ स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय और ३० निवृत्तसन्ता-पीय मे **रसायन** का वर्णन किया है।

आचार्य वाग्भट ने अष्टाङ्गसग्रह के उत्तरस्थान के अध्याय ४९ मे तथा अष्टाङ्गहृदय उत्तरस्थान अध्याय ३९ मे रसायन का वर्णन किया है।

प्राचीन रसायनतन्त्रो मे जिनका नाम सुना गया है, वे इस प्रकार है—

पातञ्जलतन्त्र	सम्प्रति अनुपलब्ध
व्याडितन्त्र	,, ,,
वसिष्ठतन्त्र	,, ,,
माण्डव्यतन्त्र	,, ,,
नागार्जुनतन्त्र	,, ,,

रसायन-खण्ड—नित्यनाथसिद्ध-कृत
रसायनतन्त्र—पक्षधर झा
रसायन-दर्शन

प्राचीन काल से अब तक चिरायु और चिरयौवन की उपलब्धि मनुष्य की प्रबल कामना रही है। चिरयौवन को समझने और उसके स्थापन के लिए प्राचीन आयुर्वेदज्ञो से लेकर आधुनिक शरीरविज्ञानियो तक सभी ने सार्थक प्रयत्न किये हैं। प्राचीन आयुर्वेदीय सहिताग्रन्थो मे जरा और व्याधि को रोकने के लिए अनेकविध रसायनयोगो का वर्णन है, जिनका प्रयोग शरीर, मन एव बुद्धि को प्रखर बनाता है तथा वार्धक्य और रोग का प्रशमन करता है।

आधुनिक शरीरविज्ञान की भी जेराण्टोलॉजी और पी० एन० आई० सहित अनेक शाखाएँ वृद्धावस्था के कारण और उसके निवारण के उपायो के अन्वेषण मे सलग्न है।

रसायन-सेवन के पहले शरीर-शोधनार्थ पञ्चकर्म (वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन और नस्य) का प्रयोग अनिवार्य रूप से करने का निर्देश है, जो चिकित्सा के दो प्रकारो (१ सशोधन और २ शमन) मे प्रथम स्थान रखता है और सशोधन-चिकित्सा की विशेषता यह है कि जिन रोगो का उपचार सशोधन के द्वारा होता है, उनकी पुन उत्पत्ति नही होती है।

पञ्चकर्म-कार्यक्रम पर जर्मनी के एलबर्ट लुडविग विश्वविद्यालय मे किये गये शोध के निष्कर्ष के अनुसार १५ दिन तक किया गया पञ्चकर्म शरीर मे कोलेस्ट्रोल स्तर को दस फीसदी तक कम करता है और हृदयरोगो की आशका को १७ फीसदी तक घटा देता है। इसी विश्वविद्यालय मे हुए एक अन्य शोध के अनुसार १५ दिन के पञ्चकर्म के बाद प्रायोगिक वर्ग के लोग 'फ्रीवर्गर पर्सनेलिटी इनवेण्टरी' पर खरे उतरे। उनकी शारीरिक थकान, चिडचिडापन और भावनात्मक असन्तुलन मे अपूर्व कमी आयी।

आधुनिक वैज्ञानिक शोधो ने मानसिक शुद्धि और यौवन को कायम रखने मे योग की प्रशंसनीय भूमिका को स्वीकार किया है। यह विश्वास प्रगाढ़ होता जा

रहा है कि आयुर्वेद और योग को जीवनशैली मे स्थान देकर ही यौवन को लम्बे समय तक कायम रखा जा सकता है ।

रसायन का प्रयोजन और लाभ

शरीर का पोषण आहार-रस से होता है और सभी प्रकार की शारीर धातुओ को अन्न-पान से उत्पन्न रस ही तर्पित करता है[१] । पुरुष को रस से ही उत्पन्न समझना चाहिए । बुद्धिमान् व्यक्ति को सावधान होकर अन्न-पान तथा आचार का यथोचित पालन कर रस की रक्षा करनी चाहिए[२] ।

यह बतलाया गया है कि प्रशस्त[३] गुणो से युक्त रस-रक्तादि धातुओ की प्राप्ति रसायन से होती है । एवञ्च जब शरीर मे उत्तम रस-रक्तादि धातुओ का निर्माण होगा तो न तो जल्दी वृद्धावस्था आयेगी और न ही रोग उत्पन्न होंगे ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'रसायन' मनुष्य को आधि-व्याधिविनिर्मुक्त, स्वस्थ, ऊर्जस्कर दीर्घ जीवन देने का उत्कृष्ट साधन है । रसायन-औषधे धातुओ का सवर्धन कर शरीर को सुदृढ तथा रोगमुक्त बनाती है ।

'रसायन' औषध का सेवन करने से मनुष्य दीर्घ आयु, स्मरणशक्ति, धारणा-शक्ति, आरोग्य, तरुणावस्था, कान्ति, उत्तम वर्ण और स्वर, उत्तम शारीरिक मानसिक एव इन्द्रियबल, वाक्सिद्धि, लोकवन्धता और सौन्दर्य आदि श्रेष्ठ गुणो को प्राप्त करता है[४] ।

'रसायन' सौ वर्ष[५] या उससे भी अधिक आयु देता है और कठिन रोगो को दूर करता है । वह बुद्धि को परिष्कृत कर धारणा-शक्ति को अधिक तीक्ष्ण बनाता है[६] ।

'रसायन' स्वभावत उत्पन्न होनेवाले क्षुधा, पिपासा, जरा और मृत्यु को भी देता है, यह उनका प्रतिषेधक है ।

सुश्रुत ने सोम नामक रसायनौषध के सेवन का फल बतलाया है कि इसके प्रयोग से मनुष्य दस सहस्र वर्षपर्यन्त[७] नवीन शरीर धारण करता है । सोम-सिद्ध व्यक्ति

---

१. तत्रैषा सर्वधातूनामन्नपानरस प्रीणयिता । —सु० सू० १४।११

२. रसजं पुरुष विद्याद् रस रक्षेत् प्रयत्नत. । अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रित. ॥ —सु० सू० १४।१२

३ रसाना रस-रक्तादीनामयनमाप्यायन रसायनम् अथवा रसाना रसवीर्यविपाकादीनामायु· प्रभृतिकारणानामयन विशिष्टलाभोपायः रसायनं तदर्थं तन्त्र रसायनतन्त्रम् । —सु० सू० १।७ पर डल्हण

४. दीर्घमायु· स्मृतिं मेधामारोग्य तरुण वयः । प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्ति लभते ना रसायनात् । —च० चि० १।१।७८

५. वाराहीकन्दरसायन । —सु० चि० २७।११

६. मेधायुष्कामीय रसायन । —सु० चि० अ० २८

७. ओषधीना पतिं सोममुपयुज्य विचक्षण· । दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥ —सु० चि० २९।१४

आकाश मे विचरण[1] करता है। सोम-सदृश अन्य भी रसायन कहे गये है, जो दो हजार वर्ष तक आयु दे सकते है। (सोम तथा उसके सदृश अन्य औषधे सम्प्रति ज्ञात नही है, द्रव्यगुण के आचार्यों को इनकी खोज करनी चाहिए)।

'आचाररसायन'[2] मनुष्य को देवत्व की ओर ले जानेवाला ब्राह्मीसंस्कृति (गीता अ० १६।१-३) का प्रणेता रसायन है, जिसके प्रयोग से मनुष्य के मन का लोहा काञ्चन वन सकता है। मनु ने जिस आचार को प्रथम धर्म कहा है—'आचार प्रथमो धर्म मनुना परिकीर्तित' वह यही 'आचाररसायन' है। इसके सेवन से मनुष्य रज-तम से मुक्त होकर विलक्षण सात्त्विक मनोवल का स्वामी वन जाता है।

चरकाचार्य ने चिकित्सा के जिन छह[3] प्रकारो का उल्लेख किया है, उनमे 'रसायन' का समावेश वृहण उपक्रम मे करना चाहिए, क्योकि रसायन द्रव्य शरीर, मन और आयुष्य का उपवृहण करते है।

रसायनो के प्रयोग से वृद्धावस्था मे होनेवाले धमनी-काठिन्य को अधिक अश तक रोका जा सकता है। सुश्रुत ने कहा है कि शीतल जल, दुग्ध, मधु और घृत, पृथक्-पृथक्, दो-दो, तीन-तीन अथवा चारो का एक साथ प्रात काल सर्वप्रथम पीना वय स्थापन है[4]।

रसायन-योगो की तरह सद्वृत्त-सदाचार का पालन करने से भी रसायन के फल प्राप्त होते हैं, जैसे—

पूर्वक्त आहार के पच जाने पर भोजन करना, मल-मूत्रादि के वेगो को न रोकना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, किसी को शारीरिक या मानसिक पीडा न पहुँचाना और दुस्साहस का परित्याग करना—ये आयु की वृद्धि करते हैं[5]।

जो मनुष्य सत्य भाषण करता है, क्रोध नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हैं और जिसका झुकाव अध्यात्म की ओर है, जो शान्त रहता है, किसी को सताता नही है और संहिता-ग्रन्थो मे वतलाये गये सद्वृत्त का पालन करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि वह प्रतिदिन सर्वदा रसायन का सेवन करता है। वह नित्यरसायन है[6]।

जो मनुष्य आचार-रसायन के साथ-साथ किसी रसायन-योग का सेवन करता

---

१ चरत्यमोघसङ्कल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे। —सु० चि० ३०।७

२. चरक० चि० १।४।३०–३५।

३. च० सू० २२।४।

४ शीतोदक पयः क्षौद्र सर्पिरित्येकशो द्विश.। त्रिश. समस्तमथवा प्राक् पीत स्थापयेद्वय ॥ —सु० चि० २७ ६

५. आयुष्य भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥ —सु० चि० २८।२८

६. सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्। शान्तं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्यरसायनम् ॥ —अ० हृ० उ० ३९।१८०

है, वह सब कार्यों मे सफल तथा दीर्घायु होता है तथा इस लोक और परलोक मे सुख भोगता है[1]।

जिस व्यक्ति का आहार-विहार-दिनचर्या-रात्रिचर्या आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार हो, पुत्र-कलत्र-भृत्य आदि मनोऽनुकूल व्यवहार वाले तथा विनम्र हो, प्रतिदिन के कार्य या व्यवसाय मे किसी प्रकार का प्रज्ञापराध न हो, तो ऐसे व्यक्ति को समझना चाहिए कि वह पूर्ण रूप से रसायन का सेवन कर रहा है। यह परिपूर्ण रसायन है[2]।

आचार-रसायन और रसायन-योग, इन दोनो का सन्तुलन पूर्ण रसायन है।

रसायन-सेवन के अयोग्य पुरुष[3]

सात प्रकार के व्यक्तियो को रसायन का सेवन नही करना चाहिए, क्योकि निम्नलिखित कारणो से वे अयोग्य हैं—

१ अनात्मवान्	अज्ञानी होने के कारण
२ आलसी व्यक्ति	औषध सेवनारम्भ न करने के कारण
३ दरिद्र व्यक्ति	दरिद्रता के कारण
४ प्रमादी व्यक्ति	अस्थिरचित्त होने के कारण
५ व्यसनी व्यक्ति	अनायत्त होने के कारण
६. पापकृत् व्यक्ति	अधर्माचरण के कारण
७. भेषजापमानी	औषधालाभ होने के कारण
८ पापी	व्यसन मे लिप्त होने के कारण
९. पतित (हतात्मा)	आत्मा गिरी होने के कारण
१० शुश्रूषा रहित	श्रद्धा का अभाव होने के कारण

रसायन-सेवन के योग्य पुरुष[4]

१ जितेन्द्रिय, २ रसायन-सेवन के प्रति उत्साहयुक्त, ३. हितायु व्यक्ति, ४ सुखायु व्यक्ति, ५ साधन-सम्पन्न, ६ सावधान, ७ व्यसनविहीन ८ धार्मिक, ९

१. गुणैरेभिः समुदितः सेवते यो रसायनम्। स निर्वृतात्मा दीर्घायु. परत्रेह च मोदते॥
—अ० हृ० उ० ३९।१८१

२. शास्त्रानुसारिणी चर्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्तिनः। बुद्धिरस्खलितार्थेषु परिपूर्णं रसायनम्॥
—अ० हृ० उ० ३९।१८२

३. अथ खलु सप्त पुरुषा रसायन नोपयुञ्जीरन्, तद्यथा—अनात्मवानलसो दरिद्र प्रमादी व्यसनी पापकृद् भेषजापमानी चेति। सप्तभिरेव कारणैर्न सम्पद्यते; तद्यथा—अज्ञानादनारम्भादस्थिरचित्तत्वाद् दारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्माद् औषधालाभाच्चेति।
—सु० चि० ३०।४, च० चि० १।४।३८

४. पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनो. सदा॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः। न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः॥
—सु० चि० २७।३-४

रसायन का श्रद्धालु, १०. १६ वर्ष से ५० वर्ष की आयुवाला, ११ वमन-विरेचनादि द्वारा शुद्ध, १२ स्निग्ध, १३. फुरसतवाला, १४ मनोविकार रहित और १५ नर एवं नारी दोनो ही रसायन-सेवन के अधिकारी है।

रसायन के प्रकार

कार्य-भेद से द्विविध रसायन

(१) संशोधन—

सशोधन रसायन का पूर्वकर्म है। सशोधन के प्रयोग से शरीर के शुद्धीकरण के पश्चात् किया गया रसायन-प्रयोग ही फलप्रद होता है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र पर रग नही चढता है, उसी प्रकार अशोधित शरीर पर रसायन का प्रयोग लाभकर नही होता। सशोधन-कर्म मे—१ वमन, २. विरेचन, ३. निरूह, ४ अनुवासन और ५. नस्यकर्म की गणना होती है।

पञ्चकर्म के अङ्गभूत—१ स्नेहन और २ स्वेदन किये जाते है[1]।

१. **स्नेहन**—पुरुष स्नेहसार होता है। स्नेह गुरु-शीत-सर-स्निग्ध-मन्द-सूक्ष्म-मृदु-द्रव गुणवाले होते है। ये गुण शरीर की व्याधिक्षमता को बढाते हैं और शरीर का उपचय करते है। बहुत से रोग केवल स्नेह के प्रयोग से साध्य हो जाते हैं। स्नेह के प्रयोग से वातविकार शान्त होते हैं, शरीर मे मृदुता आती है, जठराग्नि की वृद्धि होती है, मल का संग नष्ट होकर कोष्ठशुद्धि होती है और शरीर की धातुओ का बृहण तथा बल की वृद्धि होती है[2]।

घृत सर्वोत्तम स्नेह है। स्नेहनार्थं पित्तप्रकोप मे शुद्ध घृत, वात मे लवणयुक्त घृत और कफ मे त्रिकटुचूर्णयुक्त घृत का प्रयोग करना चाहिए। संशोधनार्थ प्रात काल घृत का सेवन करे। दोष-देश-काल-प्रकृति-शरीरबल आदि के अनुसार १०० ग्राम, ७५ ग्राम या ५० ग्राम घी एक बार मे देना चाहिए। अनुपान मे उष्ण जल दें।

स्नेहनार्थ क्रूर कोष्ठ को ७ दिन, मध्यम कोष्ठ को ५ दिन और मृदुकोष्ठ व्यक्ति को ३ दिन घृतपान कराना चाहिए।

तैल का बाह्य अभ्यङ्ग और मर्दन अधिक लाभकर होता है[3]।

२ **स्वेदन**—जिस क्रिया से शरीर मे स्वेद की उत्पत्ति होती है, उसे स्वेदन कहते है। यह साग्निस्वेद और निरग्निस्वेद भेद से दो प्रकार का होता है। निरग्नि-स्वेद मे अग्नि के प्रयोग के बिना ही स्वेदन हो जाता है, जैसे व्यायाम करना,

---

१ तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः। पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥
—च० सू० २

२. दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषो भवेत्तु ॥ — सु० चि० ३१

३. अन्नादष्टगुणं पिष्टं पिष्टादष्टगुणं पयः। पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसादष्टगुणं घृतम् ॥
घृतादष्टगुणं तैलं मर्दनात् तु भक्षणात्। —सुभाषित

उष्णगृह मे निवास करना, भारी ओढना होना, भय होना, क्रोध होना, धूप लगना आदि[1]।

साग्निस्वेद के विविध प्रकार हैं, जैसे वालुकास्वेद, प्रस्तरस्वेद, नाडीस्वेद, वाष्पस्वेद, भूस्वेद एव सकरस्वेद आदि।

भोजन के पच जाने पर निवातस्थान मे स्वेदन करना चाहिए। वाह्य वायु का का स्पर्श निषिद्ध है। स्वेदन से सूक्ष्म स्रोतो मे लीन दोष द्रवरूप मे वाहर निकल आते है। स्वेद निकलने पर उसे स्वच्छ तौलिया से पोछ दें। वहिर्मार्गगत दोपो के निष्क्रामण के लिए स्वेदन श्रेष्ठ उपचार है। कोष्ठगत दोपो के निर्हरण के लिए वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन तथा नस्य का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सशोधन द्वारा शरीर-शोधन करने के वाद ही रसायन का प्रयोग करना चाहिए।

पिछले अध्यायो मे पचकर्म का वर्णन किया जा चुका है, अत वही देखे।

(२) संशमन[2]—

जो उपक्रम दोपो का शोधन न करे तथा सम दोपो की वृद्धि न करे और विपम दोषो को सम करे, उसे शमन या सशमन कहते हैं।

वाग्भट ने शमन को सात प्रकार का वतलाया है—

१ पाचन अर्थात् आमदोषो को पकाने वाला।
२. दीपन अर्थात् जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला।
३ क्षुधा अर्थात् उपवास करना या लघु भोजन करना।
४ तृषा अर्थात् प्यासे रहना या थोडा जल पीना।
५ व्यायाम अर्थात् शारीरिक श्रम का कार्य करना।
६ आतप अर्थात् धूप मे रहना या आग तापना।
७ मारुत अर्थात् वायु-सेवन, खुली हवा मे रहना।

इनके अतिरिक्त अन्य भी हैं, जैसे—

८ लेखन—शरीर को कृश वनाना।
९ वृहण—कृश शरीर को स्थूल वनाना।
१०. रसायन का प्रयोग करना।
११. वाजीकरण का प्रयोग करना।
१२ विष का शमन करना आदि सशमन है।

वाह्य संशमन

१ आलेप, २ परिषेक, ३ अवगाहन, ४. अभ्यङ्ग, ५ शिरोवस्ति, ६ कवलग्रह और ७ गण्डूष आदि।

---

१. व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरण क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपा ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते। —च० सू० १४।६४-६५

२. न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ॥
पाचन दीपन क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः। —अ० हृ० सू० १४।६-७

कुछ संशमन रसायन-योग

१. नागबला रसायन
२ तिल रसायन
३ पलाशबीज रसायन
४ पुनर्नवा रसायन
५ वृद्धदारुक रसायन
६ आमलक रसायन प्रभृति।

प्रयोजन-भेद से त्रिविध रसायन

प्रयोजन-भेद से १ काम्य, २. नैमित्तिक और ३ आजस्रिक—ये तीन प्रकार के रसायन होते हैं। जैसे—

(१) **काम्य रसायन**—प्राणकामीय, मेधायुष्कामीय, ब्राह्म रसायन, आमलक रसायन, आमलकावलेह, शखपुष्पी रसायन, पिप्पली रसायन, विडगावलेह, नागबला रसायन, बला रसायन प्रभृति।

(२) **नैमित्तिक रसायन**—खदिर रसायन, असन रसायन, मधुक रसायन, अमृता रसायन, धात्री रसायन, त्रिफला रसायन, मण्डूकपर्णी, मेघ्य रसायन, ब्राह्मी-घृत आदि।

(३) **आजस्रिक रसायन**—दुग्ध, घृत, अन्न, फल, शीतोदक, मधु, वेगविधारण, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, साहसवर्जन प्रभृति।

भेषज-भेद से द्विविध रसायन

(१) **द्रव्यभूत**—हरीतकी, आमलक, पिप्पली, दशमूल, अष्टवर्ग, बला, नागबला, शतावर, वचा, हरिद्रा, शाल्मली, रसोन, चित्रक प्रभृति।

(२) **अद्रव्यभूत**—आचार-रसायन, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, सुमति, सद्वाक्य, विशदा बुद्धि, ज्ञान, योगाभ्यास प्रभृति।

प्रयोग-भेद से त्रिविध रसायन

प्रयोग-भेद से—१ कुटीप्रावेशिक, २ वातातपिक और ३ द्रोणीप्रावेशिक—ये तीन रसायन है।

(१) **कुटीप्रावेशिक**—समुचित लम्बाई-चौडाई-ऊँचाई वाली, तीन दीवारो की गैलरीवाली, मोटी दीवारवाली, सभी ऋतुओ मे सुखद, सूक्ष्म गवाक्षयुक्त, प्रकाशयुक्त मनोरम कुटी का निर्माण कराये। उस कुटी मे आचार्य के अनुशासन के अनुसार शुद्ध शरीर होकर विधिवत् प्रवेश करे और रसायन-औषध का सेवन करे। यह कुटीप्रावेशिक रसायन कहलाता है।

(२) **वातातपिक**—यह वह रसायन-प्रयोग है, जो खुले स्थान मे, जहाँ धूप तथा खुली वायु का शरीर से स्पर्श होता हो, वहाँ रहकर किया जाता है। इसमे कोई आडम्बर और विशेष प्रतिबन्ध नही है। इसे जहाँ कही रहकर प्रयोग किया जा सकता है। इसे सामान्य जन भी आसानी से कर सकते है।

(३) **द्रोणीप्रावेशिक**—यह प्रयोग बडा ही चमत्कारपूर्ण है। सम्प्रति इसके प्रयोग और फलश्रुति पर एक बडा-सा प्रश्नचिह्न लगा हुआ है कि क्या ऐसा सभव है ?

पलाशवृक्ष के आर्द्र तने से पुरुष-शयन प्रमाण द्रोणी (नाव) का निर्माण कराकर उसमे सोकर रसायन का प्रयोग किया जाता है, जिसका वर्णन आगे होगा।

रसायन-प्रकार सारणी

कार्य-भेद से द्विविध		प्रयोजन-भेद से त्रिविध			भेषज-भेद से द्विविध		प्रयोग-भेद से त्रिविध		
संशोधन	संशमन	काम्य	नैमित्तिक	आजस्रिक	द्रव्यभूत	अद्रव्यभूत	कुटीप्रावेशिक	वातातपिक	द्रोणीप्रावेशिक
(स्नेहन	पाचन	प्राणकामीय	खदिर रसायन	दुग्ध	हरीतकी	आचाररसायन	समुचित	जहाँ कहीं	आर्द्र पलाश
स्वेदन)	दीपन	मेधायुष्कामीय	ऐन्द्र ,,	घृत	आमलकी	यम	लम्बी	खुली धूप	काष्ठनिर्मित
वमन	क्षुधा	ब्राह्म रसायन	असन ,,	अन्न	पिप्पली	नियम	चौडी	खुली हवा	पुरुषशयन
विरेचन	तृषा	आमलक ,,	मधुक ,,	फल	दशमूल	आसन	सूक्ष्मगवाक्षा	मे रहकर	प्रमाण द्रोणी
निरूह	व्यायाम	आमलकावलेह	अमृता ,,	शीतोदक	अष्टवर्ग	प्राणायाम	तीन दीवार की	रसायन	(नाव) मे शयन
अनुवासन	आतप	शखपुष्पीरसायन	धात्री ,,	मधु	नागबला	शौच	मोटी ,,	औषध का	कर रसायन
नस्य	मारुत)	पिप्पली ,,	त्रिफला ,,	वेग का	शतावर	सन्तोष	सर्वर्तुसुखद	सेवन करना।	का प्रयोग किया
	नागबला-	विडंगावलेह	मण्डूकपर्णी ,,	अविधारण	वचा	तप·	मनोरम	इसमे कोई	जाता है, जो
	रसायन	नागबला	मेध्य ,,	ब्रह्मचर्य	हरिद्रा	स्वाध्याय	प्रकाशवती	आडम्बर नहीं	अद्भुत चमत्कार
	तिल	बला	यष्टीमधु ,,	अहिंसा	शाल्मली	सुमति	कुटी मे	है। इसे कोई	पूर्ण है।
	पलाशबीज	प्रभृति	ब्राह्मीघृत	साहसवर्जन	रसोन	सद्वाक्य	आचार्य के	सामान्य जन	(देखें—चरक चि.
	पुनर्नवा		प्रभृति	प्रभृति	चित्रक	विशदा बुद्धि	अनुशासना-	भी कर सकता	१।४।७)।
	विधारा				प्रभृति	ज्ञान	नुसार प्रवेश	है।	
	धात्रीफल					योगाभ्यास	कर विधिवत्		
	प्रभृति					प्रभृति	रसायन का		
							सेवन करना।		

प्रयोजनानुसार रसायन के अन्य भेद

१ सर्वोपघातशमनीय रसायन (सुश्रुत० चि० २७)।
२. मेधायुष्कामीय रसायन (सुश्रुत० चि० २८)।
३ स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन (सुश्रुत० चि० २९)।
४ निवृत्तसन्तापीय रसायन (सुश्रुत० चि० ३०)।
५ प्राणकामीय रसायन (चरक० चि० १।२)।
६ तारुण्यकर रसायन (चरक० चि० १)।

च्यवनप्राश तथा ब्राह्मरसायन आदि ऐसे रसायन है, जिनके सेवन से दीर्घकाल पर्यन्त तरुणावस्था बनी रहती है।

आचाररसायन[1]

१. सत्य बोलना।
२ क्रोध न करना।
३ मद्यपान न करना।
४ अवैध या अतिमैथुन से दूर रहना।
५ मन-वचन-कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाना अर्थात् किसी प्रकार की हिंसा न करना।
६ शक्ति से अधिक परिश्रम न करना।
७ शान्त रहना।
८. प्रिय वचन बोलना।
९ अपने इष्ट देवी-देवता का मन्त्र जपना।
१० मन एव शरीर से पवित्र रहना।
११ धैर्य धारण करना।
१२ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार सदा दान देना।
१३ तपस्या (कठोर कार्य आ पडने पर उसके समाधान का प्रयत्न करना।)
१४. देवता-गौ-ब्राह्मण-आचार्य-गुरु और वृद्धो की सेवा करना।
१५ क्रूरता से दूर रहना।
१६ सर्वदा दया-करुणा का भाव रखना।
१७ उचित समय से रात्रि मे ६-७ घण्टे सोना और समय से जगना।
१८. दूध और घृत का नित्य सेवन करना।
१९. जिस देश और काल मे रहे उसके अनुसार आचरण करना।
२० युक्ति को जानना अर्थात् किसी कार्य के सम्पन्न करने मे आनेवाली कठिनाई को दूर करने की योग्यता रखना।
२१ अपने कुल, धन, बल और यौवन आदि का अहङ्कार न करना।

---

१. चरक० चि० १।४।३०-३५।

२२ उत्तम आचरण रखना।

२३ सकीर्णता का विचार न रखना।

२४. अपनी इन्द्रियो को आध्यात्मिक विषयो मे लगाना।

२५ आस्तिक, जितेन्द्रिय और वृद्धजनो के निकट सम्पर्क मे रहना।

२६ धर्मशास्त्र का अध्ययन करते रहना।

इन उपर्युक्त गुणो से युक्त मनुष्य यदि रसायन का सेवन न भी करे, तो उसे रसायन-सेवन के फल प्राप्त होते हैं और इन गुणो से युक्त व्यक्ति यदि रसायन का सेवन करता है, तो वह रसायनो के सेवन से होनेवाले सभी गुणो को पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त करता है[1]।

रसायन-सेवन का लाभ-सूत्र

जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दोषो को बिना दूर किये ही रसायन का सेवन करता है, वह व्यक्ति रसायन के सभी गुणो को नही प्राप्त कर पाता है।

जिन व्यक्तियो ने शारीरिक और मानसिक दोषो से शरीर और मन का शोधन कर लिया है और जिनकी आत्मा अपने वश मे है, वे यदि आयु बढानेवाले या जरा या रोग को दूर करनेवाले रसायनो का सेवन करते है, तो उन्हे रसायन-सेवन का पूर्ण लाभ प्राप्त होता है तथा उनके मनोरथ की सिद्धि होती है[2]।

---

१. सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्त मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायास प्रशान्त प्रियवादिनम्॥
जपशौचपर धीर दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशस्यपरं नित्य नित्यं करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्न नित्य क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञ युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितार वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपर विद्यान्नर नित्यरसायनम्॥
गुणैरेतै समुदितै. प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्। रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते।
—च० चि० १।४।३० ३५

२. यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषान् शारीरमानसान्। रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन॥
योगा ह्यायु प्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणा। मन शरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम्॥
—च० चि० १।४। ३६-३७

नवम अध्याय

रसायन के योग और उनके प्रयोग

च्यवनप्राशावलेह

(ग्रन्थ-नाम : शार्ङ्गधरसंहिता-मध्यम खण्ड)

(१) क्वाथ के द्रव्य —

१. बेल की छाल	५० ग्राम		२०. जीवक ([illegible])	५० ग्राम
२. अरणी	५०	,,	२१. ऋषभक	५०	,,
३. [illegible]	५०	,,	२२. [illegible]	५०	,,
४. गम्भारी	५०	,,	२३. [illegible]	५०	,,
५. [illegible]	५०	,,	२४. नागरमोथा	५०	,,
६. शालपर्णी	५०	,,	२५. पुष्करमूल	५०	,,
७. पृश्निपर्णी	५०	,,	२६. काकनासा (कौआठोंठी)	५०	,,
८. छोटी कटेरी	५०	,,	२७. मुद्गपर्णी	५०	,,
९. बड़ी कटेरी	५०	,,	२८. माषपर्णी	५०	,,
१०. गोखरू	५०	,,	२९. विदारीकन्द	५०	,,
११. पीपर	५०	,,	३०. [illegible]	५०	,,
१२. काकड़ासिंगी	५०	,,	३१. काकोली	५०	,,
१३. मुनक्का	५०	,,	३२. क्षीरकाकोली	५०	,,
१४. गुडूची	५०	,,	३३. कमलगट्टा	५०	,,
१५. बड़ी हर्रे [illegible]	५०	,,	३४. मेदा	५०	,,
१६. बरियार	५०	,,	३५. महामेदा	५०	,,
१७. भुंई आंवला	५०	,,	३६. छोटी इलायची	५०	,,
१८. अडूसा	५०	,,	३७. अगर (धूरा)	५०	,,
१९. ऋद्धि	५०	,,	३८. सफेद चन्दन (धूरा)	५०	,,

इन सबको भूसा की तरह कूट ले।

(२) बीस लीटर जल समाने लायक कलईदार कड़ाही	१
(३) क्वाथ बनाने के लिए जल	१३ लीटर
(४) गाय या भैंस का घृत	३५० ग्राम
(५) चीनी (आधी तुला)	२½ किलो
(६) आंवला देशी ५०० नग (प्रत्येक १ भर वजन का)	६ किलो
(७) प्रक्षेप द्रव्य (बारीक कपड़छन चूर्ण)	

१. पीपर	१०० ग्राम
२. वशलोचन	२०० ,,
३. दालचीनी	१० ,,
४. छोटी इलायची	१० ,,
५. तेजपात	१० ,,
६. नागकेशर	१० ,,

निर्माण-विधि

१ कडाही मे १३ लीटर जल डालकर उसमे क्वाथ द्रव्य मिला दें। कपडे की थैली मे आँवले को बाँधकर क्वाथ के साथ पानी मे डाल दें। धीमी आँच से क्वाथ को पकाये। लगभग अष्टमाश जल बचे तो क्वाथ को छान ले और मिट्ठी फेंक दे।

२ आँवले को थैली से निकाल कर कठवत् या स्टेनलेस स्टील के पात्र मे रखकर गुठली निकाल कर फेक दे और आँवले को सील पर पीस ले।

३ मशहरी के कपडे मे या झिलमिल टाट या चट्टी मे रखकर आँवले को किसी परात मे घिसे, जिससे गूदा परात मे गिरे और खुज्झा को फेंक दे।

४. कडाही मे घी डालकर आँवल के गूदे को भून लें। जब वह लाल हो जाय और कडाही मे घृत अलग हो जाय तो उतार ले।

५ क्वाथ के जल मे चीनी डालकर चासनी बनाये और भुने आँवले को उसमे डालकर सावधानी से चलाये। जब गाढा अवलेह की तरह हो जाय तो कडाही नीचे उतार दे।

६ ठडा होने पर पहले से तैयार प्रक्षेप चूर्ण को डालकर मिलाकर एकरस कर लें। पुन हल्की आँच पर गरम करे, जिससे प्रक्षेप द्रव्य मिल जाये, फिर नीचे उतार शीतल होने पर उसमे ३०० ग्राम मधु मिलाये।

इस प्रकार च्यवन ऋषि के वार्धक्य को दूर कर युवा बनाने के लिए इस च्यवनप्राशावलेह का निर्माण किया गया था।

प्रयोग-विधि—इसे १५–२० ग्राम की एक मात्रा सवेरे और एक मात्रा सायकाल १ कप सुखोष्ण दुग्ध के साथ लेना चाहिए।

इस अवलेह का सेवन रोगी के अग्निबल का विचार कर करना चाहिए। इसका सेवन कुटीप्रावेशिक विधि से करना उत्तम है।

फलश्रुति—यह अवलेह क्षीणकाय व्यक्ति के लिए रसायन है। बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण रोग (उर क्षतजन्य क्षत—Phthisis), स्त्री-सहवासजन्य क्षीणता, शोष, हृदयरोग, स्वरक्षय, स्वरभेद (Hoarseness of voice) के लिए यह सिद्ध औषध है। यह कास-श्वास, पिपासा, वातरक्त, उरोग्रह (हृदय और फुप्फुस-स्पन्दन मे रुकावट जैसी स्थिति), वातज एव पित्तज रोग, मूत्र-विकार तथा शुक्र-विकारो को नष्ट करता है।

इसके नियमित रूप से कुछ महीने सेवन करने से बुद्धि, स्मरणशक्ति, स्त्री-सम्भोगशक्ति, कान्ति और वर्ण मे निखार आता है।

वक्तव्य—च्यवनप्राशावलेह के द्रव्यो की मात्रा प्रचलित मान के अनुसार दी गई है, अत. वह ग्रन्थ के अनुसार एकदम अनुरूप नही है। अनुभव के आधार पर यत्किञ्चित् अन्तर हो सकता है, जो व्यावहारिक दृष्टि से उचित है।

ग्रन्थ के अनुसार इसमे चीनी की मात्रा देने पर स्वाद मे कषायपन प्रतीत होता है, इसलिए वैद्यो द्वारा बनाये जाने वाले च्यवनप्राश मे आंवले के वजन के बराबर चीनी डालने का रिवाज है। इसे स्वादिष्ट बनाने के लिए आंवले के वजन से डेढ गुनी या दुगुनी चीनी भी डालकर बनाया जाता है। हम आंवले के वजन से डेढ गुनी चीनी डालना उचित समझते हैं।

आजकल च्यवनप्राश को स्वादिष्ट बनाने मे बडी-बडी कम्पनियो मे होड है। सम्भवत वे ढाई गुनी चीनी डालकर बनाते होंगे। वैद्य लोग यदि ग्रन्थ पकडकर बैठे रहेंगे, तो उनके यहां का च्यवनप्राश मजबूर मरीज भले खा ले, वह सर्वसामान्य के पसन्द का नही होगा।

हरीतक्यादि रसायन

(ग्रन्थ : चरकसंहिता-चिकित्सा० १।१।७६)

१.	बडी हर्रे निर्बीज	१०० ग्राम	त्रिफला
२	आंवला निर्बीज	१०० ग्राम	त्रिफला
३	बहेडा निर्बीज	१०० ग्राम	त्रिफला
४	शालिपर्णी	१०० ग्राम	लघुपंचमूल
५	पृश्निपर्णी	१०० ग्राम	लघुपंचमूल
६	छोटी कटेरी	१०० ग्राम	लघुपंचमूल
७.	बडी कटेरी	१०० ग्राम	लघुपंचमूल
८	गोखरू	१०० ग्राम	लघुपंचमूल
९	बेल की छाल	१०० ग्राम	बृहत् पंचमूल
१०	गनियार की छाल	१०० ग्राम	बृहत् पंचमूल
११.	गम्भार की छाल	१०० ग्राम	बृहत् पंचमूल
१२.	पाढल की छाल	१०० ग्राम	बृहत् पंचमूल
१३.	सोनापाठा की छाल	१०० ग्राम	बृहत् पंचमूल
१४.	पुनर्नवा	१०० ग्राम	पुनर्नवादि पंचमूल
१५	मुद्गपर्णी	१०० ग्राम	पुनर्नवादि पंचमूल
१६	माषपर्णी	१०० ग्राम	पुनर्नवादि पंचमूल
१७	बला	१०० ग्राम	पुनर्नवादि पंचमूल
१८.	एरण्डमूल	१०० ग्राम	पुनर्नवादि पंचमूल
१९	जीवक	१०० ग्राम	जीवनीय पंचमूल
२०	ऋषभक	१०० ग्राम	जीवनीय पंचमूल
२१	मेदा	१०० ग्राम	जीवनीय पंचमूल
२२.	जीवन्ती	१०० ग्राम	जीवनीय पंचमूल
२३.	शतावर	१०० ग्राम	जीवनीय पंचमूल
२४.	मुंज	१०० ग्राम	तृण पंचमूल
२५	इक्षुमूल	१०० ग्राम	तृण पंचमूल
२६	दर्भ	१०० ग्राम	तृण पंचमूल
२७	कास (राडी)	१०० ग्राम	तृण पंचमूल
२८.	शालिधान्यमूल	१०० ग्राम	तृण पंचमूल

इन २८ द्रव्यो को उक्त मात्रा मे लेकर मोटा कूट कर आठ गुने जल (२२ किलो ४०० ग्राम) मे क्वाथ करे, जब चतुर्थांश (५ किलो ६०० ग्राम) शेष बचे तो छान ले।

विदारीकन्द का स्वरस (या क्वाथ) ५ किलो ६०० ग्राम तैयार करें। गोदुग्ध ११ किलो २०० ग्राम तथा गाय का घृत १ किलो ४०० ग्राम ले।

प्रक्षेप द्रव्य—१. पीपर, २ मुलहठी, ३ महुए का फूल, ४ काकोली, ५ क्षीरकाकोली, ६ केवांच बीज, ७. जीरा, ८ ऋषभक, ९. क्षीरविदारी—प्रत्येक ४०–४० ग्राम लेकर सील पर चटनी जैसा बारीक पीस ले, फिर विधिवत् उक्त सभी द्रव्यों को घी के साथ डालकर घृत निर्माण करें।

वक्तव्य—यह योग चरक के अनुसार है। अन्तर मात्र यह है कि चरक मे १ कुम्भ (लगभग २४ किलो) घी पकाने का विधान है, जो इस महर्घता के युग मे सभव नही है। अत मैंने चरक के अनुसार मात्रा को कम कर उचित अनुपात मे निर्माण करने की सुगम पद्धति वतलाई है। यह विधि शास्त्रानुसार ही है।

प्रयोग-विधि—इसकी मात्रा का निर्धारण प्रयोक्ता के अग्निवल के अनुसार करना चाहिए। सामान्यत १०–१५ ग्राम की एक मात्रा १ कप सुखोष्ण दुग्ध में डालकर प्रात -साय लेना चाहिए।

औपध के पच जाने पर अगहनी अथवा साठी के चावल का भात दूध-घी के साथ खाना चाहिए, वाद मे सुखोष्ण जल पीना चाहिए।

फलश्रुति—इस रसायन के सेवन से जरा, रोग, दु ख और अभिचार कर्म (मन्त्रो के प्रयोग मे हानि पहुँचना) का भय नही रह जाता है। शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिवल की अतुलनीय वृद्धि होती है, प्रत्येक कार्य मे सफलता मिलती है और पूर्णायु की प्राप्ति होती है।

विडङ्गावलेह

(ग्रन्थ : चरक० चिकित्सा० १।१।९)

वायविडग का कपडछन चूर्ण १ आढक (३ किलो०), मिश्री डेढ आढक (४½ किलो०), गोघृत दो आढक (६ किलो०), तिल का तेल दो आढक (६ किलो०), मधु दो आढक (६ किलो०)—इन सवको एकत्र मिलाकर, घृत-भावित मिट्टी के पात्र मे रखकर, मुख को ठीक से वन्द कर राख की राशि मे प्रावृड् ऋतु (आषाढ या श्रावण) मे गाड दे और वर्षा ऋतु के वाद शरद् ऋतु (कार्तिक या अगहन) मे निकालकर अग्निवल के अनुसार सेवन करे।

प्रयोग-विधि—इसे अग्निवल के अनुसार १०–१५ ग्राम की मात्रा मे सुखोष्ण गोदुग्ध से प्रात -साय सेवन करे। औपध पच जाने पर दूध-भात तथा घी का आहार करे। सात्म्य आहार-विहार का पालन करे।

फलश्रुति—इसके प्रयोग से वार्धक्य का असमय मे आक्रमण नही होता और नीरोग शतवर्ष की आयु प्राप्त होती है।

चार मेध्य रसायन

(ग्रन्थ · चरक० चिकित्सा० १।३।३०–३१)

१. मण्डूकपर्णी का स्वरस १०–१५ ग्राम १ चम्मच मधु मिलाकर प्रात-साय सेवन करना चाहिए।

२. मुलहठी का चूर्ण २–३ ग्राम, प्रात -सायं दुग्ध के अनुपान से ले ।

३ गुरुच का स्वरस १०–१५ ग्राम समभाग मधु से प्रात -साय ले ।

४. शखपुष्पी का चूर्ण ३ ग्राम प्रात -साय दुग्ध के साथ ले ।

फलश्रुति—ये चारो रसायन आयु को वढाने वाले, रोगो को नष्ट करने वाले, बल-अग्नि-वर्ण और स्वर को वढाने वाले और बुद्धि को विकसित करने वाले होते हैं। इनमे से शखपुष्पी विशेष रूप से मेधा (धारणा-शक्ति) को वढाने वाली होती हे ।

पिप्पली रसायन

(ग्रन्थ : चरक० चि० १।३।३२–३५)

रसायन गुण-प्राप्ति की कामना वाला व्यक्ति पिप्पली को पलाशक्षार जल मे भावना देकर गोघृत मे भून कर चूर्ण वना ले ।

प्रयोग-विधि—तीन पीपर के बराबर परिमाण मे पिप्पली चूर्ण लेकर मधु के साथ पूर्वाह्ण मे भोजन के पूर्व सेवन करे और इतनी ही मात्रा मे दिन के भोजन के वाद भी सेवन करे । यह प्रयोग एक वर्ष पर्यन्त करे ।

अग्निवल के अनुसार ५, ७, ८ या १० पिप्पली चूर्ण का विपम मात्रा मे मधु-घी के साथ प्रयोग करे ।

फलश्रुति—यह पिप्पली-प्रयोग उन्ही लोगो के लिए विशेप लाभकारी है, जो कास, श्वास, हिक्का, स्वरभेद, पीनस आदि से पीडित होते हैं ।

पिप्पलीवर्धमान रसायन

(ग्रन्थ : चरक० चिकित्सा० १।३।३६–४०)

इस रसायन के प्रयोग मे एक हजार (१०००) पिप्पली का सेवन किया जाता है और सहपान मे दुग्ध लिया जाता है ।

दोप और रोग का विचार कर पिप्पली का सेवन तीन प्रकार से किया जाता है, जैसे—

१ प्रवर वलशाली व्यक्ति को पिप्पली पीसकर पीना चाहिए ।

२ मध्य वल वाले को पिप्पली का क्वाथ वनाकर पीना चाहिए ।

३ हीन वल वाले को चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिए ।

जव पिप्पली पूर्णरूप से पच जाये, तो दुग्ध और गोघृत के साथ साठी (अथवा अगहनी) का चावल पकाकर खाना चाहिए ।

प्रयोग-विधि और मात्रा

शरीर-बल के अनुसार—

१. श्रेष्ठ वल वाला व्यक्ति प्रथम दिन १० पिप्पली, तत्पश्चात् दूसरे दिन से लेकर १०वे दिन तक प्रतिदिन १०–१० पिप्पली वढ़ाते हुए ले जाये तथा ११वे दिन

से १०–१० पिप्पली घटाते हुए १९वें दिन तक ले आयें। इस प्रकार वृद्धि और ह्रास क्रम से १९ दिनो मे १००० पिप्पली का प्रयोग होता है।

पिप्पली के साथ गोदुग्ध का सेवन करें। पिप्पली के साथ-साथ क्रमश दुग्ध की मात्रा प्रतिदिन ५० मि० ली० की दर से वढानी-घटानी चाहिए।

२ मध्यम वल वाला व्यक्ति प्रथम दिन ६ पिप्पली तत्पश्चात् दूसरे दिन से लेकर १३वे दिन तक प्रतिदिन ६–६ पिप्पली वढाते हुए ले जाये तथा १४वें दिन से २५वे दिन तक प्रतिदिन ६–६ पिप्पली घटाते हुए ले आये। इस प्रकार २५ दिनो मे यह चक्र पूरा होता है। इसमे वृद्धिकाल मे ५४६ और ह्रासकाल मे ४६८ पिप्पली का सेवन होता है, जिसका योग १०१४ होता है। यद्यपि यहाँ १४ पिप्पली अधिक है, किन्तु इसमे कोई आपत्ति नही है।

३. हीन वल वाला व्यक्ति प्रथम दिन ३ पिप्पली, तत्पश्चात् दूसरे दिन से लेकर १८वें दिन तक प्रतिदिन ३–३ पिप्पली वढाते हुए ले जाये तथा १९वें दिन भी अठारहवे दिन की मात्रा देकर २०वें दिन से प्रतिदिन ३–३ पिप्पली घटाते हुए ३६वे दिन तक ले आये। यह चक्र ३६ दिनो मे पूरा होता है। इस प्रकार वृद्धि-काल मे ५१३ और ह्रासकाल मे ५१३ पिप्पली का सेवन होता है, जिनका कुल योग १०२६ होता है। इसमे २६ पिप्पली का अधिक सेवन कोई हानिकर नही है।

यह परिगणन आचार्य गगाधर के मत के अनुसार है। सभी प्रयोगो मे दुग्ध की ५० मि० ली० मात्रा वढती-घटती रहेगी।

(१) दस पिप्पली की श्रेष्ठ मात्रा की सारणी

पहले दिन	१०	ग्यारहवे दिन	९०
दूसरे दिन	२०	बारहवें दिन	८०
तीसरे दिन	३०	तेरहवें दिन	७०
चौथे दिन	४०	चौदहवे दिन	६०
पाँचवें दिन	५०	पन्द्रहवे दिन	५०
छठे दिन	६०	सोलहवे दिन	४०
सातवे दिन	७०	सतरहवे दिन	३०
आठवे दिन	८०	अठारहवे दिन	२०
नवे दिन	९०	उन्नीसवे दिन	१०
दसवे दिन	१००		
	५५०		४५० = योग १०००

(२) छह पिप्पली की मध्यम मात्रा की सारणी

पहले दिन	६	चौदहवे दिन	७२
दूसरे दिन	१२	पन्द्रहवें दिन	६६
तीसरे दिन	१८	सोलहवे दिन	६०
	३६		१९८

पिछला योग—	३६		१९८
चौथे दिन	२४	सत्रहवें दिन	५४
पाँचवें दिन	३०	अठारहवें दिन	४८
छठे दिन	३६	उन्नीसवें दिन	४२
सातवें दिन	४२	बीसवें दिन	३६
आठवें दिन	४८	इक्कीसवें दिन	३०
नवें दिन	५४	बाइसवें दिन	२४
दसवें दिन	६०	तेइसवें दिन	१८
ग्यारहवें दिन	६६	चौबीसवें दिन	१२
बारहवें दिन	७२	पच्चीसवें दिन	६
तेरहवें दिन	७८		
	५४६		४६८ = योग १०१४

(३) तीन पिप्पली की दुग्ध मात्रा की सारणी

पहले दिन	३	बीसवें दिन	५१
दूसरे दिन	६	इक्कीसवें दिन	४८
तीसरे दिन	९	बाइसवें दिन	४५
चौथे दिन	१२	तेइसवें दिन	४२
पाँचवें दिन	१५	चौबीसवें दिन	३९
छठे दिन	१८	पच्चीसवें दिन	३६
सातवें दिन	२१	छब्बीसवें दिन	३३
आठवें दिन	२४	सत्ताइसवें दिन	३०
नवें दिन	२७	अट्ठाइसवें दिन	२७
दसवें दिन	३०	उन्तीसवें दिन	२४
ग्यारहवें दिन	३३	तीसवें दिन	२१
बारहवें दिन	३६	इकतीसवें दिन	१८
तेरहवें दिन	३९	बत्तीसवें दिन	१५
चौदहवें दिन	४२	तैंतीसवें दिन	१२
पन्द्रहवें दिन	४५	चौंतीसवें दिन	९
सोलहवें दिन	४८	पैंतीसवें दिन	६
सतरहवें दिन	५१	छत्तीसवें दिन	३
अट्ठारहवें दिन	५४		
उन्नीसवें दिन	५४		
	५६७		४५९ = योग १०२६

फलश्रुति—इस प्रकार पिप्पलीवर्धमान रसायन की तीन प्रयोग-विधियाँ बतलायी गई हैं, जिनका प्रयोग रोगी के बल, दोष और रोग के अनुसार करना चाहिए।

यह रसायन बृहणकारक, स्वरभेदनाशक, आयुर्वर्धक, प्लीह-विकारनाशक, उदर-रोगनाशक, वय स्थापन (आयु को स्थिर बनानेवाला) और मेधा (धारणाशक्ति) को बढाने वाला है।

त्रिफला रसायन

(ग्रन्थ चरक० चिकित्सा० १।३।४१-४२)

आयुर्वेद मे आँवला, हर्रे और बहेडा—इन तीनो को त्रिफला कहा जाता है, जिनका निम्नलिखित प्रकार से प्रयोग करने से रसायन गुण प्राप्त होता है।

रात्रि मे खाया हुआ आहार जब ठीक से पच गया हो, तब प्रात काल नित्य-कर्म से निवृत्त होकर एक बडी हर्रे (निर्बीज) का चूर्ण विषम मात्रा मे मधु-घृत मिलाकर सेवन करे। मध्याह्न भोजन के पहले दो निर्बीज बहेडे का चूर्ण मधु-घृत के साथ ले और भोजन के बाद अपराह्न मे चार निर्बीज आँवले का चूर्ण मधु-घृत मिलाकर ले।

फलश्रुति—इस प्रकार से त्रिफला रसायन का सेवन करने वाला मनुष्य रोग और वृद्धावस्था से मुक्त होकर पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

शिलाजतु रसायन

(ग्रन्थ : चरक० चिकित्सा० १।३।४८–६२; सु० चि० १३।४–१९; अष्टाङ्गहृ० चि० १२।१३ तथा उत्तर० ३९।१३१–१४३)

परिचय—ज्येष्ठ और आषाढ मास मे सूर्य की प्रखर किरणो द्वारा तपे हुए पर्वत शिलाखण्डो से लाख के समान स्वरस टपकता है, वही शिलाजीत है।

शिलाजतु देखने मे तारकोल के समान काला और गाढा द्रव होता है, जो सूखने पर चमकीला तथा भगुर हो जाता है। यह जल मे घुलनशील है, किन्तु अलकोहोल, क्लोरोफार्म या ईथर आदि मे नही घुलता है।

उत्तम शिलाजीत के लक्षण[1]

जो शिलाजीत काला, भारी, स्निग्ध, ककड या बालू के कणो से रहित और गोमूत्र गन्धी होता है, वह श्रेष्ठ है।

शुद्ध शिलाजीत की परीक्षा

जो जलते अगारे पर रखने पर धुआँ न दे और पकने पर शिखराकार ऊपर की ओर उठे, जो स्वाद मे कटु तथा तिक्त हो एव पानी मे डालने से जिसमे से पतली सूत जैसी रेखा निकले, उस शिलाजीत को शुद्ध जानना चाहिए।

प्रयोग-विधि और मात्रा

वमन-विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करने के पश्चात् ही शिलाजीत का सेवन करना चाहिए।

---

१. तेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्ध नि.शर्कर च यत्। गोमूत्रगन्धि यच्चापि तत् प्रधानं प्रचक्षते॥
—सु० चि० १३।१०

मात्रा—उत्तम बलवाले को १ ग्राम, मध्यम बलवाले को ½ ग्राम और हीनबल-वाले को ¼ ग्राम की मात्रा देनी चाहिए।

सुश्रुत ने शालसारादिगण (सु० सू० ३९।१२) के क्वाथ की भावना देकर महीन पिसे हुए शिलाजीत को शालसारादिगण के क्वाथ के साथ प्रातःकाल प्रयोग करने का विधान किया है और औषध पच जाने पर जांगल जीवों के मांसरस के साथ अन्नाहार करना बतलाया है। इस अनुपान से ३-४ माह तक शिलाजीत का प्रयोग करने से मधुमेह में लाभ होता है।

चरक ने शिलाजीत को दूध, तक्र, सिरका, मांसरस, यूष, जल या गोमूत्र में घोलकर अथवा रोग और दोष के अनुसार बनाये हुए क्वाथ में घोलकर प्रयोग करने को बतलाया है[1]।

अपथ्य और परहेज

जितने दिन तक शिलाजीत का प्रयोग करें, उसके द्विगुण काल तक व्यायाम, धूप, तेज हवा, मन सन्ताप, गुरु तथा विदाही अन्न का परित्याग करें एवं कबूतर के मांस का तथा काकमाची और कुलथी का जीवनपर्यन्त परित्याग करें[2]।

लौह शिलाजतु : श्रेष्ठ रसायन

परिचय—जो शिलाजीत गुग्गुलु के समान कान्तिवाला, रस में लवणरसयुक्त तिक्तरसवाला, विपाक में कटु एवं वीर्य में शीत होता है, वह स्वर्ण शिलाजीत, रजत शिलाजीत और ताम्र शिलाजीत से श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न लौह शिलाजीत होता है।

रसायनार्थ प्रयोग के लिए लौह शिलाजीत अधिक लाभकारी होता है, क्योंकि सुवर्ण, रजत एवं ताम्र शिलाजीत क्रमशः वातपित्त, श्लेष्मपित्त और कफ के विकारों में लाभकर होते हैं, जब कि लौह शिलाजीत वातज, पित्तज और कफज इन तीनों विकारों में लाभप्रद होता है। इसलिए इसे सर्वश्रेष्ठ शिलाजीत माना गया है।

फलश्रुति—शिलाजीत के सेवन से प्रमेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, गर (कृत्रिम) विषदोष, शोष, शोथ, अर्श, गुल्म, पाण्डु और विषमज्वर नष्ट होते हैं। यह दीर्घकाल से उत्पन्न शर्करा तथा अश्मरी का भेदन करता है।

इसे जिस रोग में प्रयुक्त करना हो, उस रोग को नष्ट करनेवाली औषधों से भावना दें और तत्तद् रोगघ्न औषधों के क्वाथ में घोलकर प्रयोग करें[3]।

चरक ने कहा है कि भूमि पर ऐसा कोई भी साध्य रोग नहीं है, जिसे उचित समय पर उचित योगों के साथ विधिपूर्वक किया गया शिलाजीत का प्रयोग हठात्

१. पयांसि तक्राणि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्॥ —च० चि० १।३।६४

२. कुलत्थान् काकमाची च कपोतांश्च सदा त्यजेत्। —अ० हृ० उ० ३९।१४२

३. भावनालोडने चास्य कर्तव्ये भेषजैर्हितैः। —सु० चि० १।३।२७

न नष्ट कर दे। स्वस्थ व्यक्ति विधिपूर्वक शिलाजीत के प्रयोग से उत्तम बल प्राप्त करता है[1]।

वक्तव्य—१. शिलाजीत का प्रयोग करते समय प्रधान रूप से दुग्धाहार करना चाहिए।

२ **चरक** ने शिलाजीत का ३ प्रकार का प्रयोग बतलाया है—लगातार सात सप्ताह तक शिलाजीत का प्रयोग करना **उत्तम** है, लगातार तीन सप्ताह तक प्रयोग करना **मध्यम** है, और लगातार एक सप्ताह तक प्रयोग करना **अवर** है[2]।

३ **सुश्रुत** (सु० चि० १३।१२-१७) तथा **वाग्भट** (अ० हृ० चि० १२।३३) ने मधुमेह के रोगी के लिए एक तुला (४ किलो ६७० ग्राम) शिलाजीत का सेवन बतलाया है और कहा है कि अमृततुल्य शिलाजीत की १ तुला (१०० पल= ४ किलो ६७० ग्राम) सेवन करने पर रोगी मधुमेह से मुक्त होकर कान्तिमान् और बलवान् बनता है तथा अजर-अमर (देवता) की भाँति सौ वर्ष की पूर्ण आयु तक जीवित रहता है।

एक-एक तुला शिलाजीत का सेवन करने पर आयु के सौ-सौ वर्ष की वृद्धि तथा दश तुला का सेवन करने पर एक सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त होती है[3]।

सम्प्रति यह उक्ति अतिरञ्जित है और व्यवहार-वाह्य है। शास्त्र मे जो तीन प्रकार की मात्रा निर्दिष्ट है वह भी हजारो वर्ष पुरानी है और इस युग के मनुष्य की क्षमता के बहुत दूर है। १ पल (४८ ग्राम) की प्रवर मात्रा, ½ पल (२४ ग्राम) की मध्यम और ¼ पल (१२ ग्राम) की अवर मात्रा कही गयी है,[4] जो वर्तमान मे सर्वथा असङ्गत है। अधुना स्वविवेकानुसार ½ ग्राम से १ ग्राम तक की मात्रा ग्राह्य है।

बलामूल रसायन

(ग्रन्थ : सुश्रुत० चि० २७।१०)

उपयुक्त गृह मे निवास करते हुए बरियार के मूल का चूर्ण १० ग्राम (शास्त्र मे २ कर्ष=२४ ग्राम) को दूध (३०० मि० ली०) मे घोलकर प्रात-साय पीना चाहिए और औषध के पच जाने पर दूध, घृत और भात खाना चाहिए। इस प्रकार बारह दिन प्रयोग करने से बारह वर्ष और सौ दिन प्रयोग करने से सौ वर्ष की आयु स्थिर होती है। इसी प्रकार अतिबला का प्रयोग जल के साथ, नागबला

---

१. न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूप· शिलाह्वय य न जयेत् प्रसह्य।
तत्कालयोगैर्विधिभि· प्रयुक्त स्वस्थस्य चोर्जा विपुलां ददाति॥ —च० चि० १।३।६५

२. प्रयोग· सप्तसप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तक·। —च० चि० १।३।५४

३. उपयुज्य तुलामेव गिरिजादमृतोपमात्। वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निमः। शत शत तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः। —सु० चि० १३।१२-१४

४. पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा स्मृता। —च० चि० १।३।५५

का मधु के साथ और विदारीकन्द तथा शतावरी चूर्ण का प्रयोग दूध के साथ करना चाहिए।

फलश्रुति—इनके प्रयोग से बल की प्राप्ति होती है और शोष, रक्तपित्त, रक्त-वमन एव विरेचन होने मे लाभ होता है।

वाराहीकन्द रसायन

(ग्रन्थ : सुश्रुत० चि० १३।११)

वाराहीकन्द के मूल का एक तुला (४ किलो ६७० ग्राम) चूर्ण बनाये और उसमे से १० ग्राम की एक मात्रा मधु मिलाकर दूध मे घोलकर सवेरे-शाम पीना चाहिए। औपध के पच जाने पर दूध-घी के साथ भात खाना चाहिए।

फलश्रुति—इसका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति सौ वर्ष की आयु और स्त्री-सभोग मे दीर्घकाल तक शुक्र-क्षरण न होने की शक्ति प्राप्त करता है।

उक्त चूर्ण को आठ गुने दुग्ध और दूध से चौगुने जल मे दुग्धावशेष पाक कर दही जमाकर फिर मथकर घी निकालकर १०-१५ ग्राम लेकर आधी मात्रा मे मधु मिलाकर प्रात -साय सेवन करे। औषध के पच जाने पर दुग्ध-घृत के साथ भात का भोजन करे। इस प्रकार एक मास तक सेवन करने से सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है।

ब्राह्मीघृत रसायन

(ग्रन्थ : सुश्रुत चि० २८।६)

ब्राह्मीस्वरस	२ प्रस्थ	(१ किलो ५३६ ग्राम)
घृत	१ प्रस्थ	(७६८ ग्राम)
प्रक्षेप द्रव्य—		
भूसीरहित विडङ्ग चूर्ण	१ कुडव	(१९२ ग्राम)
वच चूर्ण	२ पल	(९६ ग्राम)
गुडूचीचूर्ण	२ पल	(९६ ग्राम)
आंवला चूर्ण	४ पल	(१९२ ग्राम)
हर्रा चूर्ण	४ पल	(१९२ ग्राम)
बहेडा चूर्ण	४ पल	(१९२ ग्राम)

निर्माण-विधि—सभी प्रक्षेप द्रव्यो का महीन चूर्ण बनाकर चटनी की तरह पीसकर घृत मे डालें और ब्राह्मी स्वरस डालकर घृतपाक कर लें।

वक्तव्य—इस घृत के योग मे कल्क की मात्रा १ किलो ५३६ ग्राम बतलायी गयी है, जब कि उसकी मात्रा ¼ प्रस्थ (१९२ ग्राम) होनी चाहिए और ब्राह्मी-स्वरस अकेला द्रव है, तो उसे भी ४ प्रस्थ (३ किलो) होना चाहिए। इसलिए इस योग मे निम्नलिखित प्रकार से मात्रा का निश्चय कर घृतपाक करे—

घृत	१ प्रस्थ	(७६८ ग्राम)
ब्राह्मीस्वरस	४ ,,	(३ किलो)
प्रक्षेप कल्क	¼ ,,	(१९२ ग्राम)—कुल द्रव्य मिलकर।

प्रयोग—रोगी के बल के अनुसार १०-२० ग्राम की एक मात्रा २०० मि० ली० दूध मे मिलाकर सुखोष्ण प्रतिदिन प्रात नित्यकर्म के पश्चात् पीना चाहिए। औषध का पाचन हो जाने पर दुग्ध-घृत मे साथ भात खाना चाहिए।

फलश्रुति—इसके सेवन से ऊपर, नीचे एव मध्य शरीर मे कृमि निकलते हैं। मेधा बढती है। आयु स्थिर होती है और तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है। कुष्ठ, विषम ज्वर, अपस्मार, उन्माद, विष, भूतबाधा एव अन्य महारोगो मे इस सशोधन का उपदेश किया जाता है।

वचा रसायन

(ग्रन्थ : सुश्रुत० चि० २८।७)

वमन-विरेचन आदि से शरीर का शोधन कर सुरक्षित सुविधायुक्त प्रशस्त गृह मे निवास करते हुए वचा का सेवन करे।

हवन आदि करके आँवले (देशी) के बराबर पिसे हुए श्वेत वचा चूर्ण को दूध मे घोलकर पीना चाहिए। प्रात -साय यह प्रयोग करें और औषध के पच जाने पर दूध-घृत के साथ भात का भोजन करे।

१ इस प्रकार १२ दिन प्रयोग करना चाहिए। इससे औषध-सेवनकर्ता की श्रवण-शक्ति बढती है।

२. पुन १२ दिन औषध-सेवन से स्मरण-शक्ति बढती है।

३ पुन १२ दिन औषध लेने से धारणा-शक्ति बढती है।

४ पुन १२ दिन औषध-प्रयोग से सम्पूर्ण पापो से मुक्ति होती है। गरुड के समान दृष्टि तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है।

इसी प्रकार लालरग की वचा को २० ग्राम लेकर १ लीटर जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ कर दूध के साथ सेवन करे। औषध के पच जाने पर दुग्ध-घृत के साथ भात खायें। इससे भी स्मृति, मेधा एव आयु बढती है।

मेधावर्धक वचादि योग

(ग्रन्थ : सुश्रुत० चि० २८।१७)

वचाचूर्ण २ ग्राम, बिल्वमज्जाचूर्ण २ ग्राम और स्वर्णभस्म १०० मि० ग्रा० घृत के साथ प्रात -साय सेवन करने से आरोग्य, बुद्धि एव आयु की वृद्धि होती है। शरीर पुष्ट और शोभायुक्त होता है।

बुद्धि-मेधावर्धक गण

(ग्रन्थ : सुश्रुत० चि० २८।२७)

निरन्तर अध्ययन, वाद (स्वपक्षसाधन, परपक्षबाधन) अन्य विविध शास्त्रो का

अवलोकन तथा उन-उन शास्त्रों के जानने वाले आचार्यों की सेवा करना, ये आचरण, बुद्धि और मेधा (धारणाशक्ति) को बढाते है[1] ।

ब्राह्म रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उत्तर० ३९।१५-२३)

	बडी हर्रे १००० (सख्या मे)	
	आंवला ३००० (सख्या मे)	
(१) महत्पञ्चमूल	बेल की छाल	४८० ग्राम
	गम्भार की छाल	,,
	गनियार की छाल	,,
	पाढल की छाल	,,
	सोनापाठा की छाल	,,
(२) लघुपञ्चमूल	शालिपर्णी	,,
	पृश्निपर्णी	,,
	छोटी कटेरी	,,
	वडी कटेरी	,,
	गोखरू	,,
(३) मध्य पञ्चमूल	वला	,,
	पुनर्नवा	,,
	एरण्डमूल	,,
	मापपर्णी	,,
	मुद्गपर्णी	,,
(४) जीवन पञ्चमूल	शतावर	,,
	मेदा	,,
	जीवन्ती	,,
	जीवक	,,
	ऋपभक	,,
(५) तृण पञ्चमूल	दर्भ (कुश) की जड	,,
	कास (राडी) की जड	,,
	ईख की जड	,,
	शर (सरपत) की जड	,,
	अगहनी धान की जड	,,
	जल	१२० लीटर

---

१. सतताध्ययन वाद· परतन्त्रावलोकनम् । तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गणः ॥

—सु० चि० २८।२७

प्रक्षेप द्रव्य—

दालचीनी	सूक्ष्म चूर्ण	१९२ ग्राम
बडी इलायची	,,	,,
नागरमोथा	,,	,,
हल्दी	,,	,,
पिप्पली	,,	,,
अगुरु	,,	,,
लालचन्दन	,,	,,
ब्राह्मी	,,	,,
असली नागकेशर	,,	,,
शखपुष्पी	,,	,,
वालवच	,,	,,
सुगन्धी (केवटीमोथा)	,,	,,
मुलहठी	,,	,,
वायविडग	,,	,,
चीनी	५२ किलो ८०० ग्राम	
घृत	९ किलो	
तिल-तैल	६ किलो	
मधु	७ किलो ६८० ग्राम	

निर्माण-विधि—१ विशाल कडाहे मे पाँचो पञ्चमूल की भूसे की तरह कूटी हुई औषधे १२० लीटर जल मे पकायें और एक थैली मे हर्रे तथा एक थैली मे आँवले को बाँधकर उस जल मे डाले। जब दशमाश जल बचे तो क्वाथ को छान लें। हर्रे और आँवले की गुठलियाँ निकालकर फेंक दे और उन दोनो को सील पर पीसकर मोटी चट्टी मे छानकर सिट्ठी या खुज्झा निकालकर फेंक दे।

फिर कडाहे को साफकर उसमे ७-८ लीटर घृत डालकर हर्रे और आँवले के गूदे को भूनकर लाल करे। जब कडाहे मे घी अलग होने लगे तो फिर उसमे क्वाथ, तिल-तैल एव चीनी डालकर अच्छी तरह पाक कर ले। तैयार होने पर कहाडे को चूल्हे से उतार ले। जब मन्दोष्ण रहे तब प्रक्षेप द्रव्यो का चूर्ण डालकर अच्छी तरह मिलाकर सबको एकरस कर ले। तैयार होने पर घृतस्निग्ध चीनी मिट्टी के जारो मे सुरक्षित रख ले।

प्रयोग—इसे रोगी के अग्निबल के अनुसार १५-२० ग्राम की मात्रा मे प्रात -साय १ प्याला दूध के साथ सेवन करे। औषध के पच जाने पर साठी या अगहनी चावल के भात को दूध के साथ भोजन मे ले।

वाग्भट ने कहा है कि ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट इस रसायन के सेवन से वैखानस, वालखिल्य एव अन्य तपस्वी जन तन्द्रा, श्रम, ग्लानि, वली, पलित तथा रोगो से

मुक्त होकर मेधा, स्मृति एवं बल से युक्त होकर दीर्घ आयु को प्राप्त किया। यह रसायन परमश्रेष्ठ और धन्य है।

सोमराजी रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उ० ३९।१०७-१०)

१ सोमराजी (बाकुची) में विजयसार और खैर की लकड़ी के क्वाथ की तीन-तीन भावना देकर, हलका कूटकर छिलका उतार कर उसका बारीक चूर्ण बना लें।

प्रयोग—सोमराजी का चूर्ण १ ग्राम, चित्रकमूल त्वक् चूर्ण ½ ग्राम, हरीतकी चूर्ण २ ग्राम, लौह भस्म १२५ मि० ग्रा०, मधु १ चम्मच और आधा चम्मच गोघृत मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल एक वर्ष तक सेवन करें।

औषध पच जाने पर दुग्ध-घृत के साथ भात या रोटी का अल्पाहार ग्रहण करें।

फलश्रुति—इसके सेवन से समय के पूर्व बुढ़ापा और तज्जनित रोग नष्ट होते हैं।

२. इसी प्रकार नियमित आहार-विहार करते हुए सोमराजी चूर्ण २० ग्राम और कालातिल २० ग्राम चबाकर एक वर्ष तक खाने से शरीर चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक कान्तियुक्त हो जाता है अर्थात् उसका कुष्ठरोग नष्ट हो जाता है[1]।

३ जो व्यक्ति भूसी रहित सोमराजी चूर्ण को दूध में पकाकर, दही जमाकर, मथकर घृत निकालकर उसमें मधु मिलाकर चाटकर ऊपर से उसके तक्र को पीते हैं, वे कुष्ठरोग से मुक्त हो जाते हैं और उनकी अँगुलियाँ तथा नासिका पुनः उसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है, जैसे कटे हुए वृक्ष में पुनः नूतन पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं।

आमलक रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उ० ३९।१४९)

पथ्य आहार करते हुए आँवलों के २० मि० ली० स्वरस में मधु १ चम्मच, घृत २ चम्मच और चीनी १ चम्मच मिलाकर प्रतिदिन सेवन करते रहने से जराजनित विकार नष्ट हो जाते हैं।

धात्र्यादि रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उ० ३९।१५०)

आमलक चूर्ण २ ग्राम, विडंग चूर्ण १ ग्राम, विजयसार चूर्ण १ ग्राम और लौह भस्म १२० मि० ग्रा० लेकर तिल-तैल आधा चम्मच, घृत आधा चम्मच और

---

१. तीव्रेण कुष्ठेन परीतमूर्तिर्यः सोमराजीं नियमेन खादेत्।
सवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजीं वपुषाऽतिशेते॥ —अ० हृ० उ० ३९।१०८

मधु १ चम्मच मिलाकर प्रतिदिन प्रात काल खाते रहने से शरीर मे तरुणता और कान्ति बनी रहती है ।

शतावरी रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उ० ३९।१५७)

जो मनुष्य शतावर के कल्क और क्वाथ डालकर पकाये गये घी मे चीनी मिलाकर (दूध मे डालकर) पीते रहते हैं, उन्हे जीवन-मार्ग मे चलते समय रोग रूपी चोर नही लूट सकते ।

तिल रसायन

(ग्रन्थ : अष्टाङ्गहृ० उ० ३९।१५९)

जो मनुष्य २५—३० ग्राम काला तिल प्रतिदिन चबाकर शीतल जल पीते हैं, उनका शरीर सुदृढ होता है और दाँत जीवन भर दृढ बने रहते है[1] ।

भृङ्गराजादि चूर्ण[2]

(ग्रन्थभैषज्यरत्नावली-रसायनाधिकार)

भॉगरे के पञ्चाङ्ग का चूर्ण ६ ग्राम, कालातिल चूर्ण ३ ग्राम तथा आमलक चूर्ण ३ ग्राम लेकर उसमे १२ ग्राम चीनी मिलाकर प्रात -साय नियमित रूप से शीतल जल से सेवन करे ।

फलश्रुति—इसके सेवन करने वाले व्यक्ति को बुढापा नही सताता और उसे (असमय) मृत्यु का भय नही होता है । भैषज्यरत्नावलीकार ने इस योग की प्रशसा मे बडी ही अतिरजित अतिशयोक्ति की है[3] ।

उपद्रव की त्वरित चिकित्सा[4]

यदि रसायन योगो के सेवन काल मे किसी प्रकार के अपथ्य के सेवन से अथवा समुचित आहार-विहार एव आचार का नियमपूर्वक पालन न करने से उपद्रव-स्वरूप कोई रोग उत्पन्न हो जाये, तो रसायन-औषध का प्रयोग रोक कर, पहले उन उपद्रव वाले रोगो की रोगानुसार समुचित चिकित्सा करे और उपद्रव के शान्त हो जाने पर पुन रसायन का सेवन कराये ।

---

१ दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्च समश्नता शीतजलानुपानम् ।
पोष शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढीभवन्त्यामरणाच्च दन्ता ॥ —अ० हृ० उ० ३९।१५९

२. श्लक्ष्णीकृत भृङ्गराजस्य चूर्ण तिलार्धक चामलकार्धकञ्च ।
सशर्कर भक्षयतो गुडैर्वा न तस्य रोगा न जरा न मृत्यु ॥ —भै० र० रसा०

३. मूक- पश्येत्, गमनरहितो मत्तमातङ्गगामी, मूको वाग्मी, श्रवणरहितो दूरशब्दानुसारी ।
नीरुड् मर्त्यो भवति, पलितो नीलजीमूतकेशो जीर्णा दन्ता पुनरपि नवा- क्षीरगौरा भवन्ति ॥ —भै० र० रसाय०

४. रसायनविधिभ्रशाज्जायेरन् व्याधयो यदि । यथास्वमौषधं तेषा कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥ —अ० हृ० उ० ३९।१७८

परिपूर्ण रसायन का लक्षण[1]

आयुर्वेदशास्त्र मे बतलाये गये ऋतुचर्या, दिनचर्या, रात्रिचर्या तथा स्वस्थवृत्त के नियमो के अनुसार आहार-विहार एव आचरण किये जाते हो, पार्श्ववर्ती पुत्र-पौत्र-भ्रातृ-बन्धु-सुहृद् एव भार्या और भृत्य चित्तवृत्ति जानने वाले, तदनुसार कार्य करने वाले तथा विनम्रतापूर्वक आज्ञा का पालन करने वाले हो और अपने कार्य-व्यवसाय मे प्रज्ञापराध या बुद्धि का विघात न हो, रोजी-रोजगार मे मनस्तोष हो, तो यह समझना चाहिए कि पूर्णरूपेण रसायन का सेवन हो रहा है।

यदि व्यक्ति के मानस मे सन्तोष का भाव हो, तो उसे देवेन्द्र के नन्दनवन मे विहार की आनन्दानुभूति होती है। जिसकी तृष्णा विशाल होती है, वह अपार सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी दरिद्र होता है और इसके विपरीत जब मन मे सन्तोष आ जाता है तो दरिद्रता उससे कोसो दूर भाग जाती है—

'स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र'।

रसायनयोगो का उपसहार

सहिता-ग्रन्थो मे तथा सग्रह-ग्रन्थो मे रसायन के ऐसे-ऐसे योग हैं, जो इस महार्घता के युग मे नही बनाये जा सकते या उनकी औषधे दुर्लभ हो गयी हैं अथवा उनका निर्माण करना अशक्य है। अत यहाँ उनका वर्णन नही किया गया है, अपि तु जिनका निर्माण किया जा सकता है और जो सफल योग है तथा समय के अनुरूप प्रयोग-योग्य हैं और जो आस्था एव विश्वास के अनुसार कार्यकारी है, उन्ही योगो का वर्णन किया गया है। ऐसे योगो को भी छोड दिया गया है, जिनकी प्रशसा अतिशयोक्तिपूर्ण है और उनके कथित गुणो की उपलब्धि सन्दिग्ध है।

कुटीप्रावेशिक कल्पविधि

(ग्रन्थ : चरक० चि० १।४।२७)

(Management in Indoor Section of Hospital)

कुटीप्रावेशिक रसायन-योग्य व्यक्ति

जो व्यक्ति सभी साधन एकत्रित करने मे समर्थ हो, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से रोगरहित हो, बुद्धिमान हो, अपनी आत्मा को अपने वश मे रखने मे समर्थ हो एव चञ्चलचित्त न हो, उसके पास समय की कमी न हो अर्थात् फुर्सत मे हो, जो जीवनोपयोगी साधनो से सम्पन्न हो, ऐसे व्यक्तियो को कुटीप्रवेश कराकर रसायन का सेवन कराना हितकर होता है।

कुटी-निर्माण प्रकार और स्थान

जिस स्थान मे पुण्यात्मा पुरुष रहते हो, जहाँ राजा, वैद्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय,

१. शास्त्रानुसारिणी चर्या चित्तज्ञा पार्श्ववर्तिन'। बुद्धिरस्खलिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ॥
—अ० हृ० उ० ३९।१८२

वैश्य और सज्जन लोगो का निवास हो, जो स्थान भयरहित और उत्तम हो, जहाँ जीवनोपयोगी सभी सामग्री सुलभ हो, ऐसी आवादी के पूर्व-उत्तर दिशा मे कुटी का निर्माण कराना चाहिए।

कुटी की लम्बाई-चौडाई और ऊँचाई उपयुक्त हो, जो कम से कम १२×१२×१२ फुट हो। कुटी त्रिगर्भा हो अर्थात् प्रथम कुटी के भीतर दूसरी कुटी और उसके भीतर पुन तीसरी कुटी वनी हो, दीवारें मोटी हो, रोशनदान छोटे-छोटे हो, सभी ऋतुओ मे सुखकर हो, सभी कार्यों के लिए अलग-अलग स्थान वने हो, मनोरम हो, अनुचित-व्यर्थ-अशिष्ट शव्द न सुनाई दे, वहाँ स्त्रियाँ न प्रवेश करें, आवश्यक उपकरण सुसज्जित रखे हो, वैद्य, औषध और ब्राह्मण सर्वदा उपस्थित रहे, ऐसे स्थान मे उपर्युक्त गुण-सम्पन्न कुटी का निर्माण कराये।

वक्तव्य—कुटी मे ऐसे वातायन वने हो, जिनसे खुली और स्वच्छ वायु का प्रवेश हो सकता हो। यह लम्वाई-चौडाई और ऊँचाई मे विस्तृत हो। कुटी का द्वार पूरव या उत्तर दिशा मे हो, तथा उसके आस-पास शमी, विल्व या वट आदि क्षीरी वृक्ष हो।

कुटीप्रवेश का पूर्व कर्म

जब कुटीप्रवेश कर रसायन-सेवन का निश्चय हो जाये, तो रसायन-सेवी व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने वाल वनवा ले, नख कटवा ले, निर्धारित अवधि तक कुटी मे निवास करने का धीरज रखे, पालनीय नियमो को स्मरण रखे, रसायन-सेवन के कल्याणकारक होने के प्रति आशावान्, श्रद्धावान् एव विश्वस्त रहे। मन से रजोगुण और तमोगुण के भावो का परित्याग कर, ईर्ष्या-द्वेष-मद-मान-मोह आदि को छोडकर मन को सात्त्विक भावो से भरे, प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करे, मानवीय उदात्त गुणो का वरण करे और ज्ञानयोग की उपासना से मन को निर्मल वना ले।

कुटी मे प्रवेश करने के पूर्व अपने ग्रामदेव, कुलदेव, इष्टदेव आदि की तथा ब्राह्मणो एव गोमाता की पूजा-प्रदक्षिणा और दान-स्वस्त्ययन सम्पन्न कर ले।

कुटी में प्रवेश करने का काल और विधि

वास्तुविद्या-कुशल व्यक्ति उस कुटी मे अलग-अलग कार्यों के लिए पृथक्-पृथक् कक्ष बनवाये। औषध तैयार करने के उपकरण (सील-वट्टा, इमामदस्ता, खरल) रखने के स्थान, आग जलाने का स्थान, पानी की टकी, स्नानागार, भोजनालय, शयनागार, विश्रामकक्ष आदि उचित स्थान पर वने हो। शील-सदाचारवान् चतुर परिचारको, चिकित्सा सहायको तथा पञ्चकर्म और रसायन-प्रयोग के विशेषज्ञ चिकित्सको की नियुक्ति और शोधन तथा रसायन-औषधो एव उपकरणो की पूरी

५१、 कर ली गयी हो, तव कुटी मे प्रवेश करना चाहिए।

जब सूर्य उत्तरायण[1] हो, तो कुटी मे प्रवेश करे।

---

१. एक सवत्सर या वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं। इनमे से शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म, इन तीन ऋतुओं मे सूर्य उत्तर दिशा मे गमन करता है, अत. इन्हे उत्तरायण तथा वर्षा-शरद् हेमन्त मे सूर्य दक्षिण में जाता है, अत इन्हे दक्षिणायन कहते है।

शुक्लपक्ष मे जब उत्तम तिथि, उत्तम नक्षत्र, शुभमुहूर्त और उत्तम करण का योग हो, तब देवता, विप्र, गौ और वैद्य का पूजन कर उनसे अनुज्ञा लेकर कुटी मे प्रवेश करे।

कुटी में संयमपूर्वक निवास

शरीर के अङ्गो विशेषकर मल-मार्गों की स्वच्छता के प्रति सावधान रहे। उत्साह-सम्पन्न, निर्भय, जितेन्द्रिय, दयात्मा, धार्मिक, आस्तिक और शान्तिमय जीवन बनायें। अधारणीय वेगो का धारण न करें और धारणीय अप्रशस्त मानसिक-वाचनिक एव शारीरिक वेगो का धारण करना चाहिए। नियम भग न करें, निर्धारित समय पर सभी कार्यों को करें, आलस्य न करें, क्रोध-हर्ष-दैन्य का भाव न आने दे और मन मे यह विश्वास रखे कि मेरे शुभकर्म का मनोनुकूल शुभफल अवश्य मिलेगा। इस प्रकार श्रद्धा, आशा, विश्वास तथा धैर्यपूर्वक कुटी का जीवन सन्तोषप्रद बनायें।

कुटी मे आवश्यक चर्या-संशोधन

कुटी मे प्रवेश करने के बाद सशोधन औषधो मे (वमन-विरेचन-निरूह और नस्य का प्रयोग कराकर) शरीर का शोधन हो जाने के बाद जब शरीर मे कोई कष्ट न रह जाय और शरीर मे पूर्ण बल हो जाये, तब रसायन का सेवन करना चाहिए।

संशोधन-हरीतक्यादि चूर्ण

हरीतकी-फलमज्जा, सेंधा नमक, आँवला निर्बीज, मीठा वच, वायविडग, हल्दी, पीपर, सोठ—इन सबको समभाग मे लेकर सबके समान शर्करा मिलाकर रख ले। इसमे से १०-१५ ग्राम औषध गरम जल से खिलायें। इसके पूर्व स्नेहन-स्वेदन कर ले।

[यह चूर्ण कोई विशेष विरेचनकारक नही है। यदि इससे उदर-शुद्धि न हो, तो अन्य चूर्ण (नारायणचूर्ण-नाराचरस-इच्छाभेदी) आदि का प्रयोग करना चाहिए, जिससे अभीष्ट सशोधन हो जाये।]

जब आवश्यक सशोधन (वमन-विरेचन आदि) द्वारा शरीर शुद्ध हो जाये, तो पेया-विलेपी आदि ससर्जनक्रम का पूर्णरूप से पालन कर ले। एवञ्च हीन शुद्धिवाले को तीन दिन तक, मध्यशुद्धिवाले को पाँच दिन तक और उत्तम शुद्धिवाले व्यक्ति को सात दिन तक घृत से सस्कृत पुराने जौ की यवागू खाने के लिए दे अथवा जब तक पुराने मल की शुद्धि न हो जाये, तब तक उसको यवागू का सेवन कराते रहे।

रसायन औषध की मात्रा का निर्धारण

सशोधन के प्रयोग से शरीर को शुद्ध करके रसायन-सेवी व्यक्ति के बाल, युवा या प्रौढ वय के अनुसार तथा उसकी वातज-पित्तज-कफज-द्वन्द्वज या सन्निपातज प्रकृति एव उसकी सात्म्यता (अनुकूलता) का विचार कर, जिस व्यक्ति के लिए

जो रसायन उपयुक्त प्रतीत हो, उस रसायन का उस व्यक्ति की शक्ति के अनुसार अल्प, मध्यम या श्रेष्ठ मात्रा मे (औषध का) प्रयोग करना चाहिए।

किसी भी रसायन औषध की सर्व व्यक्तियो के लिए उपयोगी मात्रा का निश्चय नही किया जा सकता, अपितु देश, काल, द्रव्य, जठराग्नि, शरीर-बल और आयु आदि का विचार कर उस व्यक्ति के लिए जो मात्रा उपयुक्त हो, उतनी मात्रा मे औषध देनी चाहिए। प्राचीन ग्रन्थो मे बहुतेरी औषधो की जो मात्रा बतलायी गयी है, वह आज के मनुष्य के लिए उपयुक्त नही है। चिकित्सक स्वविवेकानुसार उन-उन औषधो की मात्रा का ½ अथवा जितनी मात्रा समुचित समझे, उतनी मात्रा मे प्रयोग करे। वैद्य को अपनी बुद्धि और प्रतिभा से तर्क और ज्ञान के आधार पर शास्त्र मे कथित औषधो या उनकी मात्रा की गुणवत्ता का विवेचन करके ही प्रयोग करना चाहिए[1]।

जैसे—संग्रहणी रोग मे जब मल बँधा हुआ हो, तो रोगी के बलवर्धन तथा रोग-निर्मूलन के लिए रसायन औषधो का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति मे **प्रातः-सायं—सुवर्णपर्पटी १२० मि० ग्रा०/१ मात्रा च्यवनप्राशावलेह या दाडिमावलेह के साथ दें** और १ घण्टे बाद गाय का धारोष्ण दुग्ध उचित मात्रा मे दे। च्यवनप्राश की मात्रा ५ ग्राम से आरम्भ कर धीरे-धीरे २०–२५ ग्राम तक बढायें।

रोगी को अन्न पच रहा हो तो मूँग या मसूर का यूष, दलिया, खिचडी, साबूदाना आदि हलके आहार थोडी-थोडी मात्रा मे दे। भोजन के २ घण्टे बाद मध्याह्न और रात्रि मे **जातीफलादि चूर्ण १ ग्राम तथा प्रवालपिष्टी २५० मि० ग्रा०/१ मात्रा मधु से दें।**

कुटी मे प्रवेश कर रसायन-सेवन और आवश्यक चर्या

पूर्वोक्त गुण-सम्पन्न कुटी मे प्रवेश करने के पूर्व शारीरिक और मानसिक रूप से सर्वात्मना विशुद्ध होना चाहिए। रसायन-सेवन के फल के प्रति पूर्ण आस्था, श्रद्धा, विश्वास और रसायनाचार्य के आदेश के अनुपालन मे पूर्णतः सावधान होना चाहिए।

किसी भी रसायन का प्रयोग प्रारम्भ मे अल्प मात्रा मे करना चाहिए। जैसे च्यवनप्राश का प्रयोग करना हो तो उसे ५ ग्राम से शुरू करे और प्रतिदिन १–२ ग्राम की मात्रा बढाते हुए २०–२५ ग्राम तक ले जायें। फिर उसी मात्रा पर स्थिर रहकर आचार्य के निर्देशानुसार १ माह या ४०–५० दिन तक रसायन औषध का सेवन करते रहे।

इसी प्रकार रसायन औषध की सौम्यता या उग्रता के अनुसार उसकी अल्पीयसी मात्रा से शुरुआत करनी चाहिए और जितनी अधिकतम मात्रा रोगी को सह्य हो, उतने पर पहुँचकर आगे नही बढानी चाहिए। फिर ४–६ सप्ताह-पर्यन्त लगातार सेवन करते रहना चाहिए।

---

१. न चैकान्तेन निर्दिष्टे शास्त्रे निविशते बुध। स्वयमप्यत्र भिषजा तर्कणीय यथामति॥

रसायन-सेवनकाल मे औषध के अनुसार पथ्याहार की व्यवस्था करनी चाहिए। जैसे—किसी-किसी औषध के सेवनकाल मे केवल दुग्धाहार बतलाया गया है, जैसे—

चतुर्थ आमलक रसायन (च० चि० १।१।७५) की सेवन-विधि मे कहा गया है, कि 'इसमे दही, घृत, मधु, तिलकल्क, तिल का तैल और चीनी मिलाकर, इसका सेवन कुटीप्रावेशिक विधि से करे।'

'इसके सेवनकाल मे अन्न का सेवन न करे।' इस कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि क्षुधा लगने पर दुग्ध दिया जाय और फलो का सेवन कराया जाय। प्रारम्भ मे औषध की अल्प मात्रा दे और दुग्ध भी भूख के अनुसार दे। औपध की मात्रा धीरे-धीरे बढाये और शक्ति-सञ्चय तथा क्षुधा के अनुसार दुग्ध या फलाहार की मात्रा बढाये।

जिन अन्य रसायन औषधो के प्रयोगकाल मे अन्नाहार का विधान है, उनके प्रयोग मे घृतयुक्त शालि (अगहनी) या साठी चावल का भात और दूध खाने को कहा गया है। तदनुसार भूख के अनुसार आहार दे। कोई-कोई रसायन केवल प्रात. काल खाया जाता है, जो शाम तक पचता है, उनके सेवनकाल मे केवल रात्रि मे ही भोजन करना चाहिए तथा जो रसायन प्रात -साय दो बार खाया जाता है, वह भी जब पच जाये तभी भोजन करना चाहिए।

कुटीरसायन सेवन-विधि के अनुसार 'आचाररसायन' का पालन करते हुए दिनचर्या एव रात्रिचर्या का निर्वाह करे।

कुटी से बाहर निकलकर एवं रसायन-सेवनकाल के बाद प्राकृत आहार-विहार सेवन का नियम

अधिकाशत रसायनो के सेवनकाल मे 'आचाररसायन' का अनुपालन करना रसायन-सेवी के लिए अत्यावश्यक कर्त्तव्य है। पथ्याहार मे शालि (अगहनी) या साठी का चावल घृत-दुग्ध एव मूँग के यूष का प्रयोग बतलाया गया है।

कुछ ऐसे भी रसायन है, जिनके प्रयोगकाल मे केवल दुग्धाहार[1] का निर्देश है। ऐसे रसायनो का सेवनकाल जब समाप्त हो जाये, तो रसायन-सेवी को सहसा अन्न नही खिलाना चाहिए, अपि तु उन्हे सशोधनकर्म के पश्चात् जैसे ससर्जनक्रम[2] से पथ्य दिया जाता हे अथवा सग्रहणी मे दुग्धकल्प के बाद जैसे पथ्य दिया जाता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे लघुतम, लघुतर और लघु पथ्य देते हुए अन्नाहार कराना चाहिए। उदाहरणस्वरूप—

रसायन-सेवन का समय समाप्त हो जाने पर पहले दिन लाजमण्ड (धान के खील १०–१५ ग्राम को २५० ग्राम जल मे पकाकर मिश्री और छोटी लाइची का

१. अथामलकहरीतकीनामामलकविभीतकाना पलसहस्रमुलूखले सम्पेष्य भक्षयेदनन्नभुग्यथोक्तेन विधिना। —च० चि० १।१।७५

२. पेया विलेपीमकृत कृतञ्च यूष रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥ ——च० सि० १।११

चूर्ण डालकर) पिलाये। दूसरे दिन वही १० ग्राम अधिक लेकर लाजपेया (गाढा द्रव बनाकर मिश्री-इलायची डालकर) पिलाये। तीसरे दिन पुराने अगहनी चावल ५० ग्राम की विलेपी और चौथे दिन १०० ग्राम चावल की पतली खीर, पाँचवे दिन १५० ग्राम चावल की खीर और छठे दिन २०० ग्राम चावल का भात घी-दूध के साथ या मूँग-अरहर की दाल एव नीबू-आदी-सब्जी के साथ दे। सातवे दिन अग्निबल के अनुसार २५० ग्राम चावल का भात मूँग या अरहर की दाल एव मनपसन्द सब्जी के साथ दे।

अन्नाहार की मात्रा ज्यो-ज्यो बढती जाय, उस अनुपात से दूध की मात्रा घटानी चाहिए। जब अन्नाहार से पूरी भूख भर क्षुधा की तृप्ति होने लग जाय, तो दूध की मात्रा सामान्य कर दे। रोगी की रुचि के अनुसार गेहूँ की रोटी, दाल, नीबू-अदरक और साग-सब्जी दे। दाल को जीरा-हीग डालकर घी से छौक दे। रुचि के अनुसार शाकाहार या जागल जीवो का मासरस दे।

इस प्रकार मात्र दुग्ध पर निर्भर रहने वाले रसायन-सेवी को रसायन-सेवन-काल के समाप्त होने पर क्रमिक रूप से अन्नाहार देना चाहिए।

जिन रसायनो के सेवनकाल मे शालि या साठी चावल का भात घी-दूध के साथ खाने को कहा गया है, उनके सेवनकाल की अवधि समाप्त होने पर रसायन-सेवनकाल से द्विगुण काल तक यवागू या घी के साथ शालि या साठी चावल का भात दूध अथवा मूँग की दाल के साथ खाना चाहिए। आहार-विहार मे रोगी की मनोऽनुकूलता और इच्छा का सम्मान करना चाहिए। इस अवधि मे जौ के आटे मे घी मिलाकर उबटन या मालिश की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि यह न पसन्द आये, तो नारायण तैल, हिमसागर तैल या शुद्ध सर्षप तैल का अभ्यङ्ग करे[1]।

भल्लातकक्षीर रसायन

(ग्रन्थ : चरक० चि० १।२।१३)

इसके प्रयोगकाल मे घृत-मिश्रित शालि या साठी के चावल का भात खाने का विधान बतलाया गया है। साथ ही यह भी निर्देश है, कि जितने दिनो तक इस रसायन का सेवन किया जाय, उसके द्विगुण दिनो तक दूध के साथ ही अन्नाहार करना चाहिए—दूध-भात या दूध-रोटी खानी चाहिए।

भल्लातकक्षीर रसायन के प्रयोग से वृद्धावस्था रहित १०० वर्ष की आयु प्राप्त होती है[2]।

---

१. तस्यान्ते यवाग्वादिभि· प्रत्यवस्थानम्, अभ्यङ्गोत्सादन सर्पिषा यवचूर्णैश्च, अयश्च सायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावत् प्रयोगकालाद् द्विगुणकालम्। द्विस्तावदग्निवलमभिसमीक्ष्य, प्रतिभोजन यूषेण पयसा वा षष्टिक· ससर्पिष्क, अतः परं यथासुखविहार· कामभक्ष्यः स्यात्।

—च० च० १।१।७५

२. प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोग.। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचार.। तत्प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति।

—च० चि० १।२।११

निष्कर्ष यह कि किसी भी रसायन के सेवनकाल के दूने समय तक लगभग रसायन-सेवन की भाँति ही संयम, नियम, आचार और पथ्य का पालन अनिवार्य रूप से करना ही चाहिए[1]। तत्पश्चात् प्राकृत आहार-विहार की छूट और यथेष्ट विचरण की अनुज्ञा होनी चाहिए। परन्तु रसायन-सेवन के पूर्ण फल-प्राप्ति की अभिलाषा रखनेवाले को 'आचाररसायन' के पालन से विमुख नही होना चाहिए। जो व्यक्ति शारीर एव मानस दोषो को विना दूर किये रसायन का सेवन करते है, वे रसायन-सेवन का पूर्ण लाभ नही ले पाते है। अत जितेन्द्रिय होकर मन के विकारो को दूर कर ही रसायन-सेवन करना चाहिए[2]।

कुटीप्रावेशिक रसायन का विशेष फल

कुटीप्रवेश की विधि मे रसायन का सेवन करने से धारणाशक्ति वढती है, स्मरणशक्ति तीव्र होती है, शरीर की कान्ति और सुन्दरता मे अभिवृद्धि होती है, आरोग्यमय जीवन होता है, आयु दीर्घ होती है, इन्द्रियो का वल वढता है, स्त्री-सम्भोग की शक्ति मे वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रवल होती है, वर्ण मे निखार आता है और वायु का अनुलोमन होता है।

च्यवनप्राश रसायन[3] का एक अति विशिष्ट फल यह वतलाया गया है कि कुटी-प्रवेश-विधि से इसका प्रयोग किया जाय तो वृद्ध पुरुष भी अपनी वृद्धता के लक्षणो का त्याग कर नवयुवा का रूप धारण कर लेता है। इसके ही प्रयोग से वृद्ध च्यवन ऋषि पुन युवा वन गये थे।

कुटी-विधि से रसायन का प्रयोग अचिन्त्य एव अद्भुत प्रभावशाली होता है। यह आरोग्यकर, वय स्थापक, निद्रा-तन्द्रा-श्रम-क्लम-आलस्य और दौर्वल्य को दूर करनेवाला, वात-पित्त-कफ साम्यकर, स्थैर्यकर, जठराग्नि-सन्धुक्षणकारक, प्रभा-वर्ण-स्वर का उत्कर्षकारक और शरीर को स्थिर तथा सुसगठित वनाता है[4]।

प्राचीनकाल मे कुटीप्रवेश-विधि से रसायन-सेवी महर्षिगण वृद्धावस्था, रोग, दौर्वल्य और मृत्यु पर विजय पाकर हजारो वर्ष की आयु का उपभोग करते थे[5]।

इस प्रयोग से केवल दीर्घ आयु की ही प्राप्ति नही होती है, अपि तु रसायन का विधिपूर्वक प्रयोग करनेवाला देवता एव ऋषियो से सेवित होकर उत्तम गति को प्राप्त करता है और अन्त मे उसे मोक्ष मिलता है[6]।

---

1. प्रयोगान्ते ततो द्विगुण काल यवागूयूषक्षीरघृतषष्टिकान्नमाहारोऽभ्यञ्जन सर्पिरुद्वर्तन यवचूर्णमिति। —वृद्धवाग्भट

2. योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिवर्हणा। मन शरीरशुद्धानां सिद्ध्यन्ति प्रयतात्मनाम्॥ —च० चि० १।४।३७

3. रसायनस्यास्य नर प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृत रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूप नवयौवनस्य॥ —च० चि० १।१।७४

4. प्राणकामीयरसायन: —च० चि० १।२।३

5. च० चि० १।१।७९।

6. न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षयम्॥ —च० चि० १।१।८०

वातातपिक रसायन

जिस रसायन का सेवन खुली हवा और धूप के सम्पर्क मे रहकर भी किया जा सकता है, उसे 'वातातपिक रसायन' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'सौर्यमारुतिक' है।

वातातपिक रसायन-योग्य व्यक्ति और काल

जो अजितेन्द्रिय, आलसी, दरिद्र, प्रमादी, व्यसनी, पापकर्मा और औषध का अपमान करनेवाला न हो, 'आचाररसायन' (च० चि० १।४।३०-३५) का पालनकर्ता हो, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से शुद्ध हो, अति चञ्चलचित्त न हो, बहुत साधन-सम्पन्न न हो, जो निश्चिन्त होकर नियत समय तक एक स्थान मे नही रह सकते हो, जो प्रतिबन्धित जीवन विताने के अभ्यस्त न हो, जिन्हे भाग-दौड करनी पडती हो, ऐसे अल्प नियमो के नियन्त्रण मे रहनेवाले स्वतन्त्र प्रवृत्ति के लोगो को वातातपिक रसायन का सेवन कराना चाहिए।

जो व्यक्ति उक्त गुणो से सम्पन्न होने पर भी अतिश्रम, साहस, अब्रह्मचर्य, अपथ्य, अनाचार, पाप आदि असद्गुणो का सेवन न करते हो, वे 'वातातपिक रसायन' के योग्य होते हैं।

काल—रसायन-सेवन का उचित समय बाल्यकाल, युवावस्था और प्रौढावस्था है। वाग्भट ने कहा है—

'पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्य जितात्मन ।
स्निग्धस्य स्रुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा' ॥ (अ० हृ० उ० ३९।३)

वातातपिक रसायन-विधि

जिस रसायन का प्रयोग करना हो, उसका उचित मात्रा, अनुपान और पथ्य के साथ निर्धारित अवधि तक सेवन करना चाहिए और उससे दूने समय तक यथासम्भव सयम-नियम-पथ्य-परहेज का पालन करते रहना चाहिए। सामान्यतया जो पथ्य आदि जिस रसायन मे विहित है, उनका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिए। इसमे छूट बस इतनी है कि घर मे प्रतिबन्धित जीवन नही बिताना है।

रसायनप्रयोग-सिद्ध्यर्थ आवश्यक भाव

वमन-विरेचन आदि के प्रयोग से शरीर का सशोधन[1] करना, मनोविकारो को दूर करना, जितेन्द्रियता, आचाररसायन[2] का पालन, उचित समय पर सत्य-हित-मित-मधुर भाषण, अक्रोध, प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव, करुणा, यम-नियम-आसन-प्राणायाम परायणता, शौच-सन्तोष-तप -स्वाध्याय सलग्नता, क्षमाशीलता, वश्यात्मता, सर्वभूतकल्याण कामना, पापकर्म परित्याग, कायिक-वाचिक-मानसिक मिथ्यायोग

---

१. योगा ह्यायु प्रकर्षार्था जरारोगनिवर्हणा. । मन.शरीरशुद्धानां सिद्ध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥ —च० चि० १।४।३७

२. च० चि० १।४।३०-३५ ।

वैराग्य, परार्थ मे स्वार्थभाव, गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्य समागम आदि भावो के होने से रसायन-सेवन का समुचित फल प्राप्त होता है।

अम्लरस, लवणरस, कटुरस, क्षार, शुष्क शाक, शुष्क मास, तिलकल्क, तण्डुलचूर्ण, विरुद्धाहार, असात्म्य आहार, रूक्षान्न, क्षार-प्रधान भोजन, अभिष्यन्दी भोजन, बासी भोजन, विषमाशन, अध्यशन, दिवाशयन, अतिमैथुन, नित्य मदिरा-सेवन, अतिश्रम और साहसिक कर्मो के करने के अभ्यास का परित्याग करने से ही रसायन-सेवन का फल प्राप्त होता है।

भय-क्रोध-शोक-लोभ-मोह और अतिश्रम से शारीर तथा मानस दोषो का प्रकोप होता है, जिससे मासपेशी-शैथिल्य, सन्धिच्युति, विदाह आदि उपद्रव होते है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति शारीरिक एव मानसिक दौर्बल्य और असमर्थता का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति मे रसायन-प्रयोग सफल नही होते हैं[1]।

अत अहितकर आहार-विहारो का परित्याग कर तथा हितकर आहार-विहार, सद्वृत्त एव 'आचाररसायन' का पालन करते हुए रसायन का सेवन करना चाहिए।

---

१. च० चि० १।२।३।

दशम अध्याय

जीवतिक्ति, खाद्योज या विटामिन

परिचय

'जिन आहारीय पदार्थों के यथोचित मात्रा मे भोजन मे रहने से हमारा स्वास्थ्य उत्तम रहता है और जिनके न रहने अथवा कम रहने से हमारे स्वास्थ्य का ह्रास होता है एव रोगक्षमता की हानि होती है, उन्हे जीवतिक्ति, खाद्योज या विटामिन कहते है।'

जीवतिक्तियों का रसायनकर्म में महत्त्व

जीवतिक्तियाँ (Vitamines) प्रोभूजिन (Protein), वसा (Fat) एव शर्करा (Glucose) आदि के पाचन, प्रचूषण तथा सात्म्यीकरण आदि मे सहायता करके आयु के अनुसार उचित प्रमाण मे शारीर धातुओ का विकास या सवर्धन करती है। ये स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाती है और शरीर को अनेक प्रकार के रोगो से सुरक्षित रखती है। इनकी अनुपस्थिति से शरीर सहज ही अनेक रोगो से आक्रान्त हो जाता है और इनकी हीनता से बहुत से विकार उत्पन्न हो जाते है।

आयुर्वेद मे रसायन की जो परिभाषा दी गयी है, यथा—'युवावस्था को अधिक समय तक बनाये रखने के उपाय, धारणाशक्ति और बल की वृद्धि करने के उपाय एव शरीर की स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्ति (Natural immunity) की वृद्धि के तरीको का जहाँ वर्णन हो, उसे रसायनतन्त्र[1] कहते है।' (सुश्रुत)॥ 'उत्तम गुणो से युक्त रस-रक्तादि धातुओ एव द्रव्याश्रित रस-वीर्य-विपाक आदि के लाभ के विशिष्ट उपाय को रसायन[2] कहते है।' (चरक)॥ 'जरा या वार्धक्य और व्याधि को दूर करनेवाले औपध को रसायन[3] जानना चाहिए।' (शाड्र्गधर)—वह जीवतिक्तियो के गुण-धर्मानुसार है और उनका शरीर के प्रति वही उपकार है, जो रसायन-सेवन से प्राप्त होता है। एवञ्च जीवतिक्तियो का रसायन से साधर्म्य होने के कारण उनका वही कार्य है, जो रसायन द्रव्यो का होता है। वैज्ञानिको की मान्यता है, कि जीवतिक्तियो की कार्यप्रणाली रासायनिक योगवाही (Catalytic agents) द्रव्यो के समान है। अन्य विद्वान् इनके कार्य को एञ्जाइम (Enzyme) सदृश मानते है। ये दोनो ही कार्य रसायन द्रव्यो द्वारा सम्पादित

---

१. रसायनतन्त्र नाम वय.स्थापनमायुर्मेधाबलकर रोगापहरणसमर्थञ्च।

—सु० सू० १।१५ एव डल्हण-टीका।

२. लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम्। —च० चि० १।१।८

३ यज्जराव्याधिविध्वसि भेषज तद् रसायनम्। —शार्ङ्गधरसहिता

होते है, अत जीवतिक्तियो की रसायनकर्म मे निकटतम साझेदारी है। यह विद्वज्जन-समादृत तथ्य है।

रसायन-गुणो की उपलब्धि के लिए एव शरीर के सभी अङ्गो को ठीक-ठीक काम करने की अवस्था मे रखने के लिए जीवतिक्तियो का उपयोग आवश्यक है। इनके अभाव या न्यूनता मे हमारा शरीर अनेक रोगो से आक्रान्त हो जाता है। यदि हमे अधिक समय तक भोजन मे जीवतिक्तियाँ न मिले, तो शरीर रोगी हो जाता है। सन्तुलित, पौष्टिक और जीवतिक्ति युक्त आहार शरीर को सबल बनाता है।

जीवतिक्तियाँ (या विटामिन्स) हमे पशुओ और पौधो से प्राप्त होती हैं। जैसे—गाय घास चरती या खाती है, किन्तु उसके दूध मे हमे सभी जीवतिक्तियाँ मिलती है। **सूर्यकिरणो का भी जीवतिक्तियो के निर्माण मे महान् योगदान है।** जो गाय जितनी ही हरी घास खाती है और जितना ही अधिक धूप मे रहती है, उसके दूध मे उतनी ही अधिक जीवतिक्तिया पायी जाती है।

अनेक प्राणियो के दूध या यकृत् आदि अगो मे प्राप्त होनेवाली जीवतिक्तियाँ भी घासो या पत्तियो के आहार से ही उत्पन्न होती हैं। मछलियो मे भी समुद्री वनस्पतियो के आहार से ही उनके यकृत् मे पर्याप्त मात्रा मे जीवतिक्तियो का सञ्चय होता है।

एवञ्च जीवतिक्तियो की उत्पत्ति के आदिम स्रोत वनस्पतियाँ हैं। जो शाक कच्चे खाये जा सकते हैं (जैसे– गोभी, टमाटर, बैगन, लौकी, गाजर, मूली, आँवला आदि) उन्हे कच्चा ही चबा-खा जाना चाहिए। जिनको पकाने की आवश्यकता हो, उन्हें उबालकर या भाप से पकाकर खाना चाहिए। यदि उन्हे १०० शताश के ताप पर पकाया जाय तो उन पदार्थों मे वृद्धिकारक शक्ति बनी रहेगी और इससे अधिक ताप पर जीवतिक्तियाँ नष्ट हो जायेगी।

नैसर्गिक आहार (जो बिना तले या बिना अधिक ताप दिये पकाये जाते है) का पर्याप्त मात्रा मे सेवन करनेवाला व्यक्ति जीवतिक्ति अभावजन्य रोगो से ग्रस्त नही होता है। भोज्य पदार्थों मे जीवतिक्तियो का उचित परिणाम मे रहना शरीर की समृद्धि एव स्वास्थ्य और रोगनिवारणार्थ आवश्यक है। हमारे स्वास्थ्य की हानि होने अथवा शरीर मे अनेकानेक रोगो की उत्पत्ति होने की सम्भावना से इनकार नही किया जा सकता। इसलिए स्वस्थ बने रहने तथा नीरोग रहने के लिए भोजन मे जीवतिक्तियो की उपस्थिति आवश्यक है।

किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियो मे जीवतिक्तियो का अधिक प्रयोग अत्यावश्यक हो जाता है। जैसे—

१ वर्धमानावस्था—बाल्यकाल मे शरीर-सवर्धनार्थ।

२ युवावस्था मे परिश्रम के अनुरूप।

३ वृद्धावस्था मे प्रचूषण या सात्म्यीकरण की कमी तथा चिन्ता आदि के कारण दैनिक आवश्यकता से अधिक जीवतिक्ति की आवश्यकता होती है।

४. सगर्भावस्था और स्तन्यपान के समय।

५ जब शारीरिक एव मानसिक श्रम अधिक किया जाता हो।

६. रुग्णावस्था, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, आन्त्रिक ज्वर, अतिसार आदि दीर्घकालानुबन्धी रोगो मे।

जीवतिक्तियो के महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए दैनिक जीवन मे और विशिष्ट परिस्थितियो मे इनका समुचित उपयोग अवश्यमेव करना चाहिए।

जीवतिक्तियाँ रसायन-कर्म[१] सम्पादित करती है, क्योकि इनका गुण-कर्म रसायन द्रव्यो के ही समान है। रसायन द्रव्यो की तरह ही ये शरीर-सवर्धन, स्वास्थ्य-सवर्धन, आयुष्य-सरक्षण और रोगनिरोध करती हैं। ये शरीर के बाह्य एव आभ्यन्तर स्तरो की दृढता (Resistance of epithalial tissues) एव पुष्टता-कारक है। ये अवस्थानुसार शरीर के अग-प्रत्यङ्गो की वृद्धि तथा विकास मे सहायक है। इनके ही कारण त्वचा मे स्निग्धता और मृदुता आती है।

इस प्रकार जीवतिक्तियो का रसायन-कर्म मे विशिष्ट महत्त्व है। इनके सेवन से रसायन-सेवन के फलो के समान फल की प्राप्ति होती है। इनके सेवन का वही महत्त्व है, जो रसायन द्रव्यो के सेवन का महत्त्व है। अतः दोनो के नाम अलग-अलग है, किन्तु दोनो की कार्य-पद्धति समान होने से यह तथ्य पूर्णत. स्पष्ट है कि रसायन-कर्म मे जीवतिक्तियो का महान् श्लाघ्य योगदान है।

जीवतिक्ति-हीनता या अभावजनक कारण

(क) **अल्पोपयोग**—

(१) **अर्थाभाव**—साधनविहीनता या अर्थाभाव के कारण सन्तुलित आहार न मिलने से रूखा-सूखा बिना शाक-सब्जी एव फल-दूध के भोजन करना।

(२) **भोजन-लोलुपता एवं उपेक्षा**—धनी-मानी लोग सब साधन होते हुए भी सन्तुलित आहार नही करते। वे भोजन को चटकार और स्वादिष्ट बनाने के लिए तेल-घी मे छने, तले, पकाये, भुने और तेज नमक-मिर्च-मसालेदार पदार्थो का प्रयोग करते हैं। हलुवा-पूडी-पराठा आदि के शौकीन होते है। प्रमादवश हरी सब्जी, ताजे फल, गोदुग्ध, मक्खन आदि का सेवन न करने के कारण वे जीवतिक्तियो की हीनता से प्रभावित हो जाते हैं।

---

१. दीर्घमायु. स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुण वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीना रसायनम्॥
—च० चि० १।१।७८

× ×

अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणा चेष्टतमा बभूवु., स्थिरसमसुविभक्तगात्राः, सुसंहतस्थिरशरीराः, सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः, सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः क्लेशसहाश्च।
—च० चि० १।२।३

(३) **महास्रोतस् के रोग**—प्रवाहिका, अतिसार, ग्रहणी, आन्त्रशोथ आदि रोगो से ग्रस्त रोगियो मे जीवतिक्तियों का आचूषण नही हो पाता है। यकृत् विकार तथा कामला के कारण भी आन्त्र मे पित्ताभाव होने से जीवतिक्तियो का आचूषण नही होता है।

(४) **अति मद्यपान**—अधिक मदिरापान से आमाशय-क्षोभ और यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis of the liver) होने के कारण शरीर मे जीवतिक्ति 'बी' तथा 'के' की अत्यधिक कमी हो जाती है।

(५) **दन्तपात**—दाँतो के निकल जाने पर उनके अभाव मे आहार का उचित चर्वण नही हो पाता, जिससे आहारगत जीवतिक्तियो का शोषण नही हो पाता।

(६) **कर्षण-चिकित्सा**—अतिस्थौल्यजन्य व्याधियो मे एव मधुमेह मे कर्षण-कारक भोजन तथा क्षारयुक्त पदार्थों के प्रयोग से जीवतिक्तियो का नाश या उनका अल्प प्रयोग होने से जीवतिक्तियो की हीनता हो जाती है।

(ख) **अल्प आचूषण**—

(७) **छर्दि या वमन** (Vomiting)—ऐसा देखा जाता है कि गर्भ-धारण के पहले तीन-चार महीनो मे कई स्त्रियो को लगातार वमन होता रहता है।

आमाशय द्वार अथवा अन्त्र मे अवरोध या व्रण आदि होने पर अधिक समय तक वमन होता रहता है।

बच्चो मे भी कभी-कभी अजीर्ण के कारण बार-बार वमन की प्रवृत्ति हो जाती है। इन पूर्वोक्त हेतुओ से जीवतिक्तियो का प्रचूषण न हो पाने से उनकी हीनता हो जाती है।

(८) विरेचनकारक औषधो के अधिक प्रयोग एव दीर्घकालीन प्रवाहिका रोग के कारण जीवतिक्तियों के पाचन एव उनके प्रचूषण मे व्यवधान उपस्थित होता है।

जीवतिक्तियों के भेद

१. 'ए' (A) या एण्टीरिकेटिक (Antiricketic)।
२ 'बी'१ (B_1) या थायमिन (Thiamine)।
३ बी२ (B_2) या राइबोफ्लेविन (Riboflavine)।
४ बी२ बी७ (B_2 B_7) या निकोटिनिक एसिड (Nicotinic acid)।
५ बी३ (B_3) या पैण्टोथेनिक एसिड (Pantothenic acid)।
६ बी४ (B_4) या एमाइनो एसिड (Amino acid)।
७ बी६ (B_6) या पाइरिडॉक्सिन (Pyridoxine)।
८ बी१२ (B_{12}) या रुब्रामिन (Rubramine)।
९ फोलिक एसिड (Folic acid)।
१० कोलीन (Choline)।

११ पा-बा या पारा एमाइनो-बेन्जोइक एसिड (Para amino benzoic acid)।

१२ सी (C) या एस्कार्बिक एसिड (Ascarbic acid)।

१३. डी (D) या कैल्सीफेराल (Calciferal)।

१४. ई (E)।

१५ पी (P)।

१६ एच (H)।

१७ के (K)।

जीवतिक्ति हीनताजनित विकार और उनकी चिकित्सा

जीवतिक्ति 'ए'

(Vitamin 'A')

यह स्वास्थ्यवर्धक तथा रोगक्षमता शक्तिवर्धक है। यह शरीर का विकास करता है एव आयु को वढाता है तथा क्षुधा और पाचनशक्ति को तीव्र बनाता है।

बाल्यावस्था मे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सवर्धनार्थ, अस्थियो की दृढता, दन्तोद्गम, सुदन्तता और नेत्रो मे प्रकाशग्रहण-सामर्थ्य की उपलब्धि के लिए इसका सेवन नितान्त आवश्यक है। यह प्राणियो के यकृत् मे अधिक परिमाण मे प्राप्त होता है।

जीवतिक्ति 'ए' की हीनता से जनित रोग

१ आहार मे जीवतिक्ति 'ए' की कमी, २. यकृत् की विकृति और ३ आन्त्र मे पित्त की कमी—इन तीनो कारणो से जीवतिक्ति 'ए' के हीनतामूलक रोग होते हैं।

अल्प अश मे इसकी कमी होने से त्वचा मे रूक्षता, शुष्कता, नक्तान्धता (रतौंधी) तथा अगो की अपूर्ण वृद्धि होती है।

अधिक अंश मे कमी होने से शुष्काक्षिपाक, त्वचा की अधिक रूक्षता, क्षीणता, विस्फोट एव विदारण आदि विकार होते है। बालको मे इसकी कमी होने से अस्थियाँ टेढी एव नरम पड जाती है। वच्चे रोगी हो जाते हैं। उन्हे नेत्ररोग तथा फुप्फुस के रोग हो जाते हैं। क्षुधानाश, स्वरभग, अजीर्ण, प्रवाहिका आदि रोग हो जाते हैं।

युवको मे इसकी कमी से क्षय, खाँसी, न्यूमोनिया, ब्राँकाइटिस आदि फुप्फुस के रोग तथा अतिसार, ग्रहणी, जलोदर, नेत्रशोथ, रात्र्यन्धता आदि रोग हो जाते हैं।

चिकित्सा

जीवतिक्ति 'ए' की हीनता से उत्पन्न रोगो मे औषध के रूप मे पित्तयोगो (Bile salts) का व्यवहार आवश्यक हो जाता है। आत्ययिक स्थिति मे मुखमार्ग मे इसका प्रयोग उपयोगी न होने पर पेशीमार्ग से सूचीवेध द्वारा प्रयोग किया जा सकता है।

योग—कॉड (१ ड्राम मे २०० से १३०० एकक), शार्क (१ ड्राम मे ६००० एकक), हैलिवट लीवर आयल (१ बूँद मे ६०० से १२०० एकक), गाजर (२५० ग्राम मे २००० एकक)।

हमारे शरीर को २००० आई० यू० के लगभग जीवतिक्ति 'ए' की आवश्यकता होती है। इसकी आपूर्ति 'ए' प्रधान द्रव्य, यथा—दूध, मक्खन, मलाई, अण्डा, कॉड या शार्क के तेलो के प्रयोग से करनी चाहिए।

यह जीवतिक्ति 'ए' विशेषकर हरी सब्जियो (गाजर, पातगोभी, फूलगोभी, टमाटर, शाक, कद्दू, प्याज, हरी मिर्च, नीबू आदि), हरी घासो, हरी पत्तियो, समुद्र की काई, ताजे फलो (आम, केला, सेव, सन्तरा, अगूर), सूखे मेवे (बादाम, अखरोट आदि), दूध, दही, मक्खन, मलाई, लस्सी, अण्डे की जर्दी, भेड-बकरी के यकृत्, मछली के तेल (Cod liver oil) कॉड और हैलिवट जाति की मछली के यकृत् मे पाया जाना है।

जीवतिक्ति बी$_1$ या थियामीन (Thiamine)
हीनताजन्य रोग और चिकित्सा

आर्थिक दृष्टि से दुर्बल वर्ग के लोगो का आहार-विहार असन्तुलित होता है और उन्हे शारीरिक तथा मानसिक श्रम भी अधिक करना पडता है, जिसके परिणामस्वरूप उनमे जीवतिक्ति बी$_1$ के अभावजन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

इसकी कमी से जब कार्वोज का समवर्त पूर्ण रूप से नही होता तथा रक्त मे पायरुबिक अम्ल (Pyrubic acid) एव लैक्टिक अम्ल (Lactic acid) का अधिक सचय हो जाता है, तो अम्लविषमयता के समान अवसादकारक लक्षण उत्पन्न हो जाते है। वातनाडी कोषो पर विषाक्त प्रभाव होता है, जिससे वातवलासक (Beri-beri), परिसरीय वातनाडीशोथ (Peripheral neuritis) तथा रक्तवह सस्थान-सम्बन्धी विकार (Cardiovascular manifestation) उत्पन्न होते हैं।

वात-सस्थान, हृदय और मस्तिक जो अहर्निश कार्य करते है, उन्हे इस जीवतिक्ति की अधिक आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति शरीर या मन का श्रम अधिक करते है एव जो लोग धातुक्षय अथवा मधुमेह के रोगी होते है, उन्हे भी जीवतिक्त बी$_1$ की अधिक आवश्यकता होती है।

इस जीवतिक्ति की कमी होने पर शरीर दुर्बल, क्षीण और शिथिल हो जाता है। शरीर के भार, वल एव क्षुधा का ह्रास हो जाता है। पाचन-सस्थान विकृत होने से अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण एव विबन्ध हो जाता है। मासपेशियो मे उद्वेष्टन (ऐठन), वेदना और दाह होने लगता है। नाडीशोथ के कारण अनेक प्रकार की पीडा, क्षोभ और अगो मे शिथिलता होती है।

शरीर मे इस जीवतिक्ति के अभाव की स्थिति मे पाण्डुरोग और शोथ हो जाता है। हृदय तथा मस्तिष्क की निर्बलता से अवसाद, अकारण भय, अतत्त्वाभिनिवेश,

चित्तवैक्लव्य, आलस्य, उत्साहहीनता, भ्रम, मानसमन्दता एव स्पर्शज्ञान-शून्यता आदि विकार उत्पन्न हो जाते हे ।

चिकित्सा

जिन पदार्थों मे जीवतिक्ति बी$_1$ की अधिक मात्रा होती है, उनका यथोचित रूप से सेवन कराना चाहिए। जैसे—हरी सब्जी, पालक, करमकल्ला, मटर, टमाटर एव गाजर आदि, ताजे फल, सूखे मेवे—बादाम, अखरोट, पिस्ता, गेहूँ का चोकर, चावल, दाल का छिलका, दूध, दही अण्डे की जर्दी, यकृत् आदि का सुविधानुसार प्रयोग करे। रोगानुसार औषध का प्रयोग करने मे सावधान रहने से जीवतिक्ति बी$_1$ की हीनता से उत्पन्न रोग शान्त हो जाते हैं। पुरुष अधिक श्रम करते है, इसलिए उन्हे इनकी दैनिक आवश्यकता अधिक होती है ।

मात्रा—युवा व्यक्तियो की दैनिक आवश्यकता २ मि० ग्रा०, कार्वोज प्रधान आहार होने पर ४ मि० ग्रा०, शारीरिक या मानसिक श्रम अधिक करनेवालो को ५ मि० ग्रा०, गर्भवती स्त्रियों को ५ मि० ग्रा० और चिकित्सा की दृष्टि से १०–१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन या तीसरे दिन ।

आवश्यकतानुसार मुखमार्ग से अथवा अधस्त्वगीय या पेशीमार्ग से। आत्ययिक स्थिति मे शिरा द्वारा भी प्रवेश कराया जा सकता है ।

जीवतिक्ति बी$_2$ या राइबोफ्लेविन (Riboflevin) हीनताजन्य रोग और चिकित्सा

यह जीवतिक्ति आन्त्र द्वारा सहज ही प्रचूषित हो जाता है। शरीर मे इसका सचय नही होता और मूत्र द्वारा उत्सर्जन हो जाता है। शरीर को इसकी मुख्य आवश्यकता तीन प्रयोजनो से है—१ कार्बोज का प्रचूषण, २. कोषागत प्रजागरण (Cellular oxidation) और ३ दृष्टिमण्डल (Retina) मे रञ्जक कणो का सन्तुलन कायम रखना ।

इस जीवतिक्ति की हीनता होने पर कार्वोज का यथावत् प्रचूषण न होने से शरीर मे शक्ति का ह्रास होने से श्रमसाध्य कार्यों मे अकर्मण्यता, शिथिलता और थकावट होती हे। नेत्रकलाशोथ, नेत्रदाह, अश्रुस्राव एव वर्त्म मे कण्डू होती है। नेत्रो मे रूक्षता, प्रकाशासहिष्णुता तथा पोथकी जैसे लक्षण होते है। त्वचा मे शोथ और खुजली, मुखपाक, जिह्वाशोथ, ओष्ठ म फटन तथा शरीर के वजन मे कमी हो जाती है ।

चिकित्सा

जिन वस्तुओ मे जीवतिक्ति बी$_2$ की प्रचुरता होती है, उनका अधिकाश प्रयोग करना चाहिए। जैसे—हरे पालक आदि शाकों मे, ताजे सेव, सन्तरा आदि फलो मे, गाजर, टमाटर, हरे मटर, गेहूँ के भ्रूण, दूध, अण्डा, मछली एव यकृत् आदि मे यह पर्याप्त मात्रा मे मिलता है ।

दैनिक आवश्यकता—

सामान्य युवावस्था	३ मि० ग्रा० प्रतिदिन
पूर्ण मात्रा	२ मि० ग्रा० ,,
गर्भिणी	३ मि० ग्रा० ,,
स्तन्यपानकाल	३ मि० ग्रा० ,,

चिकित्सोपयोगी मात्रा ५० मि० ग्रा० दैनिक रूप से मुख अथवा पेशीमार्ग से। परिस्थिति विशेष मे सिरामार्ग से भी दिया जा सकता है।

बी$_2$ या बी$_7$ या निकोटिनिक एसिड (Nicotinic acid)
हीनताजन्य रोग और उनकी चिकित्सा

यह जीवतिक्ति श्वेतवर्ण, उष्णजल तथा अलकोहल मे विलेय है। इसका आन्त्र द्वारा पूर्णरूप से प्रचूषण हो जाता है एव आवश्यकता से अधिक मात्रा का यकृत् मे सचय होता है। स्वस्थावस्था मे कार्वोज तथा प्रोभूजिन्स के समवर्त के लिए इसकी दैनिक आवश्यकता होती है।

हीनताजन्य रोग—इसके अभाव से मनोविभ्रम, व्यग्रता, वेचैनी, असहिष्णुता, प्रलाप तथा उन्माद जैसी स्थिति हो जाती है। त्वचा मे चकत्ते या दाह अथवा रक्तस्रावी स्फोट हो जाते है। पाचन-क्रिया दुर्वल हो जाती है। मुख-विरसता, अरुचि, जिह्वा तथा दन्तवेष्ट मे शोथ, अजीर्ण और अतिसार आदि लक्षण होते है। इसकी कमी से पेलाग्रा (Pellagra), त्वक्शोथ और रक्ताल्पता, ये लक्षण होते है।

चिकित्सा

इसके अभावजन्य रोगो की चिकित्सा रोगानुसार करनी चाहिए और जिन पदार्थों मे इस जीवतिक्ति की अधिकता हो, उनका प्रयोग कराना चाहिए। जैसे—हरी वनस्पति, शाक, अकुरित अन्न (मूँग, चना आदि), गेहूँ, मूँगफली, दूध, यकृत्, वृक्क, मास, मछली, अण्डा आदि मे यह रहता है। इस जीवतिक्ति के अभाव मे इनका सेवन कराकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।

प्रयोग मात्रा—हमारे शरीर को प्रतिदिन सामान्यत १५ से २५ मि० ग्रा० की आवश्यकता पडती है। युवा व्यक्तियो को २५ से ५० मि० ग्रा० और चिकित्सार्थ ५० से ५०० मि० ग्रा० तक प्रतिदिन मुख, पेशी या सिरामार्ग से।

जीवतिक्ति बी$_3$ या पैण्टोथिनिक एसिड (Pantothenic acid)
हीनताजन्य रोग और उनकी चिकित्सा

यह पीले वर्ण का तैल जैसा द्रव्य है, जो चूने (Calcium) के साथ श्वेत घुलनशील लवण बनाता है।

इसके अभाव मे शरीर मे गर्मी अधिक मालूम होती है। जाडे की ऋतु मे भी हाथ-पैर मे जलन होती है। त्वचा के रोग, यकृत् की विकृति और पाचन-सस्थान

की क्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। इसकी कमी से बाल सफेद हो जाते और झडने लगते है।

चिकित्सा

पुरानी खाँसी, श्वासपथ का शोथ, स्थूलान्त्रशोथ, त्वचा के विकार, यकृत् विकार हाथ-पैर मे दाह और श्वेतकुष्ठ मे इसके प्रयोग से लाभ होता है।

जिन पदार्थों मे यह पाया जाता है, उनका सेवन करने से भी इसकी कमी से होनेवाले रोगो मे लाभ होता है। जैसे—गेहूँ, चावल, आलू, मटर, सन्तरा, अण्डा, मास और यकृत् मे यह उपलब्ध होता है।

मात्रा—प्रतिदिन की आवश्यकता २–४ मि० ग्रा०।

चिकित्सार्थ—१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन।

जीवतिक्ति$_६$ या पाइरिडॉक्सीन (Pyridoxine)
हीनताजन्य रोग और उनकी चिकित्सा

यह श्वेतवर्ण का होता हे तथा क्षार एव जल-विलेय है। स्वस्थता की स्थिति मे वसा और एमाइनो एसिड के समवर्त के लिए इसकी आवश्यकता पडती है। स्नायु-दौर्बल्य, अनिद्रा, दुर्बलता, हाथ-पैर की गतिशीलता का ह्रास और ऐंठन तथा आमाशयशूल मे इसके प्रयोग से लाभ होता है।

इसके अभाव मे मासपेशियो की दुर्बलता, मुँहासे, कोणिक मुखपाक (Angular stomatitis), अपस्मार, निद्रानाश, वातबलासक, कम्पवात, अगघात, गर्भवती स्त्रियो को वमन होना या मिचली आना आदि विकार होते हैं।

चिकित्सा

यह जिन वस्तुओ मे प्राप्त होता है, उनका सेवन कराना चाहिए। जैसे—यकृत्, गेहूँ के भ्रूण, खमीर, दाल, चावल, दूध, हरे शाक और हरी सब्जी आदि।

मात्रा—सामान्य—१०–२० मि० ग्रा० मुख द्वारा।
विशेष —५०–२०० मि० ग्रा० पेशी या सिरा द्वारा।

नोट—इसका प्रचूषण मुख द्वारा पर्याप्त रूप मे न होने के कारण तीव्र रोगो मे सिरामार्ग से प्रयुक्त करना चाहिए।

जीवतिक्ति बी$_{१२}$ या रुब्रामिन (Rubramine)
हीनताजन्य रोग और उनकी चिकित्सा

यह रक्तवर्ण का एक पदार्थ है, जो लिवर एक्स्ट्रेक्ट के समान ही नये रक्तकणो को उत्पन्न करता है। यह पाण्डुरोग मे लाभकारी है। इसे रक्ताल्पता-निरोधी कारक (Anti aneamic factor) माना जाता है।

इसके अभाव मे स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता (Macrocytic aneamia) की उत्पत्ति होती है।

प्रयोग—हीन पोषणजन्य एव गर्भजन्य रक्तक्षय मे यह वहुत उपयोगी है। इसका सग्रहणी मे फोलिक एसिड के साथ प्रयोग करने से उत्तम लाभ होता है।

मात्रा—दैनिक १ माइक्रोग्राम प्रतिदिन मुख द्वारा। गर्भिणी ५ माइक्रोग्राम प्रतिदिन ५वे मास के वाद। चिकित्सार्थ—साधारण मात्रा १५ माइक्रोग्राम प्रतिदिन पेशीद्वारा, तीव्रावस्था मे —२० से ५० माइक्रोग्राम प्रतिदिन पेशी द्वारा। घातक रक्तक्षय की अनितीव्रावस्था तथा सग्रहणी मे ५०–५०० माइक्रोग्राम पेशी द्वारा।

फोलिक एसिड या पालकाम्ल

(Folic Acid)

यह नारगी के समान पीवतर्ण का पदार्थ है। रक्तकणो के परिपक्व निर्माण तथा आकार-प्रकार स्वाभाविक रखने मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वथावस्था मे अस्थि-मज्जा की कोशाओ की कार्यशीलता, रक्तकणो एव श्वेतकणो के नियमित निर्माण के लिए यह पदार्थं आवश्यक होता है।

इसके अभाव मे स्थूल कायाण्विक रक्ताल्पता तथा घातक रक्तक्षय उत्पन्न होता है तथा पाण्डु रोग हो जाता है।

उपयोग एवं चिकित्सा

इसका उपयोग सग्रहणी, घातक रक्तक्षय, गर्भजन्य रक्तक्षय, हीन पोषण आदि के द्वारा उत्पन्न स्थूलकायाण्विक रक्ताल्पता मे उत्तम माना जाता है। सग्रहणी और पोषणज रक्ताल्पता मे यकृत् सत्त्व के साथ इसका प्रयोग विशेप गुणकारी होता है। यह खमीर, यकृत्, पालक, शेफाली एव हरी वनस्पतियो मे मिलता है।

मात्रा—१० मि० ग्रा० प्रतिदिन मुख द्वारा, स्वस्थावस्था मे, चिकित्सार्थ—२०–५० मि० ग्रा० मुख, पेशी या सिरा द्वारा तथा रोग की तीव्रावस्था मे १००–२०० मि० ग्रा० पेशी या सिरा द्वारा।

कोलीन

(Choline)

इसका विशेष उपयोग वसा के परिपाचन एव शरीर-सवर्धन के लिए बालको मे किया जाता है। यकृत् मे वसाभरण या वसारूप अपजनन होने पर विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है। वालको के यकृद्दाल्युदर एव अन्य यकृद्वृद्धिजन्य विकारो मे इसका प्रयोग किया जाता है।

जीवतिक्ति 'सी' या एस्कार्बिक एसिड

(Ascorbic acid)

इस जीवतिक्ति का मुख्य कार्य अन्त स्तर की सुरक्षा है। इसकी सहायता से श्लेष्मजन (Collagen) नामक वज्रण द्रव्य (Cementing material) वनता है, जो रक्तवाहिनियो के अन्त स्तर तथा शरीर के सभी सयोजक धातुओ की कोषाओ की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार है।

इसके अन्य प्रमुख कार्य हैं—कोषागत समवर्त (Cellular metabolism), धातु प्रजागरण (Tissue oxidation), रक्तस्रावावरोध, व्रणरोपण, रक्तकण-निर्माण, बृहण, पोषण तथा निर्विषीकरण।

यह 'सी' क्षत, जीर्ण व्रण, शोथ, आन्त्रिकज्वर, अस्थिभग, अस्थिक्षय, हृदय रोग एव यकृत् के रोगो मे उपयोगी है। रोगी को शीघ्र शक्ति-सम्पन्न करने मे यह बडा उपयोगी है। क्षुधा-वृद्धि, धातु-वृद्धि और वल-वृद्धि के लिए इसका सभी जीर्ण रोगो मे प्रयोग किया जाता है।

मुख द्वारा सेवन करने पर आन्त्र द्वारा इसका पूर्णतया प्रचूपण हो जाता है एव इसका कुछ अश रक्त मे मिलकर सम्पूर्ण शरीर मे प्रवाहित होता है तथा कुछ अश अधिवृक्क-ग्रन्थि, आन्त्र-प्राचीर एव अन्य मर्म-स्थानो मे सगृहीत होता है।

हीनताजन्य विकार

इसके अभाव या हीनता मे मुख्यतया प्रशीताद (Scurvy) रोग हो जाता है, जिसमे हाथ-पैर मे दर्द होता है, नासिका और मुखमार्ग से रक्त आने लगता है, मसूडो मे शोथ हो जाता है और उनसे रक्त भी आने लगता है। इसकी कमी से शरीर कृश और निर्वल हो जाता है। अस्थियाँ और दाँत कमजोर हो जाते है।

चिकित्सा

जीवतिक्ति 'सी' के अभावजन्य विकारो मे उन पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए, जिनमे यह पायी जाती है। जैसे—हरे शाक, हरे पत्ते, खट्टे फल, नीवू, नारगी, सन्तरा, सेव, टमाटर, मूली, गाजर, शलजम, करमकल्ला, पालक और हरी मटर मे यह पायी जाती है।

आँवले मे यह पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होती है। एक लघु आकार के आँवले मे इतनी जीवतिक्ति 'सी' होती है, जितनी कि दो सन्तरो मे।

जो शाक-सब्जी बासी हो जाती या सूख जाती है, उनकी जीवतिक्ति नष्ट हो जाती है। यह १००° सेंटीग्रेड के ताप की उष्णता मे स्थिर रहती है। क्षारीय पदार्थों के योग से यह बिना ताप के ही नष्ट हो जाती है। जिन पदार्थों मे यह होती है, उनको कच्चा खाने पर ही यह मिलती है। इसलिए मटर, टमाटर, प्याज, गाजर, शलजम और हरी धनिया की पत्ती आदि कुछ-न-कुछ प्रतिदिन कच्चा ही खाना चाहिए, क्योकि उबालने पर यह 'सी' नष्ट हो जाती है, किन्तु सुखाने या उबालने के बाद भी आँवले के 'सी' का पूर्णतया विनाश नही होता।

चिकित्सार्थ साधारण मात्रा	३०० मि० ग्रा० (मुख द्वारा)
दैनिक सामान्य मात्रा	५०–१०० मि० ग्रा०
दैनिक गर्भिणी की मात्रा	१०० मि० ग्रा०
दैनिक स्तन्यपान काल मे	१५० मि० ग्रा०

जीवतिक्ति 'डी' या कैल्सीफेराल
(Calciferol)

यह श्वेतवर्ण का होता है, जो 'ए' के समान ही स्नेह-विलेय है और प्राय 'ए' के साथ ही प्राप्त होता है। वनस्पतियो एव घासो मे एक एर्गास्टेराल (Ergasterol) नामक द्रव्य होता है, पशु जब उन्हे चरते है और धूप मे सचरण करते हैं तो सूर्य की नीललोहित किरणो के सम्पर्क के प्रभाव से उन पशुओ के शरीर मे जीवतिक्ति 'डी' या कैल्सीफेराल की उत्पत्ति होती है। अतएव सूर्य की धूप मे चरने वाली गायो के दूध मे इसकी पर्याप्त मात्रा होती है।

मनुष्य की त्वचा मे भी एर्गोस्टेराल (Ergosterol) नामक कोलेस्टेराल सदृश द्रव्य होता है। जब त्वचा पर सूर्य की अल्ट्रावायोलेट किरणे (Ultraviolet rays) पडती है, तो उनके प्रभाव से वह द्रव्य जीवतिक्ति 'डी' या कैल्सीफेराल के रूप मे परिणत हो जाता है। धूप मे बैठकर सर्षप तैल की मालिश की प्रथा भारतवर्ष मे प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन लोगो को सूर्य-किरणो के शरीर-सम्पर्क का प्रभाव और महत्त्व ज्ञात था।

सूर्य की किरणे जीवतिक्ति 'डी' की विशिष्ट उपादान है और उनका सेवन अस्थियो एव दाँतो की दृढता तथा शरीर-सवर्धन के लिए आवश्यक है। सुधा (कैल्सियम) और प्रस्फुरक (फॉस्फोरस) के समवर्त के लिए जीवतिक्ति 'डी' आवश्यक है। इसके प्रभाव से सुधा का प्रचूषण अधिक होता है एव इसके प्रभाव से रक्त, अस्थि आदि उपयुक्त अवयवो मे कैल्सियम को अधिक मात्रा मे पहुँचाता है।

अभाव—भोजन मे 'डी' प्रधान आहारद्रव्यो की कमी, सूर्य के प्रकाश का अभाव, दिन-रात शरीर को वस्त्राच्छादित रखना और 'डी' युक्त आहारद्रव्यो का पाचन और आत्मीकरण न होना —इन कारणो से शरीर मे जीवतिक्ति 'डी' का अभाव हो जाता है।

अभावजन्य रोग

इसके अभाव से अस्थिमार्दव और अस्थिवक्रता हो जाती है। रक्त मे सुधा (कैल्सियम) की कमी हो जाती है, जिसके कारण वर्धनशील अस्थियो मे पर्याप्त चूर्णीभवन (Calcification) नही हो पाता है। परिणामस्वरूप अस्थियाँ नर्म हो जाती हैं और भार पडने पर टेढी हो जाती हैं।

इसकी कमी से बच्चो मे रिकेट्स या फक्करोग हो जाता है तथा क्रमिदन्त एव देर से दाँत निकलने की शिकायत होती है और दन्तक्षय होता है। कदाचित् बाल-पक्षाघात (Infantile paralysis) या पोलियोमाइलाइटिस (Poliomyelitis) या शोथ (Marasmus) हो सकता है।

युवाओ मे जीवतिक्ति 'डी' की कमी से मृद्वस्थि रोग हो जाता है। यह रोग विशेषकर सगर्भा स्त्रियो मे देखा जाता है, क्योकि उनके शरीर के पूर्वसचित सुधा, प्रस्फुरक एव जीवतिक्ति 'डी' का व्यय गर्भ की आवश्यकताओ की पूर्ति मे हो जाता है, जिससे उनकी अस्थियो का घनत्व न्यून हो जाता है।

प्रौढो को विशेपकर स्त्रियो को ऑस्टियोमैलेसिया (Osteomalacia) रोग हो जाता है। जिसमे अस्थिया कोमल हो जाती है। इसके अभाव मे बच्चे यथा समय चलना-फिरना नही सीख पाते। वे चिडचिडे हो जाते है। नीद कम आती है तथा दॉत देर से निकलते है। शरीर का बोझ न सम्भाल पाने के कारण पैरो की अस्थियाँ टेढी हो जाती है।

चिकित्सा

जीवतिक्ति 'डी' युक्त पदार्थो का प्रयोग करना चाहिए। जैसे —चरागाह मे चरने वाले पशुओ के दूध से निकाला हुआ मक्खन, गेहूँ का भ्रूण, हरे शाक, सलाद, केला, अण्डे की जर्दी, शार्क-कॉड-हैलिवट मछलियो के यकृत् एव तैल, गोदुग्ध, मास आदि।

अलग से जीवतिक्ति 'डी' के प्रयोग की मात्रा—

प्रतिदिन साधारण		४०० से ८०० एकक
"	गर्भावस्था तथा स्तन्यपानकाल	१००० से २००० एकक
"	वर्धमानावस्था	५०० से १००० एकक
"	अस्थिक्षय	१००० से ५००० एकक
"	अस्थिमृदुता	२५ हजार से १ लाख एकक
"	चिकित्सार्थ	५० हजार से डेढ लाख एकक

जीवतिक्ति 'ई'

(Vitamin 'E' Alphatocoferol)

यह जीवतिक्ति हलके पीतवर्ण का होता है, जो गेहूँ को २४ घण्टे जल मे भिगोकर मसलने से प्राप्त होता है। इसका विशेग कर्म गर्भस्थापन है। इस दृष्टि से इसे 'प्रजास्थापन' जीवतिक्ति (Anti-sterility vitamin या वन्ध्यत्व प्रतिपेधक जीवतिक्ति) कहा जाता है।

'प्रजास्थापन' उस द्रव्य को कहते है, जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की स्थिति और पुष्टि मे बाधक दोष को नष्टकर प्रजा की स्थापना (स्थिति और स्थिरता) उत्पन्न करता है। यह जीवतिक्ति पुरुपत्व और स्त्रीत्व अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के लिए अत्यावश्यक है। पुत्रघ्नी'[1] योनिरोग मे यह विशेप गुणकारी है। जिन स्त्रियो को बार-बार गर्भस्राव या गर्भपात (Habitual abortion) होता हो, उनको जीवतिक्ति 'ई' के सेवन से बडा लाभ होता है।

मध्यम आयु मे उत्पन्न होने वाले हृदय एव रक्तवह-सस्थान के विकारो मे हृद्दौर्बल्य, आर्तवक्षय, हीन रक्तनिपीड एव अवसाद आदि मे इसके प्रयोग से अधिक लाभ होता है। इस जीवतिक्ति के विशेष कार्य है—शुक्राणुजनन, गर्भस्थापन और वातशमन।

---

१ (क) रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जात जातं विनाशयेत्।
दुष्टशोणितज नार्या पुत्रघ्नी नाम सा स्मृता॥ —च० चि० ३०।२८
(ख) स्थित स्थित हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसश्रवात्। —सु० उ० ३८।१३

हीनताजन्य विकार

इसके अभाव या हीनता मे शुक्रकीटाणुओ की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाती है। अधिक समय तक इसका सेवन न करने पर धीरे-धीरे शुक्रकीटो मे अपजनन (Degeneration) होता है और अन्त मे शुक्रोत्पादक कला (Seminiferous epithelium) का अपजनन हो जाने के कारण पूर्णतया शुक्रनाश हो जाता है। स्त्रियो मे इसके अभाव से अपरा निर्बल हो जाती है, जिससे गर्भ का भार कुछ बढने पर अपरा स्थानच्युत हो जाती है और इस प्रकार पुन-पुन गर्भस्राव या गर्भपात होता रहता है।

चिकित्सा

जिन पदार्थों मे यह अधिक अंश मे पाया जाता है, उनका प्रयोग करना चाहिए। जैसे—चोकरयुक्त गेहूँ का आटा, जई, राई, दूध, बादाम, अखरोट, मक्खन, सोयाबीन, वनस्पतियो के बीज, केला, अण्डा, मास, यकृत्, जैतून का तेल, हरे शाक एव सब्जी-सलाद आदि। यह अत्यन्त स्थिर जीवतिक्ति है। ताप, अम्ल, क्षार आदि का इस पर प्रभाव नही पडता।

मात्रा—शुक्रक्षय, गर्भस्राव-गर्भपात—५-१० मि० ग्रा० प्रतिदिन १-२ वर्ष तक।
जीर्णावस्था मे मुख द्वारा—५०-१०० मि० ग्रा० प्रतिदिन।
पेक्षीक्षय-शैशवीय अगघात मे —५०० मिग्रा० प्रतिदिन सूचीवेध द्वारा।

जीवतिक्ति 'पी' या सिट्रिन

(Citrin)

यह जीवतिक्ति आँवला और नीबू के रस मे होता है। इसके गुण 'सी' के समान हैं। केशिकाओ से होनेवाले रक्तस्राव मे यह 'एस्कार्बिक एसिड' की अपेक्षा अधिक गुणकारी पाया गया है।

इसके अभाव मे केशिकाओ का अन्त स्तर अतिप्रवेश्य हो जाता है, जिससे रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्सा

इसके अभावजन्य रक्तस्राव मे प्रतिबन्ध के लिए इसका सेवन उपयोगी है। प्रशीताद (Scurvy) रोग मे रक्तस्रावी प्रवृत्ति के निवारणार्थ 'सी' के साथ इसका प्रयोग अधिक लाभप्रद है।

जीवतिक्ति 'एच' या बायोटिन

(Biotin)

यह आद्भिद द्रव्यो[1] (यथा—१ वनस्पति–गूलर आदि, २ वानस्पत्य–आम

---

१ औद्भिद तु चतुर्विधम्। वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधि.॥
फलैर्वनस्पतिः, पुष्पैर्वानस्पत्य फलैरपि। ओषध्य. फलपाकान्ता प्रतानैर्वीरुध. स्मृता॥
मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवा.। क्षारा क्षीर फल पुष्प भस्मतैलानि कण्टका:॥
पत्राणि शुङ्गा. कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गण.। —च० सू० १।७१–७४

आदि, ३ ओषधि—जौ, गेहूँ आदि, ४ वीरुध—गुरुच आदि लतावर्ग) मे प्राप्त होता है एव अनाजो, खमीर, यकृत् तथा अण्डे मे उपलब्ध होता है ।

हीनताजन्य रोग

इसके अभाव या हीनता मे आलस्य, तन्द्रा, जीभ के रोग, त्वचा के विकार, यथा—चर्मप्रदाह, यौवनपिडका, मुँहासे, त्वचा की शुष्कता, पीलापन या ईषद् रक्तता हो जाती है ।

चिकित्सा

ऊपर कहे गये जीवतिक्ति 'एच' प्रधान द्रव्यो का सेवन करें और रोगानुसार उपचार करें ।

जीवतिक्ति 'के' या मेनाफ्योन

(Menaphthone)

यह स्नेह-विलेय जीवतिक्ति है । परन्तु इसके जलविलेय योग भी उपलब्ध होते हैं । यह रक्त के सन्तुलन और प्रवाह को व्यवस्थित रखता है तथा पाचन-प्रक्रिया का सुधार करता है । यह रक्त का स्कन्दन या स्तम्भन करता है, अत. इसे रक्त-स्तम्भक जीवतिक्ति (Coagulation vitamin) भी कहते हैं । यह एक स्कन्दनोपयोगी द्रव्य उत्पन्न करता है, जिसे प्रोथ्रोम्बीन (Prothrombin) कहते हैं । यह बन्दगोभी, अण्डे की जर्दी, दूध, घी, यकृत्, करमकल्ला, पालक, टमाटर और हरी पत्तियो मे होता है । सोयाबीन मे यह पर्याप्त मात्रा मे मिलता है ।

अन्त्रो द्वारा इसके शोषण के लिए याकृत् पित्त की उपस्थिति, आमाशय एव अन्त्रो की अविकृति, यकृत् मे रोगाभाव और पित्तवाही स्रोत मे अवरोध का अभाव होना आवश्यक है, अन्यथा ग्रहणी मे पित्त के न पहुँचने से जीवतिक्ति 'के' का शोषण नही हो पाता, जिसके कारण रक्त मे उसका प्रमाण न्यून हो जाता है । परिणामस्वरूप अल्प आघात या क्षत हो जाने पर रक्तस्राव होने लगता है ।

हीनताजन्य विकार

इसके अभाव मे रक्त पतला पड जाता है और जमने की शक्ति कम हो जाती है । यकृत् मे पूर्वघनास्रि का निर्माण नही हो पाता, जिसके कारण रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है । नवजात शिशु मे इसकी कमी से रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है और रक्त जमने मे विलम्ब होता है ।

चिकित्सा

इसका पर्याप्त प्रयोग करने से रक्तस्राव की सम्भावना कम हो जाती है । मुख्य रूप से पूर्वघनास्रि के अभावजन्य रोगो, यथा—गर्भिणी-विषमयता, पूर्वप्रसव, कष्टप्रसव, नवजात कामला आदि मे चिकित्सार्थ इसका प्रयोग किया जाता है ।

मात्रा—प्रतिषेधार्थ १—२ मि० ग्रा० प्रतिदिन ।

चिकित्सार्थ ३०—६० मि० ग्रा० प्रतिदिन मुख द्वारा ।

तैलविलेय योग का पेशी द्वारा तथा जलविलेय योग का पेशी या सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिए ।

एकादश अध्याय

वाजीकरण

वाजीकरण का ऐतिहासिक महत्त्व

प्रस्तावना—विश्व-वाङ्मय के आदि ग्रन्थ वेद हैं। वे चार हैं—१ ऋक्, २ साम, ३ यजुर् और ४ अथर्व। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है[1]। अथर्ववेद दान-स्वस्त्ययन आदि विधियों द्वारा चिकित्सा का उपदेश करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्राणियों के आरोग्यमय जीवन और रोगों के उपचार के लिए ब्रह्मा ने[2] एक लाख श्लोकों और एक हजार अध्यायों से युक्त ब्रह्मसंहिता की रचना की। ब्रह्मा चिकित्सा-विज्ञान के आदि आचार्य हैं। उनसे ही यह परम्परा आगे बढ़ी।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण किया और उनकी बुद्धि में आयुर्वेद का समग्र ज्ञान प्रस्फुरित हो गया। ब्रह्मा से प्रजापति ने, उनसे अश्विनीकुमार-द्वय ने, फिर उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र से धन्वन्तरि और भारद्वाज ने इस विद्या को ग्रहण किया। धन्वन्तरि से औपधेनव आदि ने और भरद्वाज से अग्निवेश आदि ने आयुर्वेद का अध्ययन प्राप्त किया।

परवर्ती आचार्यों ने मानवों की अल्प बुद्धि और अल्प आयु को देखकर अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त किया, जिसका अन्तिम अंग **वाजीकरणतन्त्र**[3] है।

'जिस शास्त्र में अल्प, दुष्ट, क्षीण और शुष्क वीर्यवाले मनुष्यों के वीर्य की पुष्टि, शोधन, वृद्धि और उत्पत्ति तथा स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय हर्ष बढ़ाने के लिए उपाय और औषध का वर्णन किया जाता है, उसे वाजीकरण कहते हैं।'

अथर्ववेद में वाजीकरण के सन्दर्भ

अथर्ववेद में **वाजीकरण** के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। वहाँ कृश और निर्वीर्य पुरुषों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है[4]। वाजी (वीर्य-सम्पन्न) बनाने के लिए शेपहर्षणी (शिश्नोत्तेजक) औषध का प्रयोग बतलाया गया है[5]। नपुंसक के शिश्न

---

१. आत्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहात् चिकित्सां प्राह। —चरक० सूत्र० ३०।२१

२ इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य अनुत्पाद्यैव प्रजा. श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भू.। —सुश्रुत० सूत्र० १।६

३. सु० सू० १।१६।

४. येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्। —अथर्व० ६।२०१

५. यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम्॥ —अथर्व० ४।४

को अश्व, खच्चर, बकरा, भेडा, वृषभ, हस्ती और गर्दभ के शिश्नो की तरह वाजीवान् बनाने का वर्णन मिलता है[1]। एक मन्त्र मे कहा गया है—'मैं चिकित्सक तेरे शिश्न को इस तरह फैलाता हूँ, जिस तरह धनुष पर प्रत्यञ्चा (डोरी) तानी जाती है'[2]। अन्य मन्त्र मे इस प्रकार का उल्लेख है —'हे पुरुष ! स्त्री-सभोगकाल मे तेरा शिश्न हस्ती, अश्व, गर्दभ और मृग के शिश्न जितना दीर्घ हो जाये[3]। अन्यत्र एक मन्त्र मे नपुसक को यह वरदान दिया गया है—'हे क्लीब ! तेरा शिश्न वृषत्व (वीर्यसिञ्चन) समर्थ हो, बढे और फैले, जिससे तू नारी-सगम मे सामर्थ्यवान् बन जाओ'[4]। अन्य भी अनेकानेक मन्त्र है, जिनमे वाजीकरण-सामर्थ्य सवर्धन का उल्लेख है।

वाजीकरण और कामशास्त्र

वाजीकरण और कामशास्त्र ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। **चरक-सहिता**[5] मे कहा गया है कि 'गुणवान् सन्तान और कामसुख की कामना से वाजीकरण औषधो का नित्य ही प्रयोग करना चाहिए। दूसरी ओर वात्स्यायन के **कामसूत्र**[6] मे कहा गया है कि 'काम का उद्देश्य कामसुख और सन्तानोत्पत्ति है'। इस प्रकार दोनो का लक्ष्य एक ही है।

कामशास्त्र के स्रोत

कामशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ वात्स्यायनकृत-कामसूत्र है, जिसका समय अनुमानत दो सहस्रपूर्व है। कामसूत्र के औपनिषदिक-अधिकार मे वाजीकरण के विषय वर्णित हैं। नन्दी आचार्य ने एक हजार अध्याय वाले कामसूत्र की रचना की, जिसका साराश लेकर औद्दालकि श्वेतकेतु ने एक सौ पाँच अध्यायो से युक्त कामशास्त्र का निर्माण किया। उस कामशास्त्र का साराश लेकर वाभ्रव्य पाञ्चाल ने साधारण साम्प्रयोगिक, कन्या-सप्रयुक्त, भार्याधिकारिक, पारदारिक आदि सात अधिकरणो की पचास अध्यायो मे रचना की। उसके षष्ठ वैशिक अधिकरण की रचना श्रीदत्त ने की थी। पुन सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक, घोटकमुख ने कन्यासम्प्रयुक्तक, गोनर्द ने भार्याधिकारिक, गोणिकापुत्र ने पारदारिक और कुचुमार ने औपनिषदिक प्रकरण आदि की पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक रचना की।

---

१ अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ वृषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन्॥ —अथर्व० ६।७२

२ आह तनोमि ते पसो अधिज्यामिव धन्वनि। —अथर्व० ४।४

३ यावदङ्गीन पारस्वतं हास्तिन गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत वर्धतां पस॥ —अथर्व० ६।७२

४ आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व। यथाङ्ग वर्धता शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥ —अथर्व० ६।१०१

५. तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसश्रितान्।
वाजीकरणनित्य स्यादिच्छन् कामसुखानि च॥ —चरक० चि० २।२२

६ कामात् सुख प्रजोत्पत्तिश्च। —कामसूत्र १।२।१

ऐसा अनुमान किया जाता है, कि प्राचीनकाल के कामसूत्रकारक महर्षियो का जो औपनिपदिक अधिकरण है, वह आयुर्वेद का वाजीकरणतन्त्र हो सकता है। वर्तमान काल मे वाजीकरण सन्दर्भ-ग्रन्थ निम्नलिखित है—

१ चरकसहिता– चिकित्सास्थान, अध्याय २।
२ सुश्रुतसहिता—चिकित्सास्थान ,, २६।
३ अष्टाङ्गहृदय—उत्तरस्थान ,, ४०।
४ अष्टाङ्गसग्रह—उत्तरस्थान ,, ५०।
५ भावप्रकाश।

'काम' मूलतम प्रवृत्ति

वाजीकरण कामशास्त्र का पूरक तन्त्र है और **काम जीवन की मूलतम प्रवृत्ति है,** जो अशरणशरण, करुणावरुणालय, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द परब्रह्म के अन्त करण मे सृष्टिसृजन की इच्छा के रूप मे स्थित है। कामेच्छा मन का रेतस् (वीर्य) है[1]।

काम का अर्थ है—'इच्छा या कामना' इच्छाओ के उद्भव का अधिष्ठान **मन** है। इसीलिए 'काम' को 'मनोज' अथवा 'मनोभव' कहते है और उससे उत्पन्न कर्मात्मक इच्छा-प्रवृत्ति को 'अगज' कहा जाता है। जैसे 'शुक्र' कर्मात्मक इच्छा-प्रवृत्ति का उत्कृष्टतम एव अन्तिम सार-परिणाम है, उसी प्रकार मन की प्रवृत्ति का उत्कृष्टतम तथा अन्तिम सार-परिणाम है—**'मनोज'**। अतएव काम को मन का रेतस् या शुक्र भी कहते है।

'काम' एक लोकोत्तर विश्वविजयी भाव है, जिसमे तृप्ति-सन्तोप और आनन्द की ऊर्मियो के मधुर कल्लोल का गुञ्जन है। ससार की प्रत्येक घटना की तह मे 'कर्ता' की अपनी कामना बैठी होती है, जैसा कि उपनिषत्कार ने कहा है—'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति'। **इन्द्रियमात्र की अपने-अपने विषय मे प्रवृत्ति ही 'काम' है**[2]। कामसूत्र मे 'काम' का उद्देश्य 'सुख और सन्तानोत्पत्ति' कहा गया है। इन दोनो का ही सम्बन्ध इन्द्रियसुख से है।

सन्तान-कामना : एक आवश्यकता

सन्तानोत्पत्ति के लिए काम का सेवन यौवनकाल मे करना चाहिए[3]। 'सन्तान' गृहस्थाश्रम को जोडने की जजीर है। जीवन-धर्म मे सन्तानोत्पत्ति का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुत्र उत्पन्न करना एक सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक आवश्यकता है। अतएव समाज ने एक नियम बाँध रखा है कि 'प्रत्येक

---

१ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेत प्रथम यदासीत्। —अथर्व० १९।५२।१

२. काम स्वेषु स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यत प्रवृत्ति।
—सुश्रुत० शारीर० १०।५६ पर डल्हण-टीका

३ काम च यौवने। —कामसूत्र १।२।३

× ×

यौवने विषयैषिणाम्। —रघुवश, प्रथम सर्ग

व्यक्ति अपने प्रतिनिधि के रूप मे समाज को एक पुत्र का उपहार दे जाये'। भौतिक दृष्टि से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना 'काम' का एक प्रतीक है। इमी अभिप्राय से **स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक प्रेमबन्धन को 'काम' की संज्ञा दी गयी है[1]।**

इस प्रेम-सम्बन्ध को व्यवस्थित बनाने के लिए समाज ने विवाह की परिपाटी बनायी और उसकी उपयोगिता पुत्रोत्पत्ति तथा तीन आश्रमो, यथा—१ ब्रह्मचर्य, २ वानप्रस्थ और ३ सन्यास के पोपण मे मानी गयी। मैथुन, माम और मद्य-सेवन, ये भी काम के ही रूप है और समाज ने इनके सेवन की भी अनुमति दी है, किन्तु उसकी एक मर्यादा बना दी गयी। श्रीमद्भागवत[2] मे कहा गया है कि 'लोक मे मैथुन, मास एव मद्य-सेवन की प्रवृत्ति विना किसी शिक्षण, प्रेरणा अथवा अभ्यास के ही जाग्रत् हो जाती है, इसलिए इनको मर्यादित करने के लिए विवाह, यज्ञ और भेषजीय,सुरा का प्राविधान किया गया है।' **विवाहित जीवन संयम का साधन है। अमर्यादित भोग-विलास से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।** विवाह की सफलता की सीमा सन्तानोत्पत्ति है और देश, जाति, धर्म की रक्षा और पितृऋण से उन्मुक्त होने के लिए सन्तान का होना आवश्यक है। 'सन्तान की प्राप्ति' दाम्पत्य-प्रेम की एक सुमधुर, सुकोमल, कमनीय, सुवासित, परागमय पुष्पाञ्जलि है। प्रत्येक 'द्विज' तीन प्रकार के ऋणो से जन्म से ही ऋणी रहता है—१ देवऋण २ पितृऋण और ३ ऋषिऋण। उत्तम कर्म एव यज्ञ से देवऋण से, पुत्रोत्पादन करके पितृऋण से और स्वाध्याय तथा प्रवचन के द्वारा ऋषिऋण से उन्मुक्त हो जाना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व है। इस प्रकार की अवधारणा के कारण पितृऋण की अदायगी के लिए पुत्रोत्पादन करना एक सामाजिक प्रतिष्ठा[3] का प्रश्न बन गया। अतएव दीक्षान्त या समावर्तन-सस्कार के समय स्नातक को यह उपदेश दिया जाता है कि वह पुत्रोत्पादन अवश्य करे।

पुत्रैषणा का साधक वाजीकरण है, इसलिए गुणवान् सन्तान तथा कामसुख की कामना से वाजीकरण का नित्य सेवन वाञ्छनीय है।

काम : एक प्रबल सम्मोहन शक्ति

पुरुषार्थ के उत्कर्ष के लिए एव लोकैषणा की पूर्ति के लिए धर्मयुक्त काम एक श्रेष्ठतम साधन है। वाजीकरण-प्रयोगपूर्वक धर्म-सम्मत कामवासना का सदुपयोग, आनन्द, उत्साह और दाम्पत्य-प्रेम की सतृप्ति के साथ गुणी एव सुन्दर सन्तान की उत्पत्ति करना है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—'प्राणियो मे व्यापक रूप से रहनेवाला मै धर्मानुकूल काम हूँ'—>

१ स्त्रीषु जातो मनुष्याणा स्त्रीणां च पुरुषेषु च। परस्परकृत. स्नेह. काम इत्यभिधीयते॥
—शार्ङ्गधरसंहिता

२ लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

३. प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वान. पितॄणामनृणो भवति।
—तैत्तिरीय आरण्यक

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मिभरतर्षभ'। (गीता)

काम की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने शम्भु,[1] स्वयम्भू, विष्णु, देवता, ऋषि-मुनि, तपोधन, पशु-पक्षी एव सूक्ष्म जीवधारियो तक को अपने आगोश मे बाँध रखा है। हवा-पानी और पत्ता खाकर जिन्दगी व्यतीत करनेवाले विश्वामित्र, पराशर, शाण्डिल्य आदि मुनि भी सुललित स्त्रियो (मेनका-सत्यवती-रम्भा) के मुखकमल को देखकर मोहित हो गये[2]।

कामदेव की उद्दाम सेना ने महादेव को भी अपना लक्ष्य बनाने की कुचेष्टा की, किन्तु शिव के तीसरे नेत्र से निकली अग्नि की ज्वाला मे दग्ध होकर वह भस्म हो गया[3]। फिर भी 'अनङ्ग' कामदेव के सम्मोहनपाश से देवाधिदेव शिव बच नही सके और कन्दर्प ने अपनी विजयपताका फहरा ही दी और त्रिलोचन शिव पार्वती के साथ परिणय मे आवद्ध हो गये।

अपने धुन के धनी महान् उग्रतपस्वी विश्वामित्र अपनी तपस्या-साधना के चमत्कार से वडे-वडे शक्तिशाली सम्राटो और तपोधनो को हिला देते थे। उनमे प्रतिसृष्टि के निर्माण का सामर्थ्य था, किन्तु वे कन्दर्प के दर्पदलन मे पराजित हो गये। विश्वामित्र के मद को मदन ने एक ही झटके मे धूल-धूसरित कर दिया। अनिन्द्य सौन्दर्य की स्वामिनी मेनका की रमणीय देहयष्टि की रश्मिप्रभा के समक्ष इस ऋषि की आँखें चौंधिया गयी और कामान्ध होकर उसका मन मेनका मे निमग्न हो गया। वह आपादमस्तक वासना के सरोवर मे डूब गया।

काम के प्रवल झझावात के अदम्य वेग के प्रवाह मे वडे-वडे सयमी, ज्ञानी, ऋषि, मुनि और देवता का मन भी डोल जाता है। काम के उद्वेग के आगे भय, लज्जा आदि सभी लौकिक-सामाजिक व्यवहार और कर्तव्य भूल जाते है और कहना पडता है—'इस घर मे आग लग गयी घर के चिराग से'।

काम की प्रवल और सम्मोहक शक्ति को देखकर इसे देवता माना गया तथा 'वसन्तोत्सव' के रूप मे उसकी पूजा का प्रचलन हो गया। सस्कृत-काव्यो मे इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। भारतीय वाङ्मय के अतिरिक्त ग्रीक और रोमन साहित्य तथा कला मे भी कामदेव की कुपिड (Cupid) के रूप मे पूजा की जाती है।

---

१ शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणाना येनाक्रियन्त सतत गृहकुम्भदासा।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय॥
—भर्तृहरि, शृगार० १

२. विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कज सुललित दृष्ट्वैव मोह गता।
शाल्यन्न सघृत पयोदधियुत ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्य प्लवेत्सागरे॥ —भर्तृहरि, शृंगार० ८०

३. क्रोध प्रभो संहरसहरेति यावद् गिर खे मरुता चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवदेहजन्मा भस्मावशेषं मदन चकार॥ —कुमारसम्भव

अमर्यादित 'काम' विनाशकारी

काम का मर्यादित आवेगोल्लास मनुष्य के जीवन को सार्थक बनाता है, उसके भविष्य मे मंगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है, और यही जब मर्यादाओ को लांघकर स्वच्छन्द हो जाता है, तो विनाश का आवाहन करता है। कल्याण-मल्ल ने कहा है कि परस्त्री-गमन से आयु की हानि, व्याकुलता, उपहास-पात्रता, निन्दा, धनहानि और परलोक मे दुर्गति होती है[1]। अत मन मे भी परस्त्री-गमन की आकांक्षा न करे। बडे-बडो को भी इस कुकृत्य का दुष्परिणाम भोगना पड जाता है। सामाजिक मर्यादा और वैवाहिक विधि का अतिक्रमण करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को नीची निगाह से देखा जाता है।

जनक-पुत्री सीता के अपहरण मे लंकेश्वर को, तारा के अपहरण से वालि को और पाञ्चाली को पकडने से कीचक को मृत्युदण्ड भोगना पडा[2]।

कलत्र, पुत्र और वाजीकरण

शास्त्रानुमोदित विधान के अनुसार 'काम' या 'वाजीकरण' का चरमोत्कर्ष स्त्री-शरीर मे निहित है। 'वाजीकरण' का सारा रहस्य स्त्री के लीलाविलास मे, स्त्री के प्रेमालाप और स्निग्ध स्नेह मे समाया हुआ है। एवञ्च कामशास्त्रानुकूल आयुर्वेद मे वर्णित देश, काल और शरीरबल के अनुरूप अनिन्द्य रति-क्रीडा ही वाजीकरण का विषय है। स्त्री वृषत्व की उद्दीपक है। स्त्री से ही ससार का सच्चा सुख है। इसलिए कामी जनो को इधर-उधर भटकने की जरूरत नही है। उनके लिए तो परमात्मा ने स्त्री-शरीर मे ही सारी इन्द्रियो की सतृप्ति का मसाला भर दिया है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

'रसिको के देखने योग्य क्या है?—मृगनयनी कामिनियो का प्रेमपूर्ण प्रसन्न मुख। सूँघने योग्य क्या है?—उनके मुख से नि सृत वाष्प। सुनने योग्य क्या है?—उनके मधुर वचन। आस्वादन योग्य क्या है?—उनका ओष्ठपल्लवरस। स्पर्श करने योग्य क्या है?—उनका कोमल शरीर। ध्यान करने योग्य क्या है?—उनका यौवन और विलास[3]।'

'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये एक-एक विषय आनन्द और स्नेह को उत्पन्न

---

१ आयु क्षति. विकलताऽत्युपहास्यता च निन्दाऽर्थहानिलघुते विगति. परत्र।
स्यादेव यद्यपि रतेन पराङ्गनाया प्राहुस्तथाप्यनघमित्यपि कारणेन॥
—अनङ्गरङ्ग ८।९

२. लङ्केश्वरो जनकजाहरणेन वाली तारापहारकतयाऽन्यथ कीचकोऽपि।
पाञ्चालिकाग्रहणतो निधन जगाम तच्चेतसाऽपि परदाररतिं न काङ्क्षेत्॥
—अनङ्गरङ्ग ८।१०

३ द्रष्टव्येषु किमुत्तम? मृगदृश प्रेमप्रसन्न मुख-
घ्रातव्येष्वपि किं? तदास्यपवन, श्रव्येषु किं? तद्वच.।
किं स्वाद्येषु? तदोष्ठपल्लवरस, स्पृश्येषु किं? तद्वपु-
ध्येयं किं? नवयौवने सहृदयै सर्वत्र तद्विभ्रमा॥
—भर्तृहरि, शृगार० ७

करते है और जब ये सब के सब एकत्र स्त्री-शरीर मे प्रतिष्ठित हो जाते है, तो फिर क्या कहना ? अर्थात् और भी मनोहर हो जाते है[1] ।'

काम अचिन्त्य शक्ति है। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति किस प्रकार जीवन को नियन्त्रित कर सुखद और सन्तानोत्पत्ति योग्य बना सकती है ? इसके सपूर्ण ज्ञान के लिए और कामशक्ति के महत्त्व को स्थिर रखने के लिए **'वाजीकरण तन्त्र'** को एक आयुर्वेदाङ्ग के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया। यह सद्गृहस्थ प्रणेता शास्त्र है। स्त्री और पुरुष के मन की एकता होना ही कामप्रवृत्ति का फल है —

'एतत् कामफल लोके यद्द्वयोरेकचित्तता' ।

मनुष्य बलवान्, शक्तिशाली, सुन्दर और धनोपार्जन मे समर्थ हो और स्त्री रूपवती, गुणवती, मनोहर, गृहकार्य मे निपुण, पतिपरायणा, प्रसन्नवदना और मुट्ठी बाँधकर खर्च करनेवाली ('नित्य प्रहृष्टया भाव्य नित्य चामुक्तहस्तया' चाणक्यनीति) हो, तो परिवार सुखी होता है।

मनुष्य की इच्छाओ मे प्रबलतम इच्छा सन्तानोत्पादन है। गरीब हो या धनी सबके मन मे यह आह्लाद का केन्द्रबिन्दु होता है। नन्हा-मुन्ना, जो धूल मे सना हुआ अपने पिता की गोद मे बैठ कर उसके चकाचक धुले उजले कपडो को मैला कर दे, अपने मूत्र से उसके वस्त्र भिगो दे, अपनी तोतली बोली और किलकारियो से हृदय को आनन्द से भर दे। यह पुत्र का वात्सल्य ही तो है, जो मनुष्य की जीवन-यात्रा को आजीवन परिवार के परिवेश मे बाँधकर रखता है[2] ।

इस ससार के सभी लौकिक व्यवहार पुत्र को केन्द्र बनाकर चलते है। तृप्ति-सन्तोष-प्रीति-सुख-जीविका-धनोपार्जन-वशविस्तार-कुलकीर्ति-यश-लोक-परलोक तथा अन्य जो भी सुखदायक कार्य किये जाते है, वे सभी पुत्र-परक होते है और पुत्र भी पिता की सन्तुष्टि के लिए पिता के कार्य-व्यापार मे सलग्न रहता है[3] ।

वाजीकरण : एक आवश्यकता

पूर्वोक्त सन्दर्भों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि **'वाजीकरण तन्त्र'** को स्वतन्त्र आयुर्वेदाङ्ग मानना एक सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक आवश्यकता है, क्योकि इस तन्त्र मे निम्नाङ्कित विशेषताएँ है —

१ इस तन्त्र मे गर्भोत्पत्तिकारक उत्कृष्ट शुक्र की उत्पत्ति करनेवाली औषधो और उपायो को बतलाया गया है। **जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सन्तानोत्पादन,**

---

१. इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था हर्षप्रीतिकरा परम् । किं पुन स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिता ॥
—अ० हृ० उ० ४०।३८

२ आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवच प्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति ॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल

३ प्रीतिर्बल सुख वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम् । यशो लोका सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिता. ॥
—चरक० चि० २।१।२१

और उसमे समर्थ शुक्र के निर्माण तथा उसको गुण-सम्पन्न बनाने के लिए वाजीकरण तन्त्र उपदेश करता है।

२ यह तन्त्र पुरुष को अधिक वीर्य सम्पन्न बनाने के लिए औषधो के सेवन का उपदेश करता है, जिससे पुरुष पुत्र-सन्तान ही उत्पन्न करे, क्योंकि शुक्र की प्रबलता और अधिकता होने पर पुत्र ही उत्पन्न होता है[1]। वाजीकरण औषध का सेवन करने पर पुरुष का शुक्र मात्रा तथा शक्ति की दृष्टि से प्रबल हो जाता है, अत वह स्त्री की स्त्रीत्व-गुणविशिष्ट कन्या सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति को पराभूत कर 'पुत्र' को ही उत्पन्न करता है।

३ स्त्री की काम-शान्ति और पुरुष को कामसुख की प्राप्ति वाजीकरण से होती है।

४ यह गर्भधारण के साथ गर्भपोषण भी करता है।

५ यह क्षीण, अल्पवीर्य, रिरसु पुरुषो को वीर्य-सम्पन्न बनाकर उन्हे सभोग-क्रिया के योग्य बनाता है।

६. यह रमणेच्छा बढाने, स्तम्भन, चिरवेग आदि के लिए औषध और उपाय बतलाता है।

७ यह नपुसकता एव मानसिक क्लैब्य आदि विकारो को दूर कर प्रेमपूर्वक सानन्द, स्वस्थ तथा सुखी जीवन के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

८. वाजीकरण का उच्च लक्ष्य है—पशुवृत्तिमूलक कामवासना पर विजय पाकर सद् गृहस्थ बनाना, जिससे पुरुष ब्रह्मचर्य और मन की एकाग्रता द्वारा मर्यादानुसार ससार का व्यवहार चला सके। यह शास्त्र मोहग्रस्त बनाने के लिए नही है, अपितु इसलिए है, जिससे पुरुष गृहस्थाश्रम मे रहकर इस प्रकार कामोपभोग करे, जिससे धर्म की रक्षा हो तथा उसका लोक-परलोक सुखदायक बन सके एव वह गृहस्थाश्रम मे रहकर जितेन्द्रिय बन सके।

९ मानव के चरित्र को उच्च बनाने के लिए वीर्यरक्षा, सन्तानोत्पत्ति और कामसुखोपभोग के लिए वाजीकरण तन्त्र का महान् योगदान है। यह विज्ञान और कला दोनो है। यह प्रेम की चिनगारी को शोला बनने से रोकने का फन है। यह इस मिट्टी-जल आदि पञ्चभूतो से बने मनुष्य को महान् मे महत्तम बनाने का प्रयोग है। वीर्य के जौहर को बचाकर मनुष्य देवता बन सकता है।

वाजीकरण का इतिहास चिरनूतन और सततगामी है, क्योंकि इसकी धारा का प्रवाह अविश्रान्त गति से चलता ही रहता है। यह पुरुष को पौरुष और पराक्रम का पाथेय देकर ससार-चक्र को चलाने की शक्ति देता है। इसका इतिहास जितना ही रोचक है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है।

---

१ तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकम्।
—सुश्रुत० शारीर० ३।५

× ×

'रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्र शुक्रेण।' —चरक० शारीर० २।१२

वाजीकरण की परिभाषा

(१) वाजीकरण तन्त्र या शास्त्र—

अल्प, दुष्ट, क्षीण और शुष्क वीर्य वाले मनुष्यो के वीर्य की वृद्धि, उसके शोधन, पुष्टि तथा उत्पत्ति एव स्वस्थ पुरुषो मे मैथुन के समय प्रहर्ष (शिश्न की दृढता और आनन्द) को बढाने के लिए जिस शास्त्र मे औषध, आहार तथा विहार का वर्णन किया जाता है, उसे **वाजीकरण तन्त्र**[1] कहते है ।

(२) वाजीकरण औषध—

जिस औषध, आहार या विहार के सेवन से मनुष्य मे अश्व के मैथुन-सामर्थ्य के समान स्त्री-सभोग करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है और जिसके सेवन से अधिक बार मैथुन करने की शक्ति प्राप्त होती है, उस औषध, आहार या विहार को **वाजीकरण**[2] कहते है ।

वक्तव्य—उक्त परिभाषा के अनुसार वाजीकरण द्रव्यो को ३ श्रेणियो मे रखा जा सकता है[3]—

(१) **शुक्रजनक**—जैसे घी, दूध, मांस, क्षीरविदारी, शतावर, मुसली, बादाम वला चतुष्टय, सेमर की गोद, पौष्टिक भोजन, रसायन आदि । शुक्र-वृद्धि अधिक होने से अश्व जैसा सामर्थ्य होकर वाजीकरण शक्ति प्राप्त होती है ।

(२) **शुक्र-प्रवर्तक**—जैसे माष, अकरकरा, केवाँच, शराब, कपूर, धतूरा, जुन्देवेदस्तर एव स्त्री-स्पर्श आदि । इनके प्रयोग से बार-बार मैथुन की प्रवृत्ति होती है ।

(३) **जनक-प्रवर्तक**—जैसे भाँग, गाँजा, कस्तूरी, कुचला, सालममिश्री आदि ।

वाजीकरण द्रव्य

जिस द्रव्य के सेवन से पुरुष बलवान् होकर अपनी इच्छानुसार स्त्रियो के साथ सभोग करता है और शीघ्र ही सन्तान प्राप्त करता है, उसे **वाजीकरण** कहते हैं ।

वक्तव्य—वाजीकरण के तीन कार्य प्रमुख है । जैसे—१ शरीर तथा मन के बल का सवर्धन, २ इच्छानुसार मैथुन के सामर्थ्य की उपलब्धि और ३ गुणी सन्तान की उत्पत्ति तथा वाजीकरण के ऐसे योगो का वर्णन जो चरकसहिता के चिकित्सास्थान अध्याय २ मे दिये गये है ।

वाजीकरण के पर्याय

चरकाचार्य ने भेषज (चिकित्सा) को द्विविध बतलाया है—१. स्वस्थ व्यक्ति

---

१. वाजीकरणतन्त्र नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्त प्रहर्ष-जननार्थञ्च । —सुश्रुत० सूत्र० १।१६

२. येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नर. । व्रजेच्चाभ्यधिक येन वाजीकरणमेव तत् ॥ चरक० चि० २।४।५१

३. शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चित् शुक्रविवर्धनम् । स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविध वृष्यमुच्यते ॥

की शक्ति को बढाने वाला और २ रोगाक्रान्त व्यक्ति के रोग को दूर करने वाला। किन्तु यह कथन प्रायिक है, अर्थात् अधिकाशत जो औषध स्वस्थ व्यक्ति की शक्ति को बढाती है, वह रोग को भी दूर करती है और जो रोग को दूर करती है वह भी शरीर की शक्ति को बढाती है, अर्थात् दोनो तरह के भेषजीय द्रव्य दोनो कार्य (१ स्वस्थ ऊर्जस्करण और २ रोगनाशन) करते है[1]।

इस दृष्टि से स्वस्थहित वृष्य या वाजीकरण भेषज का एक प्रकार है और चिकित्सा के पर्याय शब्द उसके भी पर्याय है और वे है—

१. चिकित्सित, २ व्याधिहर, ३ पथ्य, ४ साधन, ५ औषध, ६. प्रायश्चित्त, ७. प्रशमन, ८ प्रकृतिस्थापन और ९ हित—ये भेषज के पर्याय है[2]।

वाजीकरण के अन्य पर्याय

वाजीकरण, वृष्य, ऊर्जस्कर, ओजस्कर, कामोत्तेजक, पुम्स्त्व—ये परस्पर पर्यायवाची शब्द है।

वाजीकरण शब्द की निरुक्ति

(१) 'वज गतौ' (भ्वादि) धातु से 'वजन' शब्द बनता है और 'वजन' से 'वाज' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—शुक्र का वेग। जो व्यक्ति 'वाज' अर्थात् शुक्रवेग-सम्पन्न है, उसको 'वाजी' कहते है एव 'अवाजी' (शुक्रवेग-हीन) को 'वाजी' अर्थात् शुक्रवेग युक्त बनाने की क्रिया को **वाजीकरण** कहते है—

'वजन वाज शुक्रस्य वेग, स विद्यते येषान्ते वाजिन, अवाजिनो वाजिन क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम्'।

(२) जिसके द्वारा पुरुष घोडे की तरह मैथुनकर्म करने की शक्ति प्राप्त करता है, उस औषध एव आहार-विहार या कला अथवा उपाय को **वाजीकरण** कहते है—

'येन स्त्रीषु विषये नरो वाजीव शक्ति प्राप्नोतीति तद् वाजीकरणम्'।

(३) जिन औषध या आहार-विहारो से बार-बार मैथुन करने की प्रवृत्ति होती है, उसे **वाजीकरण** कहते है—

'येन वाऽत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्र तद् वाजीकरणम्'।

(४) वाज का अर्थ मैथुन है, और मैथुन-सामर्थ्य-सवर्धन को **वाजीकरण** कहते है और पौरुष या पुस्त्वशक्ति ही वाजीकरण के नाम से कही जाती है—

---

१ भेषज द्विविध च तत्।
स्वस्थस्योर्जस्कर किञ्चित् किञ्चिदार्तस्य रोगनुत्॥
स्वस्थस्योर्जस्कर यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम्।
प्राय, प्रायेण रोगाणा द्वितीय प्रशमे मतम्।
प्राय-शब्दो विशेषार्थो ह्युभय ह्युभयार्थकृत्॥ —चरक० चि० १।१।४-६

२. चिकित्सित व्याधिहर पथ्य साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्त प्रशमन प्रकृतिस्थापन हितम्॥
विद्याद् भेषजनामानि । —च० चि० १।१।३-४

'किं वा वाजो मैथुन तथा च हारीत —

वाजो नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसज्ञितम् ।
वाजीकरणसज्ञाभि पुस्त्वमेव प्रचक्षते' ॥

(५) जिस वस्तु का विधिपूर्वक सेवन कर मनुष्य घोडे के समान अत्यन्त वेगवान् बनकर स्त्रियो को सन्तुष्ट करता है, उसे **वाजीकरण** कहते है —

'सेवमानो यदौचित्याद् वाजीवात्यर्थवेगवान् ।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते' ॥ (सुश्रुत० चि० २६।६)

(६) जिसके सेवन से पुरुष अत्यन्त बलवान् हो जाता है, अश्व के समान मैथुनशक्ति-सम्पन्न होता है, रमणियो का प्रेमी बन जाता है, शरीर से पुष्ट हो जाता है और जिससे 'ओजस्' बढता है, वह **वाजीकरण** कहलाता है ।

इन सन्दर्भो से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस औषध या आहार-विहार का विधिपूर्वक सेवन करने से नर-नारी परस्पर सन्तोष एव प्रेम-पुष्टि प्राप्त करते है, गुणवान् सन्तान तथा पुत्र-पौत्रादि वशवृद्धि एव मैथुन की पुन पुन अभिलाषा और वेग प्राप्त करते है, वह सभी **वाजीकरण** है । जैसा कि वाग्भट ने कहा है —

'अपत्यसन्तानकर यत् सद्य सम्प्रहर्षणम् ।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गना ॥
भवत्यतिप्रिय स्त्रीणा येन येनोपचीयते ।
तद् वाजीकरण विद्धि देहस्योर्जस्कर परम्' ॥
(अष्टाङ्गहृदय, उत्तर० ४०।२—३)

वाजीकरण का प्रयोजन और फल

१ ससार की निरन्तरता और प्राणिजगत् की वशवृद्धि हेतु ।

२ पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए ।

३ बल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम की वृद्धि तथा सुरतानन्द सुखोपभोगार्थ ।

४ ब्रह्मानन्दसहोदर स्त्री-सम्भोगानन्द के यथेष्ट अवसर पाने के लिए ।

५ सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति और विश्वात्मा की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि स्त्रीजन की के निमित्त ।

६ सर्वानन्दाधिष्ठान, सन्तानरूपी अमृत के स्रोत, जननेन्द्रिय के पुस्त्वजागरणार्थ ।

७ अल्प, दुष्ट, क्षीण व शुष्क वीर्य पुरुषो के वीर्य की वृद्धि, शोधन, पोषण और उत्पत्ति के लिए ।

८ मैथुन के समय कामीजनो के शिश्नोत्तेजना एव शिश्नकाठिन्य के लिए ।

९ चिरकाल तक वीर्यस्तम्भनपूर्वक कामिनीजन-सभोग एव अनुरञ्जनार्थ ।

१० ससार के सर्वोत्तम सुख रतिकर्म मे प्रहर्षणपूर्वक पूर्णसामर्थ्य-प्राप्त्यर्थ ।

११ अश्व के समान विषयभोग की शक्ति के सवर्धन तथा शुक्रजनन-प्रवर्तनार्थ ।

१२ काम्यता, मनस्तुष्टि, तेज, विक्रम, वर्ण, स्वर एव अजस्र यौवन सरक्षणार्थ ।

१३ शारीरिक या मानसिक क्लेश से सन्त्रस्त होने पर भी जो मैथुनाभिलाष से युक्त हो, उनके शरीर को क्षीण होने से बचाने लिए।

१४ शरीर-सौन्दर्य, त्वक्स्निग्धता, वीर्य की समृद्धि और उत्तम बलवर्ण-लाभार्थ।

१५. प्रसन्नचित्त रहते हुए, सुन्दरस्वरूपा, यौवनस्था, वृष्यतमा रतिविलासवती कामिनियो के साथ आठ वर्ष के घोडे के समान वेगयुक्त होकर मैथुन करने के सामर्थ्य-लाभ के लिए वाजीकरण का सेवन करना कामी सहृदय प्रेमीजनो का मधुर कर्तव्य है। इन्ही प्रयोजनो तथा लाभो के लिए वाजीकरण सेवनीय है[1]।

उपर्युक्त प्रयोजनो और लाभो के लिए गृहस्थाश्रम-निवासियो को वाजीकरण आहार, औपध और विहार के सेवन मे रुचि लेनी चाहिए।

वाजीकरण के योग्य पुरुष

१. जितेन्द्रिय	'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्'[2]।
२ अपत्यार्थी	'तस्मादपत्यमन्विच्छन्'[3]।
३. कामसुखार्थी	'इच्छन् कामसुखानि च'[4]।
४ उपभोगसुखार्थी	'उपभोगसुखान् सिद्धान्'[5]।
५ वीर्यवर्धनार्थी	'वीर्यापत्यविवर्धनान्'[6]।
६ पुत्रार्थी वृद्ध	'पश्यत्यपत्य विपुल वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम्'[7]।

१. (क) वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च॥
पुत्रस्यायतन ह्येतत् गुणाश्चैते सुताश्रया.। —च० चि० २।१।३-४

(ख) एतै· प्रयोगैर्विधिवद्वपुष्मान् वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्त।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत् समर्थश्च वराङ्गनासु॥ —च० चि० २।२।१०

(ग) सेवमानो यदौचित्याद् वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते॥
एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदा।
सेव्या विशुद्धोपचितदेहै कालाद्यपेक्षया॥ —सुश्रुत० चि० २६।६, ३९

(घ) अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यः सम्प्रहर्षणम्।
वाजीवातिवलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गना॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
तद्वाजीकरण विद्धि देहस्योर्जस्कर परम्॥
सेव्या सर्वेन्द्रियसुखा. धर्मकल्पद्रुमाङ्कुराः।
विषयातिशया. पञ्च शरा· कुसुमधन्वन॥ —अष्टाङ्गहृ० उ० ४०।१-३, ३७

(च) नि सारे जगति प्रपञ्चनिलये सार कुरङ्गीदृशा-
मेकं भोगसुख परात्मपरमानन्देन तुल्य विदु। —अनङ्गरङ्ग ११५

२. च० चि० २।१।३। ३. च० चि० २।१।२२। ४. च० चि० २।१।२२।
५. च० चि० २।१।२३। ६ च० चि० २।१।२३। ७. च० चि० २।२।९।

७ अश्ववत् यथेष्ट मैथुनार्थी	'शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छ स्त्रियो नर '[1] ।
८ युवा की तरह प्रहर्षार्थी वृद्ध	'जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति । 'नरोऽपत्य सुविपुल युवेव च स हृष्यति'[2] ॥
९ अश्ववत् रमण तथा गजवत् शुक्रसेचनार्थी	'य इच्छेदश्ववद् गन्तु प्रसेक्तु गजवच्च य '[3] ।
१०. इच्छानुसार स्त्री-गमनार्थी	'यावदिच्छ स्त्रियो व्रजेत्'[4] ।
११ वृद्ध १२ कामी-रिरसु १३ स्त्रीप्रियत्व कामी १४ सभोग-क्षीण १५. नपुसक १६ अल्पवीर्य १७ विलासी पुरुष १८. धनवान् १९ रूपवान् युवा २० बहुस्त्रीक	'स्थविराणा रिरसूना स्त्रीणा वाल्लभ्यमिच्छताम् । योषित्प्रसङ्गात् क्षीणाना क्लीबानामल्परेतसाम् ॥ विलासिनामर्थवता रूपयौवनशालिनाम् । नृणा च बहुभार्याणा योगा वाजीकरा हिता '[5] ॥
२१ विषयी पुरुष	'वाजीकरणमन्विच्छेत् सतत विषयी पुमान्'[6] ।
२२ पुष्टदेह	'एतेऽपि पुष्टदेहाना सेव्या कालाद्यपेक्षया' ।
२३ सन्तानार्थी वृद्ध	'जीर्यतोऽप्यक्षय शुक्र फलवद् येन लक्ष्यते' ।
२४ बलवर्णस्वरार्थी	'बलवर्णस्वरोपेत पुमास्तेन वृषायते'[7] ।
२५ स्तम्भनार्थी	'तृप्ति चटकमासाना गत्वा योऽनुपिबेत् पय । न तस्य लिङ्गशैथिल्य स्यान्न शुक्रक्षयो निशि'[8] ॥
२६ १६ से ७० वर्ष तक की आयु	'वयो नव जातमदश्च काले हर्षस्य योनि '[9] ।

वाजीकरण के अयोग्य पुरुष और काल (आयु)

१ सोलह वर्ष से कम[10] आयु का बालक वाजीकरण के अयोग्य होता है, क्योंकि रस-रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र — ये सात धातुएँ उसके शरीर मे पूर्णतया

१. च० चि० २।२।१३ । २. च० चि० २।२।१७ । ३. च० चि० २।२।२९ ।
४. च० चि० २।४।३ । ५. सु० चि० २९।४-५ । ६. अष्टाङ्गहृ० उ० ४०।१ ।
७. च० चि० २।२।२६ । ८. च० चि० २।१।४६ । ९. च० चि० २।३।३० ।
१०. नर्ते वै षोडशाद् वर्षाद् सप्तत्या परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभि संयोग कर्तुमर्हति ॥ —च० चि० २।४।४०

विकम्पित नही हुई होती है। यदि वह स्त्री-सयोग करता हे, तो वह उसी प्रकार क्षीण या शुष्क हो जाता है, जैसे अल्प जलवाले तालाब शीघ्र ही सुख जाते हैं[1]।

२ सत्तर वर्ष की आयु पार कर जाने वाला वृद्ध व्यक्ति वाजीकरण-सेवन के अयोग्य होता है, क्योंकि जिस प्रकार सूखा, रूक्ष, कृमि-भक्षित, जीर्ण-शीर्ण काष्ठ स्पर्शमात्र से शीघ्र ही टूट जाता है, उसी प्रकार वृद्ध पुरुष स्त्री-सगम करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[2]।

३ वृद्धावस्था, चिन्ता, रोग, साहसिक कार्य, अनशन अथवा अधिक स्त्री-सभोग करने के कारण जिनका शुक्र बिलकुल क्षीण हो गया हो, वे वाजीकरण के अयोग्य हे।

इसी प्रकार निम्नाङ्कित लोग भी वाजीकरण के अयोग्य हैं—

४ साधु-महात्मा और ब्रह्मचारी।

५. स्त्री-विहीन विधुर।

६ अविवाहित।

७ अजितेन्द्रिय-चञ्चलचित्त।

८ इन्द्रिय विषयो मे अति आसक्त।

९ गुप्तरोगो से ग्रस्त।

१० सोलह वर्ष से कम और सत्तर से अधिक आयु वाले।

ऋतु के अनुसार वाजीकरण-योग्य काल

'काल' एक ऐश्वर्यशाली सत्ता है, जो अपनी सूक्ष्म 'कला' तक भी नही ठहरता है। न उसका आदि है, न मध्य है और न अन्त हे। वह स्वयम्भू है, अर्थात् किसी से उत्पन्न नही है। मधुर आदि रसो की विकृति और सम्पत्ति तथा प्राणियो का जीवन और मरण काल के ही अधीन हे। यह काल ही है, जो प्राणियो को सुख-दु ख के साथ सयोजित करता है।

'काल' की एक व्यावहारिक इकाई 'सवत्सर या वर्ष' है। एक वर्ष मे छह ऋतुएँ होती है और दो-दो महीने की एक-एक ऋतु होती है, जैसे —

१ सावन—भादो	=	वर्षा।
२ आश्विन—कार्तिक	=	शरद्।
३ अगहन—पूष	=	हेमन्त।
४ माघ—फाल्गुन	=	शिशिर।
५ चैत्र—वैशाख	=	वसन्त।
६ ज्येष्ठ—आषाढ	=	ग्रीष्म।

ऋतु के अनुसार जो 'कामवर्धक' काल बतलाया गया है, वह काल हर्ष या

१. अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातु स्त्रियं व्रजन्। उपशुष्येत सहसा तटागमिव काजलम्॥ —च० चि० २।४।४१

२ शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम्। स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्॥ —च० चि० २।४।४२

कामानन्द का वर्धक होता है। चिरकाल तक स्त्री-सहवास सुखोपभोग करने योग्य लम्बी रातें, नई तरुणाई और मदिरापानजन्य मतवालापन जब हो, तो वह काल वाजीकरण[1] योग्य होता है।

वर्षा

जब अम्बर का अञ्चल नील अम्बुदमालाओ से आच्छन्न हो, मयूर की श्रोत्राभिराम केका ध्वनि का गुञ्जन हो, विद्युत् का उद्योत, कोमल श्यामल शष्पावृत अवनीतल पर रह-रह कर अपनी भाव-भगिमाभरी रश्मियो का नर्तन दिखा रहा हो, गगनमण्डल मे अल्प जलवर्षी किन्तु प्रचण्ड गर्जन-तर्जन वाले वादलो की उमड-घुमड हो और भूतल के वातावरण मे कदम्व, नीप, कुटज, सर्ज तथा केतकी के तरु अपने प्रसून का आमोद फैला रहे हो, तो ऐसी वर्षा ऋतु ललनाओ की अनुरागलालसा को उद्दीप्त करती है और नर-नारी को वाजीकरण के प्रयोग का आमन्त्रण देती है।

शरद्

वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर जव आकाश स्वच्छ होता है, तब तेज धूप निकलती है और उसका सन्ताप कामीजनो को कामज्वर-सतप्त वना देता है। छितवन, विजयसार, कास और दुपहरिया के प्रफुलित फूल उस ज्वर को वढा देते हैं। ऐसे कामीजनो के हालात को विगडने से रोकने के लिए **आचार्य सुश्रुत** ने कहा है कि—ऐसे लोगो को श्रुतिसुखद गीतो का श्रवण, मनोहर सुगन्ध युक्त माला का धारण, हल्के मदवाली मदिरा का पान और ताम्बूल चर्वण का आनन्द लेते हुए किसी उद्यान या उपवन मे खिली चाँदनी की चन्द्रिका की शीतल छाया मे स्पर्शसुखा नवयौवना कामिनी की मनोज्ञ देहयष्टि का स्पर्शसुखानुभव करना चाहिए[2]।

हेमन्त और शिशिर

हेमन्त ऋतु मे उत्तर की दिशा से ठण्डी-ठण्डी हवा चलती है और सूर्य हिमपात से आच्छादित रहता है। शिशिर मे जब रोमाञ्चित कर देनेवाली बर्फीली हवा का प्रवाह शरीर मे सिहरन उत्पन्न करता है, तो शीत से त्राण की तीनो विधाये दृष्टि के सामने आ जाती हैं—१ रूई, २ धुँई और ३ दुई। सौभाग्यशाली पुरुषो को तीसरी विधा पसन्द आती है। **आचार्य चरक** ने भी हेमन्त एव शिशिर ऋतुओ की रात्रिचर्या कुछ ऐसी ही वतलायी है—'विशाल स्तनोवाली, अगर की धूलि से अनुलिप्त अगोवाली स्वस्थ मदमाती नवयौवना का प्रगाढ आलिङ्गन[3] करना और यथेष्ट मैथुन करना शीतऋतु मे वाजीकरणसाधक है।

---

१ वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनि परमा नराणाम्। —च० चि० २।३।३०

२ यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना। गीत श्रोत्रमनोहारि ताम्बूल मदिरा स्रज ॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च। मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥

× ×
—सु० चि० २६।८-९

शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मय। —च० सू० ६।४८

३. आलिङ्गयागुरुदिग्धाङ्गीं सुप्यात् समदमन्मथ। प्रकाम च निषेवेत मैथुन शिशिरागमे ॥
—च० सू० ६।१७

वसन्त

वसन्तऋतु मे मलयगिरि के चन्दनवृक्षो पर फैली चमेली-मालती प्रभृति लताओ के आलिङ्गन से सुवासित, कामीजनो की कामेच्छा को उद्दीप्त कर उनमे कामदेव को जगानेवाली, माननियो और मानी पुरुषो के मान को मर्दित करनेवाली मलयगिरि की दक्षिणी हवा चलती है। दिशाएँ वन-उपवन मे फूले पलाश, वकुल, आम्र और अशोक आदि के पुष्पो से सुशोभित तथा कोकिलालाप और भ्रमरो के गुञ्जन से मनोहर होती है। ऐसी काम के उद्दाम आयुधो से सुसज्जित वसन्तसेना के मामने कोई भी गृहस्थाश्रमी अपने कौपीन या आँचल को सभाल पाये, यह सम्भव नही है[1]। अतएव चरकाचार्य[2] ने कामवासना को सन्तुलित वनाने के लिए वसन्त ऋतु मे काननो और कामिनियो के यौवन का अनुभव करने की सलाह दी है। अनुभव का तात्पर्य सयमपूर्वक सहवास से है। शीतऋतु की तरह इस ऋतु मे यथेष्ट स्त्री-प्रसङ्ग वाञ्छनीय नही है।

ग्रीष्म

इस ऋतु की विशेषता यह है कि इसके दिन इतने लम्वे होते हैं कि जल्दी बीतते ही नही और दिन काटने के लिए सभी प्रकार के शील, भय, लज्जा आदि भावो का परित्याग कर कान्तावाहुलता के आश्लेष की शरण लेनी पडती है। ग्रीष्मज ताप को दूर करने के लिए जलयन्त्र (फव्वारे), चाँदनी, मन्द पवन, मनोहर महलो की अट्टालिका या गर्भगृह और स्वच्छ चन्दनरसानुलिप्तगात्रा मृगनयनीजनो का साहचर्य तापशामक और वाजीकरण होता है।

चाहे शीतऋतु हो, वसन्त हो, ग्रीष्म हो, वर्षा या शरद् हो, वुद्धिमान् व्यक्ति को देश, काल, शरीरवल और मानसिक वल के अनुसार ही वाजीकरण का प्रयोग करना चाहिए।

वाजीकरण आहार

गेहूँ, अगहनी-साठी या वासमती चावल, ज्वार, उडद, अरहर, रुचिकर शाक-सब्जी, दूध, दूध के वने पदार्थ, मक्खन, मलाई, खोया की मिठाइयाँ, मयूर-हस-चटक (गौरैया)-मुर्गा-घडियाल-नक्र का मास, रोहू और सिधरी मछली, घृत, पिस्ता, बादाम, चिरौंजी, उत्तम आम, केला, किसमिस-मुनक्का आदि का सेवन, मनोऽनुकूल चित्र-विचित्र पकवान और विविध पेय पदार्थों का सेवन वाजीकर शक्ति का सवर्धन करता है।

---

१. सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते।
मधुरमधुरविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा॥ —भर्तृहरि, शृङ्गार० ८६

× ×

वसन्तेऽनुभवेत् स्त्रीणां काननानां च यौवनम्। —च० सू० ६।२६

२ अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रतरा मृगाक्ष्यो धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च।
मन्दो मरुत् सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति॥
—भर्तृहरि, शृङ्गार० ८७

वाजीकरण औषध द्रव्य[1]

जो भी द्रव्य रस मे मधुर, स्निग्ध, जीवन, बृंहण, गुरु और मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं, उन सबको वृष्य कहा जाता है। जैसे—

१ शुक्लवर्ग—जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा विधारा, श्वेत और रक्त घुमुची।

२ जीवनीयगण—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी।

३ बृंहणवर्ग—क्षीरिणी, राजक्षवक, असगन्ध, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेत-बला, पीतबला, वनकार्पास, विदारीकन्द और केवाँच।

४ बलवर्धनगण—ऐन्द्री, केवांच, शतावर, माषपर्णी, विदारीकन्द, असगन्ध, शालिपर्णी, रोहिणी, बला और अतिबला।

५ क्षीरसंजननवर्ग—वीरण, शालि, षष्टिक, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा, इत्कट और कत्तृणमूल।

ये औषधें वृष्य दुग्ध के साथ प्रयुक्त होने से शुक्रप्रजनन अंगों को शुद्ध कर अधिक शुक्र उत्पन्न कराकर वृष्यता लाती हैं।

६ शुक्ल और वाजीकरण—स्वर्णभस्म, रससिन्दूर, केवांचबीज, विदारीकन्द, सालममिश्री, जायफल, जावित्री, उडद, जुन्दबेदस्तर मे कामोत्तजक गुण अधिक हे।

७ वीर्यवर्धक—तालमखाना बीज, मुसली, सेमल का मूल, सेमल की गोद, मुक्ता, प्रवाल, जीवन्ती, सिघाडा, चिरौजी आदि।

८ कामोत्तेजक—भाँग, गाँजा, धतूरा, कुचला, कर्पूर, प्याज, अकरकरा आदि।

वाजीकरण मनःस्थिति

मनपसन्द सुन्दर उद्यान या मनोरम नदीतट या शैल-शिखर हो, मन के अनुकूल स्त्रियो का साहचर्य, सुन्दर साज-शय्या, प्रिय इत्र-गन्ध, सुगन्धित मालाएँ, हम-उम्र मित्रो[2] का साथ, रोगरहित विशाल मन मे मनोरथ-सिद्धि का उल्लास, नवयौवना कामिनी की मदहोश जवानी का आलम, अभिराम कामवर्धक ऋतु,[3] घृत-दुग्धप्रधान आहार, काम का नूतन उद्रेक और मन मे सर्वदा मैथुन करने का संकल्प बना रहना—ये सभी परिस्थतियाँ युवा पुरुष मे मैथुन की नित्य नूतन आसक्ति उत्पन्न करती है[4]।

---

१. यस्मात् द्रव्यात् भवेत् स्त्रीषु हर्षो वाजीकर हि तत्।

२ यच्च किञ्चिन्मनस प्रिय स्याद् रम्या वनान्ता पुलिनानि शैला।
इष्टा स्त्रियो भूषणगन्धमाल्य प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम्॥—च० चि० २।२।३१

३. ' सत्व विशाल निरुपद्रव च॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च काम' स्त्री चायुध सर्वमिहात्मजस्य।
वयो नव जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥ —च० चि० २।३।२९-३०

४ घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा। सङ्कल्पप्रवणो नित्य नर स्त्रीषु वृषायते॥
—च० चि० २।३।२०

वाजीकरण मित्र

समानकर्मा, सिद्धमनोरथ, परस्पर प्रेमानुवर्ती, किन्ही कलाओ के कुशलप्रयोक्ता, समान मनोवृत्ति और समान आयु वाले, कुलीन, महत्ता-चतुरता-शील-पवित्रतायुक्त, सदा काम की कामना करनेवाले, प्रसन्न, दुःख-शोकरहित, समान स्वभाववाले, श्रद्धालु, प्रिय और मधुर वचनवाले मित्रो के साथ विश्वासपूर्वक साथ निभानेवाले व्यक्ति मैथुन करने के सामर्थ्य से पूर्ण होते है[1]।

वाजीकरण विहार

अभ्यङ्ग, उवटन, स्नान, गन्ध, माला, भूषण, उत्तम गृह, उत्तम शय्या, सुखकर आसन, मनपसन्द नूतन वस्त्र, श्रुतिमधुर पक्षियो का कलरव, प्रिय ललनाओ के आभूषण की ध्वनि, सुगन्धित पुष्प-परागमयी मृदुल मनोज्ञ विस्तीर्ण शय्या, मन के अनुकूल अभिप्रायज्ञ स्त्रियो द्वारा किया जानेवाला संवाहन (देह दबाना)—ये अवसर ऐसे है कि इनके सुयोग से मैथुनशक्ति समृद्ध होती है[2]।

वाजीकरण और गन्ध

ज्ञानेन्द्रियो (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण) के सभी विषय (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) वाजीकरण या वाह्य सुख के आलम्बन है, जो कामानन्द को पा लेने के लिए पुरुष को उकसाते है। इन्द्रिय-विषयो की अनुभूति कामेच्छा को वढाती है क्योकि इन इन्द्रियो द्वारा जो वाह्य सम्भोग-सुख प्राप्त होता है, वह आन्तरिक सभोग के रसास्वाद का उत्प्रेरक होता हे।

अन्य ज्ञानेन्द्रियो या उनके विषयो की अपेक्षा घ्राण इन्द्रिय का कामेच्छा से घनिष्ट सम्बन्ध है।

नासिका के छिद्रो मे श्लैष्मिककला है, जिसमे किंचित् नुकीली सेल्स है। जव गन्धयुक्त द्रव्यो के अणु इन नुकीले अकुरो से टकराते है, तो सेल्स के तार अथवा गन्ध की सज्ञावह-नाडियाँ इस प्रभाव को मस्तिष्क तक पहुँचाती है, वहाँ ये पाशविक मस्तिष्क को उत्तेजित करती है। नासिका के गन्धकेन्द्र का कामाङ्ग से भी सम्वन्ध है। यही कारण है कि जो लोग कामवासना मे अधिक लिप्त रहते हैं, उनके नासिका की झिल्ली अधिकतर सूज जाया करती है। उपदशग्रस्त रोगियो की नाक विकृत होने का भी यही कारण है। जिन लोगो की कामशक्ति दूषित या क्षीण हो जाती है, उनकी गन्धशक्ति भी काम नही करती और वे वार-वार प्रतिश्याय[3] या पीनस से ग्रस्त हो जाते है।

---

१. कृतैककृत्या. सिद्धार्था ये चान्योऽन्यानुवर्तिन.। कलासु कुशलास्तुल्या. सत्त्वेन वयसा च ये ॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विता.। ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथा ॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियम्वदा। तैर्नरै. सह विश्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥
—च० चि० २।३।२१-२३

२. च० चि० २।३।२४-२५ तथा अ० हृ० उ० ४०।

नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभिताप.। —प्रतिश्यायनि०; माधवनिदान।

वैज्ञानिकों का यह कथन है कि, बड़े नथुनोंवाले व्यक्तियों की कामशक्ति प्रबल होती है और नुकीली एवं बैठी हुई सिकुड़ी नाकवालों की कमजोर। चिकित्सकों का यह मानना है कि स्त्री-पुरुषों में अलग-अलग प्रकार की गन्ध होती है। युवा स्त्रियों की यह देहगन्ध प्रायः पुरुषों में कामोत्तेजना उत्पन्न करती है। यह गन्ध मादक और दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ानेवाली होती है।

नर और मादा पशुओं की कामातुर दशा का निरीक्षण करने से पता चलता है कि नर जिस समय कामातुर होता है, मादा के अङ्ग को बार-बार सूंघता है। इस अनुभव द्वारा भी विदित होता है कि गन्ध कामवासना को उत्तेजित करने में अधिक अंश तक समर्थ है।

इसी अभिप्राय से कुसुम-शयनोरमा,[1] जूही-चमेली-मौलसिरी आदि फूलों से सुसज्जित सहवास शय्या और कस्तूरी-केसर-अगर-चन्दन-तगर आदि सुगन्ध द्रव्यों से अनुलिप्त नारी[2] कामिनियों को वाजीकरण योग्य कहा गया है।

मधुर गन्ध और सुगन्धित फूलों की माला[3] का धारण, वाजीकरण, आयुष्य, काम्य, बल-पुष्टिकारक, शोभायुक्त और मन को प्रहृष्ट करनेवाला होता है।

वास्तव में कामशक्ति-न्यूनता में सुगन्ध का व्यवहार रामबाण वाजीकरण है। सुगन्ध के बाह्य प्रयोग से मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं में गति उत्पन्न हो जाती है और हृदय से सम्बन्ध रखनेवाली रक्तवाहिनियों में एक प्रकार की सिहरन महसूस होती है। इस प्रक्रिया से मस्तिष्क के केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं और उनके तीव्र सञ्चालन गति के प्रभाव से कामाङ्गों में उथल-पुथल मच जाती है।

गन्ध द्वारा उत्तेजना उत्पन्न करने के प्रयोजन से ही आभ्यन्तर प्रयोग किये जानेवाले (खाये जानेवाले) वाजीकरण योगों में केसर, कस्तूरी, कपूर, लवंग, जायफल, जावित्री आदि सुगन्धित द्रव्यों का विशेषतया प्रयोग किया जाता है। जैसे मदनानन्द मोदक (भैषज्यरत्नावली) के योग में जटामसी, जायफल, जावित्री, तेजपात, लौंग, जीरा, कूठ, नागकेशर, तालीशपत्र, दालचीनी, सुगन्धवाला आदि गन्धद्रव्यों का प्रक्षेप किया जाता है।

'अनङ्गरङ्ग'[4] में पुरुष के जननेन्द्रिय, स्त्री के स्तन और योनि का संस्कार करने

---

१. कुसुमचयमनोरमा च शय्या किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा। —अ० हृ० उ० ४०।४६

२ 'रतिभोगक्षमा नार्यः मङ्गोचागुरुवल्लभा' तथा 'गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगा'।
—च० चि० २।३।२८-२९

३ वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिविवर्धनम्। सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्॥
—च० सू० ५।९६

४ लघु सूक्ष्मेण लिङ्गेन नैव तुष्यन्ति योषितः। तस्मात् तत्प्रीतये वक्ष्ये स्थूलीकरणमुत्तमम्॥
बला नागबला कुष्ठं वचा द्विरदपिप्पली। वाजिगन्धा ह्यरिपुरिति सर्वं समांशकम्॥
सञ्चूर्ण्य नवनीतेन लिङ्गलेपो विधीयते। मुहूर्तादतिसूक्ष्मं च वाजिलिङ्गसमं भवेत्॥
लघ्वग्नौ सार्षपं तैलं जातीपुष्पे प्रसाधयेत्। नारीगुह्यं तदभ्यङ्गाद् सुगन्धि सुरते भवेत्॥
वाजिगन्धावचाकुष्ठकणाश्वारिलवङ्गकम्। नवनीताम्बुसम्मिश्रं लेपात्कुर्यात्कुचान् पृथून्॥
—अनङ्गरङ्ग ६।३३-३५; ५१, ९७

का विधान बतलाया गया है, जिनमें सुगन्ध द्रव्यों का प्रयोग होता है, जिनमें वे स्थूल और सुगन्धित होते हैं। इसी प्रकार भर्तृहरि[1] ने भी 'वसन्तऋतु' की मादकता में सुगन्ध की कारणता को इंगित किया है।

वाजीकरणकारक प्राकृतिक परिवेश

मस्त भ्रमरपुञ्ज का गुञ्जन, प्रफुल्ल कमलवन से सुशोभित सुन्दर सलिल भरे जलाशय, जूही-वेला-चमेली-नीलकमल और मौल्शिश्री पुष्प आदि से सुगन्धित शीतल तहखाना (भूमिगृह), धवल फेनराशिवाली आह्लादित नदियाँ, नीलवर्ण वाली पहाडियों की चोटियाँ, काले-घने बादलों का आकाश में तैरते हुए दीखना, रमणीय ज्योत्स्नाधवलित चन्द्रिकामयी निशा, सुखस्पर्शी शीतल मन्द पवन, पर्वतशिखरों से निःसृत निर्झरों का तुषारसम्पात, कुंकुम-कस्तूरी-अगर-मलयज लेप से अनुलिप्त गात्रा प्रियपरिरम्भणोत्सुक कामिनियाँ, आनन्दोल्लासवर्धक सहचर, कोकिलकूजित कुसुमित वनप्रान्त, पौष्टिक एवं उत्तम भोजन-पान, श्रवण-सुखद सङ्गीत की स्वर-लहरियाँ, मधुर-सुगन्ध-गन्धमाल्य, निरुपद्रव शान्त मन की विशालता, मनोरथों की पूर्णता, तारुण्य का अरुणोदय, काम का अभिनव आवेग लिये नई उमर की मदमाती लहरों की हिलोरें, पीनपयोधरा सुसज्जित रमणी-सान्निध्य और कामवर्धक मौसम की बहार—ये सभी कन्दर्प के उद्दाम दर्प को शत-प्रतिशत कारगर बनानेवाले उसके आयुध हैं, जो भोलेबाबा से लेकर गुदड़ी ओढ़कर जाड़े की रात में सिहरते हुए भोले भिखारी तक को कामविह्वल और मदनातुर बना देते हैं[2]।

वाजीकरण-शक्तिप्रद परिस्थितियाँ

१ स्त्री के मुख, वक्ष, ऊरु, कक्ष, श्रोणि आदि कामकटिबन्धों के स्पर्शन, चुम्बन, आलिङ्गन आदि के द्वारा प्रबल कामोत्तेजना होती है।

२ निर्भीकता, रोगहीनता, व्यायामशीलता, चिन्ता-शोक आदि से मुक्ति और मस्तमौला एवं छैलछबीला बने रहना वाजीकरणकारक होता है।

३ हेमन्त-शिशिर ऋतु की रातें, औषध-प्रयोग, समृद्ध आहार-विहार, बार-बार मैथुन कर्म करने का अभ्यास और आलिङ्गन-चुम्बन आदि बाह्य संभोग के प्रयत्न करना, ये वाजीकरण शक्ति को बढ़ाते हैं[3]।

---

१. प्रथितः प्रणयवतीनां तावत् पदमातनोतु हृदि मानः।
भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभिर्मलयपवमानः॥
अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रतरा मृगाक्ष्यो धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च।
मन्दो मरुत् सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति॥
—भर्तृहरि, शृङ्गार० ८५, ८७

२ 'मत्तद्विरेफाचरिताः ... हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥ —च० चि० २।३।२६ ३०
तथा—अ० स० उ० ५० एवं अ० हृ० उ० ४०।

३. कालयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनभुवाः। केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः॥
—च० चि० २।४।७

द्वादश अध्याय

स्त्री-प्रशंसा, वाजीकरणार्थ श्रेष्ठ स्त्रियों के लक्षण एवं सन्तानहीन की निन्दा

स्त्री-प्रशंसा : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

(१) स्त्रियां विश्वस्रष्टा की सर्वोत्कृष्ट कृति हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से स्त्री को सुख-शान्ति का प्रतीक माना जाता है। उसे अर्धाङ्गिनी माना जाता है। ऋग्वैदिक काल में यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों में वह सहभागिनी होती थी। स्त्रियां विदुषी होती थीं। ऋग्वेद (१।११७, १७९, ५।२८; ६।१०, ८।९१) में उनकी रचनाएँ मिलती हैं। वे उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं। उन्हें सभी विषयों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। ऋषिकायें --गोपा, घोषा, विश्ववारा, अपाला, रोमशा आदि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचनाकार थीं। अर्थानुक्रमणी में लोपामुद्रा, शाश्वती, सावित्री आदि के नाम हैं। नारियाँ रणक्षेत्र में भी जाती थीं। विश्पला नामक स्त्री रणक्षेत्र में गयी थी, जो घायल हो गयी थी और अश्विनीकुमारों ने उनकी चिकित्सा की थी। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'हे वधू ! तू जिस घर में जा रही है, वहाँ साम्राज्ञी बनो'।

(२) **उत्तरवैदिककाल** (ई० पू० ६०० से ६०० वर्ष बाद तक)-- इस काल में स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिक प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। ऐतरेयब्राह्मण (७।१५) में पुत्र को स्वर्गतुल्य और कन्या को विपत्ति कहा गया है। इस काल में भी कुछ स्त्रियाँ विदुषी और वीराङ्गनाएँ थीं।

(३) **महाभारत और पुराण**--वनपर्व (११,२७,३७,७६) से यह ज्ञात होता है कि इस काल में स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। सिद्धा, शिवा, धारणी, मेना, वेदवती आदि स्त्रियाँ विदुषी कही गयी हैं। वनपर्व (५९-६१) से पता चलता है, कि नल की पत्नी दमयन्ती ने नल की अशक्तता में राजकाज का पूर्णरूप से सचालन किया था और अपने परिवार का पालन-पोषण किया था। जब शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ में मण्डनमिश्र को हरा दिया था तो उनकी पत्नी ने शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ किया था।

(४) **मौर्यकाल** --कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि --'एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है, क्योंकि स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिए हैं।' कौटिल्य ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये हैं। स्त्रियों के प्रति अनुचित व्यवहार करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था दी गयी। स्त्री-हत्या ब्रह्महत्यातुल्य मानी गयी। कुछ स्त्रियाँ दार्शनिक होती थीं, जो आध्यात्मिक चिन्तन-मनन करती थीं, वे विवाह नहीं करती थीं। कुछ स्त्रियां अश्वारोही या गजारोही होती थीं, जो शस्त्रास्त्र से

सुसज्जित रहती थी। कुछ सगीत, नृत्य, चित्रलेखन आदि ललितकलाओ मे निपुण थी। **मेगस्थनीज** ने चन्द्रगुप्त की महिला अगरक्षिकाओ का उल्लेख किया है। समाज मे वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। समाज मे वाराङ्गनाओ का अपना एक पृथक् स्थान था और उन्हे उपेक्षा या घृणा की दृष्टि मे नही देखा जाता था। वैशाली गणराज्य की नगरवधू **आम्रपाली** को तत्कालीन समाज मे सम्मान प्राप्त था। उसे गौतमबुद्ध को भोजन के लिए आमन्त्रण देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सौन्दर्य, यौवन और ललितकलाओ मे दक्षता के कारण जो वाराङ्गना अधिक विख्यात होती थी, वह समस्त वाराङ्गनाओ की निरीक्षिका नियुक्त की जाती थी। राजभवन मे सेवार्थ भी उनकी नियुक्ति की जाती थी। भिक्षुणीसघ की स्थापना की गयी। उनमे से तिस्सा, अभिरूपनन्दा, मित्ता, सुन्दरी नन्दा—ये 'अर्हत' पद को प्राप्त हुई।

(५) **धर्मशास्त्रकाल**—इस काल मे याज्ञवल्क्यसहिता, विष्णुसहिता, पराशर-सहिता आदि की रचना की गयी। इस काल मे स्मृतियाँ बनी। स्त्री को घर-गृहस्थी की पूरी जिम्मेदारी दी गयी और पतिपरमेश्वर की भावना को दृढ किया गया। मनु के अनुसार जो पति अपनी पत्नी तथा बच्चो का भरण-पोषण नही करता, वह राजा द्वारा दण्डनीय है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई अपनी पतिव्रता पत्नी को छोडता है, तो उसे अपनी सम्पत्ति का $\frac{1}{3}$ भाग पत्नी को देना होता है। मनु ने कहा है कि जिस घर मे स्त्रियो की पूजा या सम्मान होता है, उस घर मे देवताओ का निवास होता है[1]।

(६) **गुप्तकाल**—इस काल मे स्त्रियो की उच्च शिक्षा नही हो पाती थी। अल्प वय मे कन्याओ का विवाह हो जाता था। आश्रमवासिनी कन्याएँ इतिहास और पुराणो का अध्ययन करती थी। गुप्तकालीन ग्रन्थ 'अमरकोष' मे उपाध्याया और उपाध्यायी के उल्लेख से स्त्रियो के शिक्षिका होने का प्रमाण मिलता है।

(७) **दक्षिण भारत**—दक्षिण भारतीय समाज मे स्त्रियो का स्थान काफी ऊँचा था। उनके सामाजिक जीवन तथा कार्यो पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता था। मन्दिरो मे देवदासियाँ रहा करती थी, जो उत्सवो और पर्वो पर देवताओ को प्रसन्न करने के लिए नृत्य किया करती थी।

(८) **कामशास्त्र की दृष्टि**—१ छल-कपट से भरे इस असार ससार मे मृग-नयनी सुन्दरियो के सभोग का सुख ही एकमात्र सार है, जिसको विज्ञजन परमात्मा के परमानन्द के समान मानते है'—

'नि सारे जगति प्रपञ्चनिलये सार कुरङ्गी दृशाम्
एव भोगसुख परात्मपरमानन्देन तुल्य विदु'। (अनङ्गरङ्ग १।५)

२ स्त्री-साहचर्य के अभाव मे पुरुष अपने को अधूरा समझता है।

३. स्त्रियाँ सौन्दर्य, स्नेह, ललितकला और सुख की कोषागार है।

---

१ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। —मनु०

४ स्त्री-सहवास से ही सन्तान-परम्परा प्राप्त होती है। उसी से पुरुष की वंश-परम्परा अक्षुण्ण रहती है।

५ गृहस्थ जीवन की सुखशान्ति स्त्रियों के सन्तुष्ट रहने पर ही निर्भर है।

६ जो पुरुष प्रेमविह्वल होकर प्रतिदिन अपनी लीलाओं में कामिनियों को अनुरंजित करता है, उसी का जीवन सफल है[1]।

(९) आधुनिककाल—ब्रिटिश-शासनकाल में अनेक समाज-सुधारकों ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार का प्रयास किया। उनकी अशिक्षा, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, कुटुम्ब में सेविका के स्तर आदि विषयों पर ध्यान आकृष्ट कर सुधार की चेष्टा आरम्भ हुई और कुछ हद तक स्त्रियों का जीवनस्तर उन्नत हुआ।

स्वतन्त्र भारत में स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व के विकास का सभी क्षेत्र में अवसर मिला। बाल-विवाह एवं दहेज-प्रथा आदि पर प्रतिबन्ध लगा। पारिवारिक जीवन में जिस स्त्री को दासी समझा जाता था, वह सहभागिनी बनी। घर की आय के उपयोग का अधिकार मिला और उनमें जागरूकता आयी। उनकी शिक्षण-संस्थाएँ, व्यावसायिक और औद्योगिक संस्थाएँ खुलीं। शिक्षा के सभी क्षेत्र में उनको अवसर दिया गया। शिक्षा के फलस्वरूप उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में उनकी पैठ बढ़ी और कानून, चिकित्सा, प्रशासन, शिक्षा, पुलिस, सञ्चार-साधन, समाचारपत्र, विधानसभा, लोकसभा आदि महत्त्वपूर्ण स्थानों में उनकी योग्यता प्रमाणित हुई। उन्हें घर की चक्की-चूल्हे में सर्वथा मुक्ति तो संभव ही नहीं है, फिर भी बहुत अंश में उनकी स्वतन्त्रता पर मुहर लग गयी। अब वह केवल सेविका और उपभोग्या नहीं रह गयी है। कालिदास के शब्दों में उसने—'गृहिणी, सचिव सखीमिथ प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ' की मान्यता अर्जित की है।

(१०) आयुर्वेद—स्त्री-शरीर से इन्द्रियों के सभी विषय (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) मनोऽनुकूल स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। जब एक-एक विषय मनुष्य के मन को उन्मत्त बनाकर नचा देते हैं, तो यहाँ स्त्री-शरीर में तो वे एक समुदाय के रूप में विद्यमान हैं, इसलिए स्त्री अधिक प्रेमवती होती है। उसमें सन्तानोत्पत्ति निहित है। धर्म, अर्थ एवं लक्ष्मी स्त्री में प्रतिष्ठित है। लोक[2] की स्थिति स्त्री पर निर्भर है। एक ओर वह पूज्या वात्सल्यमयी ममता की मूर्ति माता है तो दूसरी ओर सारे कष्टों को विस्मृत करा देनेवाली प्रियतमा सहधर्मिणी भी है। वह शक्तिस्वरूपा है और मनुष्य को केवल शरीर (जन्म) ही नहीं देती, वह उसमें पूर्ण मनुष्य बनने की प्रेरणा का सम्बल भी देती है। संसार के निर्माण और उसमें झेले जानेवाले समस्त सन्त्रास से उबरने की शक्ति भी मातृसत्ता से प्राप्त होती है। हमारे यहाँ

---

१ अनुदिनमनुरागाद् रञ्जयेद् यः सलील फलमविकलमेव प्राप्नुयान्मानव स ॥
—अनङ्गरङ्ग १।६

२. च० चि० २।१।५–७।

कन्या को पतिगृह मे भेजते समय यह आशीष दिया जाता रहा है—'वीरप्रसविनी भव'।

वाजीकरणार्थ श्रेष्ठ (वृष्यतमा) स्त्रियों के लक्षण

(१) **प्रहर्ष उत्पन्न करने वाली स्त्री का वाजीकरण के सभी साधनो मे सर्वश्रेष्ठ स्थान है**[१]। ऐसी स्त्री का विशिष्ट गुण यह होना चाहिए कि उसके दर्शन या स्मरण मात्र से पुरुष का विषाद दूर होकर हर्ष की उत्पत्ति हो जाये। विषाद के बादलो की काली घटाएँ छँट कर चन्द्रहास छा जाये, प्रमादमय स्वच्छ वातावरण का माधुर्य फैल जाये। पुरुष को सर्वात्मना अपने आकर्षणपाश मे आवद्ध कर ले, तभी वह पुरुष मे कामुकता और शुक्र की प्रवर्तिनी बन सकती है तथा स्मरण-चिन्तन-स्पर्शन आदि से शुक्रप्रवर्तन कराने के कारण वह उत्कृष्ट वाजीकरण कहला सकती है।

(२) कान्ता की काया मे विधाता ने सभी इन्द्रियो के विषयो (शब्द-स्पर्श-रूप रस गन्ध) को उत्कृष्टतम रूप मे एकत्रित कर दिया है[२]। अतएव स्त्री कामोद्रेक तथा मैथुन की प्रवृत्ति उत्पन्न करने मे सर्वाधिक सफल हो पाती है। एक-एक रूप आदि विषय अपने प्रेम की डोरी का ऐसा फन्दा लगा देते है कि जिसमे प्रेमी का गला फँस जाता है[३]। फिर स्त्री के मनोहारी देह मे सभी विषय अपने उत्कृष्टतम रूप मे सगृहीत है, जिस कारण स्त्री सर्वश्रेष्ठ वाजीकरण कहलाती है।

(३) मनुष्यो की रुचि या पसन्द अपनी-अपनी अलग प्रकार की होती है[४]। जिसका मन जिस वस्तु मे लग जाता है, उसके लिए वही वस्तु सर्वोत्तम प्रतीत होती है। मनोऽनुकूल पुरुष का साहचर्य प्राप्त हो जाने पर स्त्रियो के रूप-सौन्दर्य और हाव-भाव मे निखार आ जाता है और वह वाजीकरण बन जाती है।

(४) जो स्त्री युवावस्था, सुन्दरता, मधुर वाणी, उत्तम लक्षण, शिक्षा, ललित-कला विज्ञता (सगीत-वाद्य-नृत्य दक्षता), सुसस्कृता, शृङ्गारप्रियता, हाव-भाव आदि गुणो से विभूषित और मोहिनीस्वरूपा होती है, वह श्रेष्ठ वाजीकरण होती है।

(५) जिस स्त्री का मन पुरुष के मन के अनुकूल होता है, जो पुरुष के वश मे रहती है और पति जिन विषयो मे प्रेम करता है, उन्ही विषयो मे वह भी प्रेम करती है, तो वह अपने इन गुणो के कारण पुरुष को अपने प्रेमपाश मे बाँध लेती है। ऐसी स्त्री के विरह मे पुरुष बेचैन हो जाता है और सगार को स्त्रियो से हीन समझता है। जिसके बिना पुरुष शरीर को इन्द्रियो से रहित अनुभव करने लगता है, वह स्त्री वाजीकरण होती है।

---

१ वाजीकरणमग्र्य च क्षेत्र स्त्री या प्रहर्षिणी। —च० चि० २।१।४

२ च० चि० २।१।५।

३ कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एक प्रमादी स कथ न हन्यते य सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

४ दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सिताऽपि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुर यस्य मन यत्र सलग्नम्॥

(६) जिस स्त्री को पाकर पुरुष दुनिया भर के शोक-चिन्ता-उद्वेग और भय को भूल जाता है, जिसे देखकर मन-प्राण प्रसन्न और प्रफुल्लित हो जाते हैं, शरीर का रोम-रोम रोमाञ्चित और आह्लादित हो जाता है, वह स्त्री वाजीकरण होती है।

(७) जिस स्त्री के साथ मैथुन करते समय पुरुष को ऐसा अनुभव हो कि वह पहली बार मैथुन मे प्रवृत्त हुई है, नवीना है, मानो पहली बार उसके सभोग का आनन्द लिया जा रहा है, प्रतिदिन ऐसा लगता है कि ऐसा आनन्द तो पहले कभी मिला ही नही था, जिसके साथ बार-बार सभोग करने पर भी तृप्ति नही मालूम होती है, ऐसी स्त्री अत्यन्त वृष्य मानी गयी है और पुरुष उसके हाव-भाव-शृङ्गार के वशीभूत रहता है[1]।

सम्भोग के योग्य स्त्री

सन्तान की इच्छा रखने वाले रोगरहित पुरुष को ऐसी स्त्री के साथ सभोग करना चाहिए, जो अपने गोत्र मे न जन्मी हो, वृष्य गुणो से युक्त हो, कामाभिलाषिणी हो, प्रसन्न हो, रोगरहित हो और आर्तवकाल के व्यतीत हो जाने पर स्नान कर ली हो[2]।

सन्तानवान् की प्रशंसा

१ सन्तान होने से 'पुत्रैषणा' की सफल पूर्ति होती है, और धर्म, अर्थ, प्रीति तथा यश की अभिवृद्धि होती है, क्योंकि वशपरम्परा, सम्पत्ति की रक्षा, पारिवारिक प्रेम एव यश की प्राप्ति—ये लाभ सन्तान के ही माध्यम से मिलते है।

२ जिस पुरुष को अनेक सन्ताने होती हैं, वह पुरुष बहुत मूर्तिवाला, बहुत मुख वाला, बहुत शरीर वाला, बहुत कार्य करने वाला, बहुत नेत्र वाला, बहुत ज्ञान वाला और बहुत आत्मा वाला कहा जाता है।

३ जो पुरुष अनेक सन्तान वाले होते है, उनके विषय मे यह कहा जाता है कि उनका जीवन मगलमय है, वह प्रशसा के पात्र है, उनका जीवन धन्य है, वह शक्तिशाली है और वह अनेक शाखा वाले वृक्ष की तरह अपने पुत्र-पौत्र आदि से सम्पन्न है। इस प्रकार लोग सन्तान वाले की प्रशसा करते है।

४ जिसे सन्तान है, उसे प्रेम, बल, सुख, जीविका, वशविस्तार, यश, लोक मे प्रतिष्ठा, सुखमय भविष्य और सन्तोषप्रद जीवन—ये सभी गुण प्राप्त है[3]।

---

१. च० चि० २।१।८–१५। तथा—

कलाविलासाङ्गवयो वयो विभूषा शुचि. सलज्जा रहसि प्रगल्भा।
प्रियम्वदा तुल्यमन शया या सा स्त्री वृषत्वाय पर नरस्य॥

२. अतुल्यगोत्रां वृष्या च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम्। शुद्धस्नाता व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामय॥
—च० चि० २।१।१५

३ बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रिय। बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रज.॥
मङ्गल्योऽय प्रशस्तोऽय धन्योऽयं वीर्यवानयम्। बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रज॰॥
प्रीतिर्बलं सुख वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम्। यशो लोका सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिता॥
च० चि० २।१।१९–२१

सन्तानहीन की निन्दा

१ जैसे छायाहीन, एक डालवाला, फल रहित, कुत्सित गन्ध वाला, अकेले एकान्त मे खडा कोई वृक्ष मनुष्यो का कोई उपकार नही करने से उपेक्षित और व्यर्थ माना जाता है, उसी प्रकार सन्तानहीन को आश्रयरहित, पुत्ररूपी फल से रहित तथा धर्मार्थ-काम से शून्य होने के कारण व्यर्थ जीवन वाला माना जाता है।

२ सन्तानहीन पुरुष दीवार पर बने उस दीप चित्र के समान है जो देखने मे सुन्दर है किन्तु प्रकाश नही देता। वह सूखे तालाब जैसा है, जिससे किसी की प्यास नही बुझती। जैसे ये दोनो व्यर्थ है, वैसे ही सन्तानहीन पुरुष का जीवन व्यर्थ है।

३ वह भले ही अन्य सन्तानवान् पुरुषो की तरह देखने मे प्रतीत हो, धातु-युक्त लगे, किन्तु उसमे शरीर-धारण की वैसी क्षमता नही होती। वह पुरुष के आकार का तृणनिर्मित विजूका (या धोखा) है, जो देखने भर के लिए तो पुरुष है, वस्तुत वह तृण से बने पुतले के समान व्यर्थ है।

४ सन्तानरहित व्यक्ति प्रतिष्ठाहीन, सहायकहीन (नग्न) और शून्य होता है। वह अपने चारो ओर सूनापन देखता है। वह एक इन्द्रियवाला अर्थात् खाने के लिए मुखवाला होता है। वह धर्मार्थ-काम से शून्य होता है। अपुत्र का घर सब कुछ रहने के बाद भी सूना ही रहता है —'अपुत्रस्य गृह शून्यम्'[1]।

---

१ अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुम । अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नर ॥
चित्रदीप. सर शुष्कमधातुर्धातुमन्निभ । निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तय· पुरुषाकृति ॥
अप्रतिष्ठश्च - नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना । मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्य न विद्यते ॥
—च० चि० २।१।१६–१९

त्रयोदश अध्याय

वाजीकरण का पूर्वकर्म

जिस प्रकार किसी कपडे पर रङ्ग चढाने के लिए पहले उसे धोकर साफ कर देना पडता है, क्योंकि मैले कपडे पर कोई रङ्ग नही चढ सकता, उसी प्रकार वाजीकरण के प्रयोग के पूर्व भी शरीर की वमन-विरेचन आदि पञ्चकर्म के द्वारा यथायोग्य सशुद्धि करनी चाहिए, अन्यथा मलिन शरीर मे वाजीकरण योगो के सेवन से कोई लाभ नही होता[1]। इसलिए वाजीकरण-सेवन के पूर्व पुरुष को चाहिए कि वह स्नेहन-स्वेदनपूर्वक वमन-विरेचन द्वारा शरीर का शोधन कर ले। तत्पश्चात् बल-वर्ण-वीर्यवर्धक एव सन्तानप्रद निरूह और अनुवासनवस्तियो का प्रयोग करे[2]।

यदि वाजीकरण सेवनार्थी को किसी प्रकार का शुक्र-सम्बन्धी विकार हो, तो उसे उत्तरबस्ति दे[3]।

घृत-तैल-मासरस-दुग्ध-शर्करा और मधु से सयुक्त निरूह एव अनुवासन लेने के अतिरिक्त दूध और मासरस का सेवन कराना चाहिए। ऐसा करने से शरीर इस प्रकार से सशुद्ध हो जाता है जिससे कि वाजीकरण योगो का सेवन किया जाये तो उससे शुक्र की वृद्धि हो तथा मैथुन मे हर्ष, बल एव पुत्र की प्राप्ति हो[4]।

सशोधनकर्म के द्वारा स्रोतो के शुद्ध तथा शरीर के स्वच्छ हो जाने पर उचित समय मे समुचित अल्प मात्रा मे प्रयुक्त वृष्ययोग मनुष्य मे बृहण तथा बलप्रद प्रभाव प्रकट करते है, जिससे मैथुनशक्ति की वृद्धि होती है और प्रेम का उद्रेक तथा पुत्र आदि की प्राप्ति होती है।

मैथुन के पूर्व सेवन करने योग्य पदार्थ और आचार

१ जो द्रव्य मधुर, स्निग्ध, जीवनीय, बृहणीय और गुरु गुणयुक्त हो तथा मन मे हर्ष उत्पन्न करनेवाले हो, ऐसे वृष्य द्रव्यों के सेवन से शरीर मे वाजीकरणशक्ति अर्जित करके कामवासना का वेग उत्पन्न होने पर एव स्त्री के हाव-भाव आदि से हर्ष होने पर सम्भोग के लिए स्त्री के पास जाना चाहिए[5]।

२ सहवास की प्रारम्भिक स्थिति मे मर्यादारहित होकर स्त्री के सभी अगो

---

१ तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूप, न हि वृष्ययोगा।
मिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ता. क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगा ॥ —च० चि० २।१।५१

२ पूर्वं शुद्धशरीराणा निरूहान् सानुवासनान्। बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥
—च० चि० २।४।९

३ स्निग्ध वान्त विरिक्तञ्च निरूढमनुवासितम्। योजयेत् शुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना ॥

४ अथ स्निग्धविशुद्धाना निरूहान् सानुवासनान्। घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसयुतान् ॥
योगविद्योजयेत्पूर्वं क्षीरमासरसाशिनम्। ततो वाजीकरान् योगान् शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥
—अष्टाङ्गहृ० उ० ४०।७–८

५. द्रव्यैरेवविधैस्तस्माद् भावित प्रमदा व्रजेत्। आत्मवेगेन चोदीर्णं स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षित ॥
—च० चि० २।४।३७

को स्वच्छतापूर्वक छेडना चाहिए। उसमे जितना जोश दिखलाया जा सकेगा, उतना ही अधिक वे उत्तेजित होगी। स्त्रियाँ अधिक मे अधिक शरारत पसन्द करती है। स्त्रियो के प्रति ढीठ बनना कला है—'कान्ताजने धृष्टता'। स्त्रियाँ जोशीले और प्रेम मे उन्मत्त हो जाने वाले शरारती पुरुष को पसन्द करती है। स्त्रियो की कोमलता और कठोरता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए और उनका स्वभाव समझकर ही व्यवहार करना चाहिए।

३ सीमन्त (माँग) मे अँगुलियाँ नचानी चाहिए, नेत्र और कपोल प्रदेश मे मधुर चुम्बन लेना चाहिए, दाँतो से दबाकर अधररस का पान करना चाहिए, काँख और कण्ठ मे नखों से गुदगुदी पैदा करनी चाहिए, नितम्ब और स्तनो को कसकर पकडना चाहिए तथा नाभि पर थपथपाना और गज की तरह रतिकर्म करना चाहिए[१]।

४ जिस आसन से स्त्री के नेत्र (आनन्दानुभव मे) आधे खुले और आधे बन्द-से (अर्ध-निमीलित) हो जाये, रमणानन्द मे शरीर शिथिल पड जाये, वाणी से अस्पष्ट अक्षर निकले, किन्तु अनुमान से उसका मनोभाव जाना जा सके, मदहोश होने के कारण देह मे नाखून गडाने पर उसका ज्ञान न हो और मदन-सदन मे जल स्रवित होने लगे, उसी आसन मे सभोग करना चाहिए। आमतौर मे सभी स्त्रियाँ उत्तान रीति (चित लेटकर मैथुन कराना) पसन्द करती है, क्योकि इसमे गर्भाशय के मुख और ऊपरी भागो मे दवाव का अनुभव अधिक होने से खूब आनन्द प्रतीत होता है[२]।

५ 'काम' भी एक कला है। 'कला' आनन्द और सौन्दर्य का मिलन-विन्दु है। 'कला' एक उच्चकोटि की अभिव्यक्ति है, जिसका रसास्वाद ब्रह्मानन्द के समकक्ष माना जाता है। कामकलाओ का उपयोग जीवन का भरपूर आनन्द लेने के लिए किया जाता है। कामकलाओ की सख्या ६४ है। रतिक्रीडा भी एक कला है, क्योकि इसमे स्त्री-पुरुषो को एक-दूसरे के स्वभाव तथा प्रवृत्तियो को समझकर दक्षतापूर्वक व्यवहार करना पडता है।

६ **सम्भोग** दो भागो मे विभक्त है—१ वाह्य उपचार और २ आन्तरिक उपचार। वाह्य उपचार को 'उपभोग' कहा जाता है और आन्तरिक उपचार को 'सुरत' (वास्तविक सहवास) कहा जाता है। बुद्धिमानी इसी मे है कि पहले आलिङ्गन-चुम्बन इत्यादि वाह्य उपचारो से स्त्री को रजामन्द कर ले, तब सम्भोग करे।

वाह्योपचारो मे जो पुरुष जितना दक्ष होता है, वह सम्भोग का उतना ही अधिक आनन्द स्वय भी प्राप्त करता है और प्रेयसी को भी अतिशय आनन्दित करता है।

---

१ (क) सीमन्ते करज ददीत नयने गण्डेऽपि सञ्चुम्बन
दन्तेनाधरखण्डन च नखरै कक्षा सकण्ठां लिखेत्।
श्रोणीं चाथ कुच करेण सुदृढ गृह्णीत नाभौ पुन
सन्दद्यात्तु चपेटक स्मरगृहे मातङ्गलीलायितम्॥ —अनगरग ९।२

(ख) 'गजवच्च प्रसिञ्चन्ति'। —च० चि० २।४।६

२. बन्धेन येन रमणी विनिमीलिताक्षी स्रस्ताङ्गका त्रुटितवागनुमेयरावा।
विस्मृत्य देहमभितो नखपीडितानि द्रावंस्रवा भवति तेन रतेन भोग्या॥

मैथुन के पश्चात् कर्म

पुरुप को मैथुनकर्म की परिसमाप्ति के वाद कुछ नियमो का पालन अवश्य करना चाहिए, जिससे वीर्य और वल की क्षतिपूर्ति हो सके। जैसे —

१ सामान्यत स्त्री-सभोग के वाद (गर्मियो मे) स्नान करके अथवा (शीत-ऋतु मे) जननेन्द्रिय का प्रक्षालन करके गोदुग्ध या मासरस पीकर पुन सो जाना चाहिए। ऐसा करने से पुरुप के नष्ट हुए वीर्य तथा वल पुन समृद्ध हो जाते हैं[1]।

२ सम्भोग के पश्चात् केशर, अम्बर, सालमपजा, विदारीकन्द, असगन्ध, जायफल—इनमे से जो-जो उपलब्ध हो, उनका चूर्ण उचित मात्रा मे और मिश्री मिलाया हुआ सुखोष्ण दुग्ध का पान करना चाहिए।

३. चन्द्रोदय गुटिका, मकरध्वज, रससिन्दूर—इनमे से जो मिले उचित मात्रा मे गोदुग्ध के साथ ले।

४ रूमीमस्तगी ९ ग्राम और वैगन के वीज ३ ग्राम पीसकर अगर के इत्र से मिर्च के वरावर गोलियाँ वनाये। उसमे से १—२ गोली दूध मे साथ खाना चाहिए।

५. मुलहठी का चूर्ण ३ ग्राम, घृत ३ ग्राम और मधु ६ ग्राम मिलाकर सेवन करे।

६ अष्टवर्ग की औषधो का चूर्ण ३ ग्राम दूध मे मिलाकर लेना चाहिए।

७ मुलहठी, विदारीकन्द एव शतावर के समभाग का चूर्ण ३ ग्राम दूध के साथ लेना चाहिए।

८ पका केला घी और मिश्री के साथ खाना सद्य वलकारक होता है।

वाजीकरण सेवन में पथ्य

आहार—गेहूँ, जौ, वासमती चावल, ज्वार, वजरी, अरहर की दाल, औटाया हुआ मिश्री मिला दूध, रवडी, मलाई, मक्खन, खोया, रसगुल्ला, मोतीचूर-लड्डू, श्रीखण्ड, घृत, आम, केला, काजू, किसमिस, अखरोट, वादाम, पिस्ता, चिरौजी, रुचिकर शाक-भाजी आदि तथा पौष्टिक पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

विहार—शरीर की शक्ति की आधी मात्रा मे व्यायाम करना चाहिए—'अर्ध-शक्त्या निषेव्यस्तु वलिभि स्निग्धभोजिभि' (अ० हृ० सू० २)। शरीर मे चन्दनादि तैल की मालिश तथा उवटन लगाकर स्नान करना चाहिए। सुगन्धित मनोहर पुष्पमाला धारण करे तथा इत्र लगाये। नवयौवनाओ के द्वारा शरीर का अभ्यग और सवाहन कराये। रमणीय उद्यान मे हमउम्र विनोदप्रिय सहचरो का साहचर्य, उत्तम आसन-बिस्तर पर लेटना, पक्षियो का कलरव और मधुर सगीत ध्वनि-श्रवण, आभूषणो की झनकार तथा नववयस्का कामिनियो से एकान्त वार्ता, शृङ्गारिक प्रसङ्ग एव गुप्त वार्ता आदि कामेच्छा को प्रवल वनाने वाले भाव है।

---

१ स्त्रियं गच्छेत् पयः पीत्वा गत्वा चानुपिबेत् पयः।

× × ×

गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रस वाऽनु शयीत ना। तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्र च बलमेव च॥
—च० चि० २।४।३८

वाजीकरण में अपथ्य

अधिक लालमिर्च, गुड, खटाई, अत्यन्त व्रत-उपवास, अति स्त्रीप्रसङ्ग करना या स्त्री से अधिक अलग रहना, चिन्ता-शोक-भय आदि से ग्रस्त रहना, दिन मे सोना, रात मे जगना, ज्यादा शीत या ज्यादा गर्मी मे रहना, वृद्धा के साथ सम्भोग करना, हीग, राई, वैंगन, सहिजन, करेला इत्यादि तिक्त या कषायरस वाले द्रव्यो का अधिक सेवन करना, अति मद्यपान या अन्य नशीली चीजो का अभ्यास होना, स्त्रीप्रसङ्ग करने के पश्चात् जल पीना और अप्राकृतिक मैथुन करना—ये सब अपथ्य है। विषमाशन, अध्यशन और पथ्य-अपथ्य दोनो एक साथ खाना अपथ्य है।

प्रशस्त (सन्तानोत्पादक) शुक्र का लक्षण

स्फटिक के समान (श्वेत), स्निग्ध (चिपचिपा), मधुर और मधु की-सी गन्धवाले द्रव (तरल) पदार्थ को शुक्र कहते हैं। कई आचार्य तैल और मधु के समान द्रव को भी विशुद्ध शुक्र मानते हे[1]।

वाग्भट ने सौम्य, स्निग्ध, गुरु, शुक्ल, मधुगन्धी, मधुर, पिच्छिल, गाढा तथा घृत-तैल या मधु के समान वर्णवाले शुक्र को गर्भाधान-योग्य कहा है।

वाग्भट ने बतलाया है कि घृत या तैल या मधु, इन तीनो के वर्ण के समान वर्णवाला शुक्र गर्भाधान के योग्य होता है, किन्तु अन्तर यह है कि स्फटिक या घृत वर्ण शुक्रवाले की सन्तान गौरवर्ण, तैलवर्ण शुक्रवाले की सन्तान कृष्णवर्ण और मधु-वर्ण शुक्रवाले की सन्तान श्यामवर्ण की होती है[2]।

चरकाचार्य के अनुसार जो शुक्र गाढा, प्रमाण मे अधिक, रस मे मधुर, गुण मे स्निग्ध, दुर्गन्धरहित, गुरु, पिच्छिल, वर्ण मे शुक्ल और स्राव के समय अधिक मात्रा मे निकले, वह शुक्र नि सन्देह सन्तानरूपी फल को देनेवाला होता है[3]।

वक्तव्य—विशुद्ध शुक्र पिच्छिल तथा गाढा द्रव है, जिसकी आभा घृत या स्फटिक की तरह श्वेत होती है। कभी-कभी इसकी आभा तैल या मधु के समान होती है, लेकिन तब भी इसके अन्दर कोई विकृति नही होती है।

शुक्र भी शारीरिक ग्रन्थि वृषण का स्राव ही है, जिसमे नाना प्रकार के आहार द्रव्यो के कारण विना विकारोत्पत्ति के ही रङ्गभेद आ जाया करता है। शुद्ध शुक्र के अन्दर मधु की-सी विशिष्ट गन्ध होती है। पिच्छिलता के अतिरिक्त शुक्र मे विशेष प्रकार की स्निग्धता तथा सान्द्रता पायी जाती है, जिसके कारण योनि मे उत्सर्जित होने पर वह वहाँ ही स्थित रहता है। कुछ भाग तो योनि की श्लेष्मल-

---

१. स्फटिकाभ द्रव स्निग्ध मधुर मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभ तथा॥ —सुश्रुत० शारीर० २।११

२ तत् सौम्य स्निग्ध गुरु शुक्ल मधुगन्धि मधुर पिच्छिल बहु बहल घृततैलक्षौद्रान्यतमवर्ण च शुक्र गर्भाधानयोग्य भवति। तत्र शुक्रे शुक्ले घृतमण्डाभे च गर्भस्य गौरत्व, तैलाभे कृष्णत्व, मध्वाभे श्यामत्वम्। —अष्टाङ्गसग्रह, शा० १

३. बहल मधुर स्निग्धमविस्र गुरु पिच्छिलम्। शुक्लं बहु च यत् शुक्र फलवत्तदसशयम्॥ —च० चि० २।४।५०

कला के द्वारा शोषित होकर स्त्री को आप्यायन, पुष्टि तथा शक्ति प्रदान करता है तथा शेष के शुक्राणुओं मे से प्रवलतम एक या दो शुक्राणु इस स्निग्ध वातावरण मे गर्भाशय के अन्दर ऊपर को जाकर गर्भाधान कर सकते है। पिच्छिलता तथा स्निग्धता के कारण शुक्र गुरु होता है। शुक्ल, स्निग्ध तथा पिच्छिल होने के कारण शुक्र शरीर मे सौम्य प्रभाव रखता है।

इसका रस तथा विपाक मधुर होता है। इसकी प्रतिक्रिया न तो अम्लीय है और न तो क्षारीय, अपितु इसकी प्रतिक्रिया मधुर है। शुक्रोत्सर्ग मे शुक्र को पर्याप्त मात्रा मे निकलना चाहिए।

इस प्रकार सर्वथा शुद्ध, प्रवल, स्वस्थ शुक्र ही गर्भाधान-योग्य तथा उत्तम सन्तनोत्पादन मे समर्थ तथा सफल होता है।

शुक्र के बाहर निकलने के कारण[1]

स्त्री-पुरुष के सयोग होने पर पुरुष की मैथुन चेष्टा से, स्त्री-सभोग का सकल्प करने से और स्त्री-पुरुष के परस्पर आलिङ्गन से, जैसे गीला वस्त्र निचोडने से जल निकलता है, उसी तरह शुक्र निकलता है।

शुक्र-प्रवृत्ति के आठ कारण

१ हर्ष (सकल्पपूर्वक मैथुनार्थ शिश्नोत्थान), २ तर्प (स्त्री-सभोग की प्रबल कामना), ३ वीर्य की द्रवणशीलता (अस्थिरता), ४ वीर्य की पिच्छिलता, ५ वीर्य की गुरुता, ६ वीर्य का अणु (सूक्ष्म) होना, ७ प्रवणभाव (वाहर निकलने के लिए उद्यत रहने का स्वभाव होना) तथा ८ शुक्र को प्रेरणा देनेवाली वायु का शीघ्रगामी होना—इन आठ कारणो मे शुक्र शरीर से निकलता है[2]।

सर्वशरीर मे सूक्ष्म रूप मे आश्रित शुक्र मनोवाञ्छित सानुकूल स्त्री के साथ सहवास करने से मन के प्रहृष्ट होने पर वहिर्गमन करता है[3]।

ऐसा भी होता है, कि जब मनपसन्द स्त्री की मधुर मूर्ति का प्रत्यक्षीकरण हो या उसका स्मरण किया जाय, उसकी प्रियवाणी श्रवणगोचर हो, उसके शरीर का सस्पर्श हो, मन मे हर्ष और तर्ष हो तथा तृप्ति हो तो मन सुप्रसन्न होने पर शुक्र की वाहर निकलने की प्रवृत्ति होती है[4]।

---

१ तत् स्त्रीपुरुषसयोगे चेष्टासङ्कल्पपीडनात्। शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥
—च० चि० २।४।४७

२ हर्षात् तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्य शुक्र देहात् प्रसिच्यते। चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्य यदुच्यते ॥
—च० चि० २।४।४८-४९

३ कृत्स्नदेहाश्रित शुक्र प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्तते ॥
—सु० शा० ४।२२

४. तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि। शब्दसश्रवणात् स्पर्शात् सहर्षाच्च प्रवर्तते ॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ॥ —सुश्रुत० नि० १०।१९-२०

चतुर्दश अध्याय

वाजीकरण औषधद्रव्य एवं विविध योग

वाजीकरण द्रव्य

अन्न—गेहूँ, उडद, अरहर, सेम, लहसुन, प्याज आदि।

मांस—गौरैया, तित्तिर, मुर्गा, शूकर, हस, मयूर, सूँस, मगर (इनमे से जिनका अण्डा मिले ले, अन्यथा चर्वी-माम ले), भैंस, बकरे का अण्डकोश, घोडे को उत्तेजित कर उसका लिङ्ग काटकर (यवन वादशाह उसका प्रयोग करते थे) तथा मछली का मास, मछली का तेल आदि।

फल—वादाम, अखरोट, काजू, पिस्ता, चिरौंजी, खजूर, छुहारा, अन्जीर, चिलगोजा, केला, आम, अगूर, नारगी, गाजर, सोपारी, शकरकद, सिघाडा आदि।

गोरस—दूध, दही, घी, मक्खन, मलाई, खोया और दूध से वने पदार्थ।

रस-भस्म—वग, नाग, लौह, रजत, स्वर्ण, पारद, हीरा, पन्ना, माणिक्य, पुखराज, वैक्रान्त, अकीक आदि।

गन्धद्रव्य—केशर, कस्तूरी, लौग, इलायची, शीतलचीनी, जायफल, जावित्री, अम्बर, कपूर, दालचीनी, जुन्देवेदस्तर आदि।

औषध द्रव्य—शिलाजीत, वशलोचन, भाँग, धतूरे का वीज, गाँजा, अफीम, अकरकरा, केवाँच वीज, शतावर, विधारा, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, विनौला, बबूर का गोद-फली-छाल, सफेद मुसली, सेमरमूल, मोचरस, तालमखाना वीज, मैदालकडी, कुचला शुद्ध, इसवगोल, श्वेतचन्दन, महुआ, ताम्बूल, वरियारमूल-बीज, गुलाबफूल, जीवनीय गण, वल्यगण, प्रजास्थापनवर्ग, वृष्य वर्ग की औषधे।

प्रसिद्ध वाजीकरण योग[1]

चूर्ण—

१ अश्वगन्धादिचूर्ण—४ ग्राम प्रात -साय दुग्ध से।

२ कामदेव चूर्ण—४ ग्राम प्रात -साय दुग्ध से।

३ द्राक्षादि चूर्ण—४ ग्राम प्रात -साय दुग्ध से।

४ शतावर्यादि चूर्ण—१० ग्राम प्रात -साय दुग्ध से।

५. नारसिंह चूर्ण—४ ग्राम प्रात -साय ५ ग्राम गोघृत और १० ग्राम मधु से, तत्पश्चात् गोदुग्ध पीना।

६ मदनप्रकाश चूर्ण—४ ग्राम प्रात -साय दुग्ध से।

---

१. सभी योग 'आयुर्वेदसारसंग्रह' से साभार उद्धृत।

वटी—

७ आनन्ददा वटी—१ गोली रात मे सोने से १ घण्टा पूर्व दूध से।
८ चन्द्रप्रभा वटी—२ गोली प्रात -साय दुग्ध से।
९ मकरध्वज वटी—१ गोली प्रात -साय मक्खन-मलाई से।
१०. मदनमञ्जरी वटी—२ गोली प्रात -साय दूध से।

रस-रसायन—

११. कामाग्निसन्दीपन रस—५०० मि० ग्रा० प्रात -साय मक्खन-मिश्री से।
१२ कामिनीविद्रावण—१ गोली रात में सोने से १ घण्टा पूर्व दूध से।
१३ त्रैलोक्यचिन्तामणि—१ गोली प्रात -साय असगन्ध चूर्ण २ ग्राम और मधु से।
१४ नवजीवन रस – १ गोली प्रात -साय असगन्ध चूर्ण २ ग्राम और मधु से।
१५ पुष्पधन्वा रस—१ गोली प्रात -साय मक्खन व मिश्री से।
१६ पूर्णचन्द्र रस—१ गोली प्रात -साय मक्खन व मिश्री से।
१७ मन्मथ रस—१ गोली प्रात -साय गरम गोदुग्ध से।
१८ वसन्तकुसुमाकर रस—१२५ मि० ग्रा० प्रात -साय मधु से।

घृत—

१९ कामदेव घृत—१०–२० ग्राम प्रात -साय मिश्री मिलाकर लें, वाद मे दूध पीये।

तैल—

२० श्रीगोपाल तैल—जननेन्द्रिय पर मालिश करना।

पाक-अवलेह—

२१ च्यवनप्राश—१० से २० ग्राम प्रात -साय गोदुग्ध से।
२२ कामेश्वर मोदक—३ ग्राम प्रात -साय गोदुग्ध से।
२३ छुहारा पाक—१० ग्राम प्रात -साय गोदुग्ध से।
२४ मदनानन्द मोदक—५ ग्राम प्रात -साय गोदुग्ध से।
२५ वानरी गुटिका—५ से १० ग्राम तक प्रात -साय गोदुग्ध से।

(१) सन्तानप्रद स्वरस योग

१ केवॉच का वीज	१० ग्राम	६ मुनक्का	१० ग्राम
२ उडद की दाल	१० ग्राम	७ गोदुग्ध	आधा लीटर
३ खजूर	१० ग्राम	८ मिश्री	३० ग्राम
४ शतावर	१० ग्राम	९ वशलोचन	३ ग्राम
५. सिघाडा	१० ग्राम	१० गोघृत	१० ग्राम

विधि—१ से ६ तक के द्रव्यो का मोटा चूर्ण कर आधा लीटर दूध और आधा लीटर जल मे डाल कर पकाये। जब केवल दूध बच जाये तो उसे स्वच्छ छनना से छान लें। फिर उसमे ३० ग्राम मिश्री, १० ग्राम घी और ३ ग्राम वशलोचन का चूर्ण मिलाकर प्रतिदिन प्रात काल पान करे। यदि शुद्ध मधु मिले तो १० ग्राम मिला लें।

पथ्य—साठी के चावल का भात् और दूध ले या उड़द की दाल या मूँग की दाल तथा बिना मसाले की सब्जी ले।

गुण—यह योग चरकसंहिता के चिकित्सास्थान (अ० २।२।१४-१७) में है। उसका यह व्यावहारिक रूप है। ध्वजभंग, नपुंसकता, शुक्राल्पता या वृद्धावस्था के कारण सन्तानहीनता में इसका प्रयोग किया जाता है। इस योग के सेवन करने से दुर्बल एवं वृद्ध व्यक्ति भी अधिक सन्तान उत्पन्न करता है और युवा व्यक्ति के समान वेगपूर्वक मैथुन-कर्म में प्रवृत्त होता है[1]।

(२-क) मदनकान्ता वटी

रससिन्दूर ४० ग्राम को २ दिन तक पान के रस में खरल कर सुखा ले, फिर कूठ एवं कपूर—प्रत्येक २०-२० ग्राम, केशर, शुद्ध वत्सनाभ, जायफल, लौंग, छोटी पीपर, जावित्री, अकरकरा, अगर, तज, श्वेतमुसली, अफीम, केवांचबीज, गुरुच-सत्त्व—प्रत्येक १०-१० ग्राम, सुवर्ण वर्क १० ग्राम और चाँदी वर्क २० ग्राम—इन सबका महीन चूर्ण बनाकर मिश्रित कर एक दिन धतूरे के रस में खरल करे।

दूसरे दिन अदरख के रस के साथ खूब घोट कर उसमें कस्तूरी और अम्बर ५-५ ग्राम एवं शिलाजीत २० ग्राम मिलाये।

तीसरे-चौथे और पाँचवें दिन पान के रस में घोटें। फिर २५० मि० ग्रा० की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लें।

मात्रा—प्रतिदिन प्रातः-सायं १-१ गोली मधु से चाट कर ऊपर से गोदुग्ध पीना चाहिए।

यह नपुंसकता को दूर करने की निश्चित औषध है। स्निग्ध पौष्टिक भोजन करे और ३ माह तक दवा का सेवन करे।

(२-ख) सुलभ वाजीकरण योग

असगन्ध, विधारा, शतावर, सफेद मुसली, मखाना, तालमखाना-बीज, केवाँच बीज—प्रत्येक ५०-५० ग्राम।

विधि—सबको कूटकर महीन छान ले और उसमें ३५० ग्राम मिश्री का चूर्ण मिला ले।

मात्रा—५ ग्राम से १० ग्राम तक १ मात्रा।

अनुपान—२५० मि० ली० औटाया हुआ दूध।

समय—प्रातः-सायं।

यह प्रमेह, शीघ्र पतन, स्वप्नदोष आदि विकार दूर कर शरीर में धातु और बल देता है। इसका ३-४ महीने लगातार सेवन करे।

---

१. जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति। नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति॥
—च० चि० २।२।२७

(३) एक उत्तम वाजीकरण योग

षड्गुणगन्धकजारित रसमिन्दूर, अकरकरा, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची के दाने, केशर, कस्तूरी, स्वर्णवग—प्रत्येक ५–५ ग्राम तथा वगभस्म ५० ग्राम, शुद्ध कुचला चूर्ण ५ ग्राम एव शुद्ध अफीम १० ग्राम ।

विधि—काष्ठ द्रव्यो को कूट-पीसकर बारीक छान ले और सभी द्रव्यो को खरल मे डालकर थोडा-थोडा पान का रस (आधा लीटर तक) डालकर घोटे और सुखा ले। फिर १२५ मिलीग्राम की गोली बनाकर छाया मे सुखा ले ।

मात्रा—१–१ गोली प्रात -साय दूध मे ।

आधा लीटर भैंस के दूध मे ७ अदद बडे छुहारे निर्बीज धोकर कूटकर डाले और आधा लीटर पानी डालकर पकाये । जब पानी जल जाय तो मिश्री मिलाकर छुहारे समेत दूध को पी जाये ।

इसका ४० दिनो तक पौष्टिक अन्नपान के साथ सेवन करे और ब्रह्मचर्य-पालन कर तेल, गुड, खटाई, लालमिर्च और रूक्ष अन्न का परित्याग करे ।

इससे शुक्रवृद्धि होती है, वीर्य शुद्ध होता है और कामशक्ति बढती है ।

(४) इन्द्रिय-दृढीकरण योग

दालचीनी, अकरकरा, मुनक्का और श्वेत गुञ्जा—इन सबको एकत्र पानी से पीसकर इन्द्रिय पर लेप करे और सम्भोग के समय कपडे से पोछ डाले । इससे इन्द्रिय की नसे तेजस्वी हो जाती है तथा फूल जाती है, जिससे सफल सम्भोग हो पाता है ।

(५) स्तम्भन वटी

जायफल, जावित्री, सफेद चन्दनचूर्ण, पीपर, केशर, लवग अकरकरा, शुद्ध अफीम -- प्रत्येक १०-१० ग्राम । इन सबको कूट-पीसकर जल से घोट कर २५० मि० ग्रा० की गोली बनाकर छाया मे सुखा ले ।

मात्रा—१ गोली दुग्ध से रात मे सोते समय ।

(६) मदनमञ्जरी वटी

अभ्रकभस्म १० ग्राम, शुद्ध अफीम १० ग्राम, भॉग २० ग्राम, चन्द्रोदय ३ ग्राम, तेजपात, नागकेशर असली, वगभस्म, छोटी इलायची का दाना, जायफल, मरिच पीपर, सोठ, लवग, दालचीनी और जावित्री—प्रत्येक ५-५ ग्राम ।

विधि—पहले रसौषधियो को खरल कर ले, फिर काष्ठौषधियो के बारीक चूर्ण को उसमे मिलाकर पान के पत्ते के रस मे घोट कर २५० मि० ग्रा० की गोली बनाकर छाया मे सुखा ले ।

मात्रा और प्रयोग—विषयभोग के २ घण्टा पहले १ गोली दूध के साथ सेवन करे ।

इससे कामशक्ति की वृद्धि और स्तम्भन होता है ।

(७) वीर्यपुष्टिकर योग

विधारा, सफेदमुसली, असगन्ध, इसबगोल की भूसी, सेमर की जड, गोखरु बडा, मुलहठी, तालमखाना और रूमीमस्तगी—प्रत्येक १०-१० ग्राम लेकर कूट पीसकर बारीक चूर्ण बना ले और चूर्ण के बराबर बारीक साफ चीनी मिलाये।

मात्रा—५ ग्राम की मात्रा सवेरे-शाम दूध के साथ ले।

उपयोग—इससे वीर्य का पतलापन दूर होकर गाढा हो जाता है।

(८) शिश्नशैथिल्यनाशक योग

वराह की वसा, शेर की चर्बी, मालकागनी तैल और दालचीनी- प्रत्येक १०-१० ग्राम तथा जायफल और अकरकरा २०-२० ग्राम।

दालचीनी आदि का बारीक चूर्ण बनाकर वसा के साथ घोट कर रख ले तथा प्रतिदिन सीवन छोडकर इसकी मालिश करे। इससे शिथिलता दूर हो जायेगी।

(९) उपस्थपुष्टि मलहम

शुद्ध पारद एव शुद्ध गन्धक १०-१० ग्राम लेकर कज्जली बना ले। फिर दालचीनी पिपरामूल, जायफल, अपामार्ग, असगन्ध, मालकागनी, वीरवहूटी, केवाँच के बीज—प्रत्येक १०-१० ग्राम लेकर बारीक चूर्ण करे। कज्जली के साथ काष्ठौषधियो का चूर्ण घोट ले और उसमे ५० ग्राम शूकर-वसा मिलाकर रख ले।

प्रयोग—प्रतिदिन सीवन छोडकर शिश्न पर मालिश करे। इससे एक माह मे शिथिलता दूर हो जाती है।

(१०) तिला

सूखे केचुआ को तिल के तेल मे भून ले। यह ध्यान रहे कि केचुआ कोयला न होने पाये, फिर केचुआ को खरल कर उस तेल मे मिला दे।

इस तेल की मालिश लिङ्ग पर करने से १-२ सप्ताह मे उसमे बल आ जाता है। इसे दो सप्ताह से अधिक न लगाये। जितना लाभ होना होगा, वह उतने समय मे ही हो जायेगा।

(११) एक लेप

कालीमिर्च ११ दाना, लौग १३ नग, भीमसेनी कपूर १ ग्राम—इन सबको एकरस करके रख ले और पानी मे मिलाकर लिंग पर लेप करे।

(१२) वाजीकरण अवलेह

केशर २ ग्राम, कुलिञ्जन २ ग्राम, सालममिश्री ५ ग्राम, सकाकुलमिश्री ५ ग्राम, पिस्ता ५ ग्राम, सफेद चन्दन ४ ग्राम, सुगन्धवाला ४ ग्राम, मुनक्का ४ ग्राम, सोठ ३ ग्राम, कतीरा गोद ३ ग्राम, अनीसून ३ ग्राम, गोद बबूल ३ ग्राम, दालचीनी ३ ग्राम, लवग ३ ग्राम, वहमन सफेद १ ग्राम, वहमन लाल १ ग्राम, नारियलगिरी ५० ग्राम, मिश्री ५० ग्राम एव मधु ११० ग्राम।

सभी औषधो का बारीक चूर्ण कर मिश्री-मधु डालकर अवलेह बना लें।

मात्रा—५ ग्राम गोदुग्ध से ।

प्रयोग—यह एक विशिष्ट वाजीकरण योग है ।

(१३) दुग्ध और उड़द के योग

गाय के ५०० मि० ली० दूध मे १०-२० ग्राम घृत मिलाकर पीना बल-वीर्य-वर्धक होता है ।

उडद की खीर का नित्य प्रयोग करे, तो अन्य किसी वाजीकरण की जरूरत नही पडती ।

(१४) सद्यः बलकारक द्रव्य

१. ताजा माम, २ नया अन्न, ३ वाला स्त्री, ४ दुग्ध, ५ घृत-सेवन और ६ गरम जल से स्नान करना—ये छ पदार्थ तुरन्त शक्ति प्रदान करते हैं —

'सद्यो मास नव चान्नं वाला स्त्री क्षीरभोजनम् ।
घृतमुष्णो-कस्नान सद्य प्राणकराणि षट्' ॥

(१५) अश्वगन्धादि चूर्ण

अमगन्ध, सफेदमुसली, स्याहमुसली, शतावर, तालमखाना वीज, केवांच बीज, बीजवन्द, जायफल, जावित्री, इसवगोल, नागकेशर, सोठ, कालीमिर्च, पीपर, लौग, छुहारा, कमलगट्टा-गिरी, वादाम-गिरी, मुनक्का, चिरौजी —प्रत्येक ५०-५० ग्राम तथा मिश्री २½ किलो एव घी ½ लीटर ।

विधि—मिश्री और घी को छोडकर सभी दवाओ को कूट-पीसकर कपडछन चूर्ण कर ले और घी मे भून लें, फिर मिश्री की चासनी वनाकर उतार ले और भुना हुआ चूर्ण मिला दे ।

मात्रा—प्रात -सायङ्काल १० ग्राम दवा खाकर दूध पीये ।

इसके सेवन से वीर्य गाढा और पुष्ट होता है तथा नपुसकता मिटती है । इसके प्रयोग से अनेक स्त्रियो से सम्भोग करने की शक्ति प्राप्त होती है ।

(१६) स्वयंगुप्तादि योग

केवांच बीज और तालमखाना वीज समान भाग मे लेकर चूर्ण बना ले और ५ ग्राम चूर्ण एव ५ ग्राम चीनी लेकर धारोष्ण दूध के साथ प्रात -साय सेवन करे । यह उत्तम वाजीकरण होता है ।

(१७) वानरी वटिका

केवांच बीज २०० ग्राम, गोदुग्ध १ किलो ६०० ग्राम, चीनी ५०० ग्राम तथा गोघृत २०० ग्राम ।

विधि—केवांच के बीजो को गोदुग्ध मे मन्द आंच पर स्वेदन करे । जब दूध गाढा हो जाये तब नीचे उतार कर बीजो का छिलका उतार दे । फिर उन बीजो को सिल पर बारीक पीस ले । दूध को खोया जैसा वनाकर उसमे बीज की पिष्टी को ठीक से मिला दें और उसकी एक रुपये वजन भर की गोली बनाकर गोघृत मे

भून लें। फिर चीनी की चासनी बनाकर गोली को उसमे डुबो दे। थोडा मधु मिलाकर गोलियो को अलग-अलग कर दे और सुरक्षित रख ले।

मात्रा—५ से १० ग्राम गोदुग्ध से प्रात -साय ले।

उपयोग—इसके सेवन से शिथिल-शिश्नता और शीघ्रस्खलन के विकार दूर होते हे। रमणक्रिया मे प्रवीणता आती हे। इसके लाभ मे कहा गया है कि इससे बढकर वाजीकर औषध भी कोई अन्य औषध नही—

'नानेन सदृश किञ्चिद् द्रव्य वाजीकर परम्'।

(१८) फलघृत

मजीठ, मुलहठी, कूठ, हर्रा, वहेडा, आँवला, चीनी, अजवायन, हल्दी, दारुहल्दी, हीग (घी मे भुनी), कुटकी, नीलोफर, श्वेतकमलपुष्प, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, मेदा, काकोली क्षीरकाकोली, मुनक्का, असगन्ध तथा वरियार—प्रत्येक १०-१० ग्राम लेकर चूर्ण वनाकर जल मे चटनी जैसा पीसकर कल्क वना ले।

उस कल्क में १ किलो १८० ग्राम गोघृत, ५ किलो १२० ग्राम शतावर का क्वाथ और ५ किलो १२० ग्राम गोदुग्ध डालकर घृतावशिष्ट पाक करे। जव घृत मात्र बचे तो छानकर शीशे के या चीनी मिट्टी के पात्र मे रख ले।

('आयुर्वेदसारसग्रह' से साभार उद्धृत)

मात्रा—५ से १० ग्राम तक मिश्री मिलाकर गोदुग्ध से प्रात -साय सेवन करे।

उपयोग—यह गर्भाशय की कमजोरी दूर करता है तथा गर्भ का पोषण करता है। इसके सेवन से स्त्रियो का आर्तवदोप और पुरुषो का वीर्यदोष दूर होता है।

जिस स्त्री को गर्भपात जो जाता हो, जिसके वच्चे मरे हुए पैदा होते हो या अल्पायु होते हो, एक वच्चे के वाद फिर सन्तान न होती हो तो उन्हे इस घृत के सेवन से दीर्घायु, हृष्ट-पुष्ट और बुद्धिमान् सन्तान की प्राप्ति होती है। यह वन्ध्यादोष को दूर करने की अतिप्रसिद्ध औषध है। इसका ५-६ महीने तक नियमित रूप मे सेवन करना चाहिए।

(१९) सालममिश्री

यह एक प्रकार के पौधे की जड है, जो पञ्जेदार शक्ल मे वाजरो मे मिलती है। इसका चूर्ण १ चम्मच २५० मि० ली० दूध मे डालकर सवेरे-शाम पीना चाहिए।

उपयोग—वीर्य का पतलापन, स्वप्नदोष, शुक्रमेह, नपुमकता, श्वेतप्रदर और शारीरिक दौर्वल्य को दूर करने की यह उत्तम औपध है।

(२०) मुसल्यादि चूर्ण

सफेद मुसली, काली मुसली, गोखरू, तालमखाना, बीजवन्द, केवाँच बीज, मोचरस और छोटी इलायची।

इन सवको वरावर-वरावर लेकर अलग-अलग चूर्ण करे, फिर सवको मिला लें और सवके मिलित वजन के वरावर साफ महीन चीनी मिला ले।

मात्रा—५ ग्राम गोदुग्ध से प्रात -साय ले।

यह सर्वाङ्ग बलप्रद और शुक्रविकारनाशक है।

(२१) मुखमञ्जरी वटी

(मुखदुर्गन्धनाशक)

दालीचीनी असली	२ ग्राम	छोटी इलायची	५ ग्राम
जटामसी	१० ,,	कचूर	१० ,,
अगर असली	१० ,,	नागरमोथा	१० ,,
सफेद चन्दन बूरा	१० ,,	जायफल	२० ,,
लौंग	२० ,,	शीतलचीनी	२० ,,
चीनी	२५ ,,		

मवका चूर्ण वना ले और गुलावजल मे घोट कर झरवेर वरावर (१ ग्राम की) गोली वनाकर सुखाकर रख ले।

मात्रा—इमकी दिन भर मे ५-६ गोली चूसना चाहिए।

(२२) मुँहासे और झाई का लेप

मसूर की दाल, पीली सरसो, चिरौजी, लोध, वच तथा सफेद जीरा—इन सवको दूध मे वारीक पीसकर रात मे चेहरे पर लेप करे और सवेरे धोकर नारियल का तेल लगाये।

(२३) परमपौष्टिक पाक

कस्तूरी, अग्निजार अम्वर, मकरध्वज—प्रत्येक ४–४ ग्राम, सोने का वर्क ८ ग्राम, वर्क चाँदी, प्रवालभस्म, मुक्ताभस्म, जायफल, वगभस्म, दालचीनी, लौहभस्म, अकरकरा, भीमसेनी कपूर, केशर, कूठ, तेजपात, नागकेशर, वशलोचन, जावित्री, इलायची, सोठ, गुरुच का सत्त्व—प्रत्येक १२–१२ ग्राम, श्वेतमुसली चूर्ण ६० ग्राम, शुद्ध भाँग चूर्ण ३०० ग्राम तथा चीनी ७०० ग्राम।

विधि—स्वर्ण वर्क, चाँदी वर्क, कस्तूरी, अम्वर, मकरध्वज, मुक्ताभस्म, वग भस्म, केशर और कपूर—इनको पान के पत्ते के रस मे घोटकर सुखा ले।

चीनी की चामनी वनाकर कडाही को चूल्हे से उतारकर पहले मुसली चूर्ण मिलाकर घोटे। फिर काष्ठौषधियो का चूर्ण मिलाये, फिर रम द्रव्यो को मिलाकर मव को एकरम कर ले।

मात्रा—५ ग्राम की मात्रा गोदुग्ध से प्रात -साय ले।

(२४) सर्वसुलभ महापौष्टिक पाक

नवीन विनौले की गिरी ६० ग्राम, असगन्ध, केवाँचबीज, तालमखाना, गोखरू, शतावर, बीजवन्द, सालम मिश्री, शकाकुल मिश्री, वहमन मफदे, वहमन लाल, कूठ, मुलहठी, वबूल की गोद, दालचीनी, जायफल, लौग तथा अकरकरा—प्रत्येक १२–१२ ग्राम, वादाम की गिरी, धोई उडद, पिस्ता—प्रत्येक १२० ग्राम, काला

तिल ५० ग्राम, मुसली सफेद, मुसली काली तथा छोटी इलायची—प्रत्येक २५ ग्राम; भुनी भाँग २५ ग्राम, केशर १२ ग्राम तथा चीनी १ किलो १०० ग्राम ।

विधि—विनौले की गिरी, बादाम की गिरी, पिस्ता, तिल और उड़द —इनको अलग-अलग पीसकर फिर एकत्र पीस कर मिला ले । फिर उस पिट्ठी को ४५० ग्राम खोया मे मिलाकर सबको घी मे भून ले । फिर चीनी की चासनी बना कर उसमे भुनी हुई पिट्ठी मिलाये और कुछ ठंडा हो जाने पर काष्ठौषधियों का चूर्ण मिला लें ।

मात्रा—१० ग्राम की मात्रा गोदुग्ध से प्रात -साय ले ।

(२५-क) शतावरी योग

शतावर, तालमखाना, विदारीकन्द तथा निर्गुण्डी (मेउडी) की जड़—सभी को समान भाग मे कूट-पीसकर चूर्ण बना ले ।

मात्रा—५ ग्राम की मात्रा गोदुग्ध के साथ प्रात -साय ले ।

(२५-ख) मुसली योग

सफेद मुसली, स्याह मुसली, अकरकार, जायफल, नागकेशर, सेमल की जड—प्रत्येक ५०-५० ग्राम लेकर चूर्ण बना ले ।

मात्रा—५ ग्राम की मात्रा गोदुग्ध के साथ प्रात -साय ले ।

(२६) गोक्षुरादि योग

गोखरू, तालमखाना, सतावर और केवाँच बीज—प्रत्येक समान भाग मे लेकर कूट-पीसकर महीन छना हुआ चूर्ण तैयार करे ।

मात्रा—५ ग्राम की मात्रा गोदुग्ध से सवेरे-शाम लें ।

(२७) भृंगराज योग

भृगराज सर्वाङ्ग का चूर्ण ५० ग्राम, आँवला चूर्ण २५ ग्राम तथा कृष्णतिल चूर्ण २५ ग्राम—सबको मिलाकर रख ले ।

मात्रा—५ से १० ग्राम की मात्रा गोदुग्ध से प्रात -साय ले ।

(२८) नारसिंह चूर्ण

शतावर	७६८ ग्राम	छोटा गोखरू	७६८ ग्राम
वाराहीकन्द	९६० ग्राम	गुरुच	१२०० ग्राम
शुद्ध भिलावा	१५३६ ग्राम	चित्रकमूल छाल	४८० ग्राम
धोये हुए तिल	७६८ ग्राम	दालचीनी	१३२ ग्राम
तेजपात	१३२ ग्राम	छोटी इलायची	१३२ ग्राम
मिश्री	२१६० ग्राम	विदारीकन्द	७६८ ग्राम

सबको एकत्र कर कूट-पीसकर बारीक चूर्ण छानकर शीशे या चीनी मिट्टी के जार मे भर दे ।

मात्रा—३ से ५ ग्राम तक औषधि ५ ग्राम गोघृत और १० ग्राम मधु मिलाकर सवेरे-शाम खाये और बाद मे गोदुग्ध पीयें ।

उपयोग—सभी प्रकार के वातरोगो का नाशक, उत्तम बलकारक, रसायन और श्रेष्ठ वाजीकरण है। (सिद्धयोगस०—यादवजी से उद्धृत)

(२९) रतिवल्लभ मोदक (भै० र०)

भाँग के बीजो का चूर्ण	७६८ ग्राम	गो घृत	७६८ ग्राम
मिश्री	१५३६ ग्राम	शतावर का क्वाथ	३०७२ ग्राम
भाग का रस	३०७२ ग्राम	गाय का दूध	३०७२ ग्राम
बकरी का दूध	३०७२ ग्राम		

इन सबको एकत्र कर पाक करे। जब गाढा हो जाये तो निम्नलिखित द्रव्यो का चूर्ण प्रत्येक २५–२५ ग्राम की मात्रा मे डाले—

निर्बीज आंवला	जीरा	स्याहजीरा	नागरमोथा
दालचीनी	छोटी लायची	तेजपात	नागकेशर
केवाँच बीज	अतिबला	तालांकुर	कसेरू
सिंघाडा	सोंठ	मरिच	पीपर
धनियाँ	अभ्रकभस्म	वंग भस्म	हर्रा वक्कल
मुनक्का	काकोली	क्षीरकाकोली	खजूर
तालमखाना बीज	कुटकी	मुलहठी	कूठ
लवग	सेंधानमक	अजवायन	अजमोदा
जीवन्ती	गजपीपर		

पाक के शीतल होने पर ३८४ ग्राम मधु मिलायें। इसे सुगन्धित बनाने के लिए ५० ग्राम कपूर को रेक्टीफाइड स्प्रिट मे द्रव बनाकर मिला दे।

मात्रा—५ से १० ग्राम तक गोदुग्ध से।

उपयोग—यह वातव्याधि, गुल्म, विष दोष और मन्दाग्नि आदि को दूर करता है। यह ओज को बढाता है एवं दृष्टिशक्ति की वृद्धि करता है। यह बल्य तथा उच्च कोटि का वाजीकरण है। यह वृद्ध को भी पुष्ट एव सामर्थ्यवान् बनाता है। जिसके घर मे अनेक सुन्दर पत्नियाँ हो, उन्हे इस मोदक का नित्य सेवन करना चाहिए।

(३०) कामाग्निसन्दीपन मोदक (भै० र०)

कज्जली ५० ग्राम, अभ्रक भस्म, यवक्षार, सज्जीखार, चित्रक, सेंधानमक, कालानमक, विडलवण, मोचरलवण, सामुद्रलवण, कचूर, अजवायन, अजमोदा, वायविडग, तालीशपत्र—प्रत्येक २५ ग्राम, जीरा, दालचीनी, छोटी लाइची, तेजपात, नागकेशर, लौंग, जायफल—प्रत्येक ५० ग्राम, विधारा बीज, सोंठ, मरिच, पीपर—प्रत्येक ७५ ग्राम, धनियाँ, मुलहठी, सौंफ, कसेरू—प्रत्येक १०० ग्राम, शतावर, विदारीकन्द, आँवला, हर्रा, बहेडा, हस्तिकर्ण पलाश की छाल, नागबला, केवाँच बीज, गोखरू बीज—प्रत्येक १२५ ग्राम, बीज एव पत्रयुक्त भाँग का चूर्ण २५७५ ग्राम।

विधि—सब काष्ठौषधियो का चूर्ण कर रस-भस्मो को मिला ले। फिर ५१५० ग्राम चीनी की चासनी बनाकर उसमे सम्पूर्ण चूर्ण को ठीक से मिलाकर एकरस कर ले। शीतल होने पर चीनी के बराबर मात्रा मे गोघृत और मधु मिश्रित करे। २५ ग्राम कपूर का चूर्ण या द्रव मिलाकर सबको मथकर मिला ले।

मात्रा—१ से २ ग्राम की मात्रा गोदुग्ध से प्रात -साय ले।

उपयोग—इसके प्रयोग से शत स्त्रीगामी पुरुष का भी उपस्थ शिथिल नही होता। यह समस्त वातरोग, पित्तरोग और कफरोगो का नाशक है।

यह अग्निमान्द्य, अर्श, कामला, भगन्दर, पाण्डु, प्रमेह, अतिसार, कृमिरोग, हृद्रोग, सग्रहणी, कास-श्वास, ज्वर, पीनस, पार्श्वशूल, शूल तथा अम्लपित्त आदि पुरातन रोगो को नष्ट करता है।

इसके सेवन से पुत्र ही उत्पन्न होते है। यह सभी ऋतुओ मे सेवनीय है। यह उत्तम रसायन, वली-पलित-नाशक और श्रेष्ठतम वाजीकरण योग है[१]।

(३१) श्रीमदनानन्द मोदक

पारद, गन्धक, लौहभस्म—प्रत्येक १२ ग्राम, अभ्रकभस्म ३६ ग्राम, कपूर, सेधानमक, जटामसी, आँवला, छोटी लाइची, सोठ, मरिच, पीपर, जावित्री, जायफल, तेजपात, लवग, जीरा, स्याहजीरा, मुलहठी, मीठावच, कूठ, हल्दी, देवदारु, हिज्जल-बीज, भुना सुहागा, भारगी, सोठ, नागकेशर, काकडासिगी, तालीशपत्र, मुनक्का, चित्रकमूल-छाल, दन्तीमूल, बरियार, अतिबला (ककहिया), दालचीनी, धनिया, गजपीपर कचूर, सुगन्धवाला, नागरमोथा, असगन्ध, विदारीकन्द, शतावर, मदार की जड, केवाँचबीज, गोखरू, विधारावीज, भाग के बीज—प्रत्येक का चूर्ण १२–१२ ग्राम ले।

विधि—सम्पूर्ण रस-भस्मो को पहले एक मे घोटे, फिर सभी काष्ठौषधियो के चूर्ण को उसके साथ मिलाये।

इस समग्र चूर्ण मे शतावर के स्वरस अथवा क्वाथ की भावना देकर घोट कर सुखा ले।

फिर उस चूर्ण मे १५३ ग्राम सेमल की जड का चूर्ण मिलाये तथा ३०६ ग्राम शुद्ध भाँग का चूर्ण मिलाकर बकरी के दूध की भावना देकर रगड कर शुष्क कर ले।

---

१ वृष्यन्त्वत परतर सतत न दृष्टमेन निपेव्य मनुज. प्रमदासहस्रम्।
गच्छन्न लिङ्गशिथिलत्वमवाप्नुयाच्च नागाधिप विजयते बलत॰ प्रमत्तम्॥
कान्त्या हुताशनमपि स्वरतो मयूरान् वाह जवेन नयनेन महाविहङ्गम्।
वातानशीतिमथ पित्तगद समग्र श्लेष्मोत्थविंशतिरुज॰ परमग्निमान्द्यम्॥
दुर्नामकामलभगन्दरपाण्डुरोगमेहातिसारकृमिहृद्ग्रहणीप्रदोषान् ।
कामज्वरश्वसनपीनसपार्श्वशूलशूलाम्लपित्तसहिताश्चिरजान समस्तान्॥
हत्वा गदानपि च तत्पुमपत्यकारि सर्वर्तुपथ्यमथ सर्वसुखप्रदायि।
वृष्य वलीपलितहारि रसायन स्यात् श्रीमूलदेवकथित परम प्रशस्तम्॥
(भै० र० वाजीकरणाधिकार)

उसके बाद सम्पूर्ण चूर्ण से दुगुनी चीनी (२ किलो १४२ ग्राम) लेकर उसे चीनी से चौगुने (८ किलो ५६८ ग्राम) दूध में घोलकर मन्द-मन्द आँच पर पाक करें। जब पाक गाढ़ा हो जाये तो उसमें चूर्ण डालकर अच्छी तरह मिला ले।

तत्पश्चात् दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, कपूर, सेंधानमक, सोंठ, मरिच, पीपर—इनमें से प्रत्येक का ३–३ ग्राम बारीक चूर्ण लेकर खूब घोटकर मिला ले और उसे पाक में डालकर मसलकर मिला लें। शीतल हो जाने पर उस पाक में १ किलो गोघृत और २ किलो मधु मिलाकर सुरक्षित रख ले।

मात्रा—३ ग्राम से ५ ग्राम तक गोदुग्ध से सवेरे-शाम प्रयोग करें।

शास्त्र-निर्देश के अनुसार इस पाक के तैयार हो जाने पर 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मन्त्र को पढ़कर अग्निदेव को पांच आहुतियां दें। फिर शिव, इन्द्र, कामदेव और गणेश आदि को कुछ अंश चढ़ायें।

सम्पूर्ण पाक को —'ॐ ह्रीं नमः अमृते कुरु कुरु अमृते अमृतोद्भवाय नमः ह्रीं अमृत कुरु कुरु अमृतेश्वराय स्वाहा ॐ स्वाहा'—इस मन्त्र से अभिमन्त्रित कर कड़ाही से निकाल कर पाक को दूसरे पात्र में सुरक्षित रख दे।

अनुपान—खीर या चीनी मिला दूध।

उपयोग—सम्भोग-सुख के लिए सायकाल लें। भैषज्यरत्नावली[1] में कहा गया है कि तीन सप्ताह तक इसका प्रयोग करने से मनुष्य कामान्ध हो जाता है। इसके सेवन से वीर्य-वृद्धि होती है तथा रतिशक्ति बढ़ती है। इसके प्रयोग से वृद्ध पुरुष भी युवा के समान सामर्थ्यवान् हो जाता है। यह अत्युत्तम वाजीकरण का प्रसिद्ध योग है।

---

१. बहुमूत्रं प्रमेहञ्च शिरोरोगमरोचकम्। हन्ति सर्वान् गदान् घोरान् वातपित्तबलासजान्॥
वन्ध्या च मृतवत्सा च नष्टपुष्पा च या भवेत्। बहुपुत्रा जीववत्सा भवेदस्य निषेवणात्॥
हरते सूतिकारोगं वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा। मोदकं मदनानन्दं सर्वरोगे महौषधम्॥
कथितं देवदेवेन रावणस्य हितार्थिना॥ —भै० र०, वाजीकरणाधिकार

पञ्चदश अध्याय

औषधयोगों के मुख्य घटक-मात्रा आदि का विवेचन

खरलीय योग

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
१ हिंगुलेश्वर रस	पिप्पली, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध विष	दिन मे ३ वार ६० मिलीग्राम से १२० मिलीग्राम तक अदरकरस-मधु से	ज्वर	वातज्वर-नाशक एव आमदोष-पाचन। सन्धिस्थानो मे तीव्र वेदनायुक्त आमवात मे वहुत लाभ करता है।
२ त्रिभुवनकीर्ति रस	शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वच्छनाभ त्रिकटु, शुद्ध सोहागा, तुलसी-आर्द्रक-धत्तूररस की भावना	१२० मिग्रा०/१ मात्रा तुलसीपत्र फाण्ट या अदरक रस व मधु से दिन मे ४ वार	ज्वर	उष्णवीर्य, वातज्वर, कफज्वर, नवज्वर, पीनस, प्रतिश्याय, न्यूमोनिया, इन्फ्लुएञ्ज़ा, मस्तिष्कज्वर-नाशक। वढे हुए तापमान को कम करके हृदय और नाडी की तेजी को घटाकर एव पसीना लाकर ज्वर को उतार देता है।
३. पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह (सिद्धयोग सं०)	हिंगुलोत्थ पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण-ताम्र-लौह-अभ्रक-वग-प्रवाल-मुक्ता-शखभस्म, सिन्दुवार, धत्तूर और कालमेघ स्वरस भावना तथा पुटपाक	दिन मे ३ वार १२० से २४० मि० ग्रा० तक/१ मात्रा, भुने जीरे के १ ग्राम चूर्ण और मधु से	ज्वर	जीर्णज्वर, विषमज्वर, यकृत् और प्लीहावृद्धियुक्त ज्वर, राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग, प्रमेह, कास, श्वास तथा ग्रहणीरोगनाशक।

४. वसन्तमालती रस (सि० भै० मणि०)	सुवर्ण भस्म, मुक्ता पिष्टी, शुद्ध हिंगुल, मरिच, खर्पर भस्म	प्रात -साय १२० से २४० मि० ग्रा० तक, सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम और मधु से	ज्वर	जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, कास-श्वास, पाण्डु, ग्रहणी, फुफ्फुमकलाशोथ, वालशोप, यकृद् विकार, मस्तिष्क-दौर्वल्य, हृद्रोग— इनमे विशेप लाभ करता है। स्त्रियो के श्वेतप्रदर मे अति लाभप्रद है। यह वाल, वृद्ध, युवा, सगर्भा स्त्री —इन सबके लिए हितकर है। यह सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली को नियमित वनाकर, यकृत्प्लीहा-विकृति को दूर कर उनकी विकृति से होने वाले सभी रोगो को शान्त करता है तथा शरीर मे वल-वर्ण की वृद्धि करता है।
५ महालक्ष्मीविलास रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण-भस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, वगभस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, अभ्रकभस्म, जावित्री	प्रात -साय १२० मि० ग्रा० अदरक के रस और मधु से अथवा रोगानुसार अनुपान से	ज्वर	इसका विशेप प्रभाव हृदय एव रक्त-वाहिनियो पर पडता है। हृत्कम्प, हृत्शूल, हृदयदौर्वल्य को दूर करता है। आन्त्रिक सन्निपात, वात-कफ-ज्वर, न्यूमोनिया, इन्फ्लुएञ्जा, कास-श्वास, कुष्ठ, प्रमेह, श्लीपद, आम-वात, वातरक्त, अर्दित, शूल, उदर रोग, ऊर्ध्वजत्रु के रोग, शिर शूल और जलोदर मे रोग के अनुसार

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				अनुपान देने से लाभ पहुँचाता है। शरीर मे बल-वीर्य की वृद्धि करता है।
६ (१) आनन्दभैरव रस (कास)	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध विष, त्रिकटु	१२० मि० ग्रा० अदरक या पान के रस और मधु से दिन मे ३ बार	कास	कास-श्वास, प्रतिश्याय, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, अतिसार, ग्रहणीविकार तथा वातरोगो मे लाभकर है।
७ (२) आनन्दभैरव रस (ज्वर)	शुद्ध हिंगुल, शुद्ध विष, सोठ, शुद्ध सोहागा, जायफल	प्रात, साय, दोपहर १२० मि० ग्रा० अदरक के रस और मधु से	ज्वर	यह वहु प्रचलित योग है। ज्वर, प्रतिश्याय, खाँसी और अतिसार मे लाभकर है।
८ श्वासकुठार रस	शुद्ध पारद शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध विष (वत्सनाभ) टकण, त्रिकटु	४-४ घण्टे पर ३ बार १२० से २४० मि०ग्रा० तक, पिप्पली चूर्ण १ ग्राम और मधु से	कास-श्वास	मूर्च्छा, अपस्मार, हिस्टीरिया और सन्निपात मे इसका नस्य सुँघाने से वेहोशी दूर हो जाती है। ज्वर सन्निपात, अपस्मार, कास, श्वास और प्रतिश्याय मे उत्तम लाभ करता है। इससे वढा हुआ कफ शान्त होकर श्वास का वेग कम हो जाता है।
९ वसन्तकुसुमाकर रस	स्वर्ण-रजत-लौह-नाग-वग व अभ्रक भस्म, रससिन्दूर, मुक्तापिष्टी, प्रवालपिष्टी। **भावना**—१. अरूस, २ हल्दी, ३ गन्ना, ४. कमलपुष्प, ५	सवेरे-शाम १२० मि० ग्रा० गोदुग्ध से	मधुमेह	यह मधुमेह रोग की प्रसिद्ध दवा है। स्त्री-पुरुषो के जननेन्द्रिय सम्वन्धी विकारो पर इसका शीघ्र प्रभाव होता है। मधुमेह, वहुमूत्र, हर तरह के प्रमेह, नामर्दी, सोमरोग, श्वेत-

	मालतीपुष्प, ६ शतावर, ७ कदली और ८ चन्दन-जल प्रत्येक की ७-७ बार ।			प्रदर, योनि या गर्भाशय के विकार और वीर्य मम्बन्धी विकारो को दूरकर शरीर मे वीर्य तथा वल वढाता है । यह हृदय एव मस्तिष्क को सबल बनाता है ।
१० लोकनाथ रस (वृहत्)	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, ताम्रभस्म, लोहभस्म, वराटिका भस्म भावना— कुमारी-काकमाची लघुपुट	प्रात -साय १२० से ३६० मि०ग्रा० तक, पिपप्लीचूर्ण १ ग्राम और मधु से, वाद मे गोमूत्र ५० मि० लीटर पीना	यकृत्-प्लीहा-उदर-गुलम	यह यकृत् तथा प्लीहोदर की अति-प्रचलित औषध है । उदररोग, अग्नि-मान्द्य, गुलम, जीर्णज्वर एव कामला-नाशक है । शूल और शोथ मे भी लाभकर है ।
११. प्रवालपञ्चामृत	प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, शख भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, कपर्द भस्म	सवेरे-शाम १२० से २४० मिग्रा० तक, गुल-कन्द या आँवला के मुरब्बे के साथ	गुल्म	इसके सेवन से गुल्म, आनाह, प्लीहा-रोग, उदर रोग, कफ-वातज रोग, अजीर्ण, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी आदि रोग दूर होते है। गले मे जलन, पाचनक्रिया की विकृति से उत्पन्न अम्ल डकार, आध्मान आदि को दूर करता है । यह पित्तशामक, मूत्रल, पाचक एव सर्वविध गुल्मनाशक है । रक्तज गुल्म की खास दवा है ।
१२. चन्द्रामृत रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, टकण, त्रिकटु, त्रिफला	४-४ घण्टे पर ३ वार ५०० मिग्रा०, मुलहठी चूर्ण १ ग्राम और मधु से	कास-श्वास	यह सभी प्रकार की खाँसी मे लाभ करता है। सरक्तकास मे प्रवालपिष्टी, तालीसादि चूर्ण और खूनखरावा के

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				साथ दे। शुष्क कास मे मिश्री और मुलहठीचूर्ण के साथ प्रयोग करे।
१३. सूतशेखर रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, शुद्ध टकण, ताम्र भस्म, त्रिकटु, चतुर्जात	२५० मिग्रा० गुलकन्द या आँवले के मुरब्बे के साथ, शवेरे-शाम	अम्लपित्त	अम्लपित्त, वमन, दाह, मूर्च्छा, काम, हिक्का, गुल्म, अग्निमान्द्य और आध्माननाशक है। यह रसायन है और पित्त तथा वातजन्य विकारो का शामक है।
१४. (१) चन्द्रकला रस (भै० र०)	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्र भस्म, अभ्रक भस्म, कुटकी, गुडूचीसत्त्व, श्वेत चन्दन। **भावना**—नागरमोथा, अनारदाना, दूध, केवडा, सहदेवी, घृतकुमारी एव पित्तपापडा के क्वाथ से १-१ दिन और द्राक्षा क्वाथ से ७ वार	२४० से ५०० मिग्रा० तक, चन्दनादि चूर्ण १ ग्राम और मधु से दिन मे ३-४ वार	मूत्रकृच्छ्र	यह प्रवृद्ध पित्त को साम्यावस्था मे लाता है, ज्वर के ताप को घटाता है और वाह्य तथा आभ्यन्तर ताप को मिटाता है। इसके सेवन से श्रम, मूर्च्छा, रक्तप्रदर, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, अधोग रक्तपित्त, रक्तवमन एव सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाते है।
१५. (२) चन्द्रकला रस (भै० र०)	रससिन्दूर, अभ्रक भस्म, लौह-भस्म, वगभस्म, छोटी लाची, कपूर, शिलाजीत	२४० से ५०० मिग्रा० तक, मधु से सवेरे-शाम	प्रमेह	इसके सेवन से सभी प्रकार के प्रमेह नष्ट होते है। स्वप्नमेह मे ३ ग्राम शीतलचीनी चूर्ण से दे।
१६. जलोदरारि रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध जमालगोटा,	१२० मिग्रा० पुनर्नवा स्वरस, दशमूल क्वाथ	उदररोग (जलोदर)	यह तीव्र रेचक है। जलोदर के सचित जल को वाहर निकालता

	त्रिफला, त्रिकटु	या उँटनी के दूध से प्रात -साय		और मुधावा भी है। यकृत् विकार एव उदररोगो मे विशेष लाभकर है।
१७ हृदयार्णव रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्र भस्म	प्रात -साय १२० मिग्रा० त्रिफलाचूर्ण २ ग्राम और मकोय स्वरस १ चम्मच	हृदयरोग	हृदय की तीव्र गति या विषम गति, शूल, कम्पन, मानसिक विषाद, भय, मूर्च्छा, अनिद्रा और उर शूल मे लाभप्रद है।
१८ योगेन्द्र रस	रससिन्दूर, स्वर्णभस्म, कान्त-लौह भस्म, अभ्रक भस्म, मुक्ताभस्म, वगभस्म भावना—कुमारीस्वरस की	सवेरे-शाम १२० मिग्रा० अदरक स्वरस व मधु से या रोगानुसार अनुपान से	वातव्याधि	यह योगवाही है और सभी रोगो मे अनुपान भेद से दिया जा सकता है। इसका विशेष प्रभाव वातनाडियो, मन, मस्तिष्क और रक्तवाहिनियो पर होता है। वात-पित्त प्रधान पक्षाघात की यह सर्वोत्तम औषध है। यह उन्माद, मूर्च्छा, हिस्टीरिया, पक्षाघात, गृध्रसी, हृद्रोग, प्रमेह, अम्लपित्त और राजयक्ष्मा मे उपयोगी है तथा बल-वीर्य-स्मृतिवर्धक है।
१९ बृहद्वातचिन्ता-मणि रस	रससिन्दूर, स्वर्णभस्म, रजत-भस्म, लौहभस्म, अभ्रभस्म, मुक्तापिष्टी	१२० मिग्रा० अदरक रस व मधु से दिन मे ३ बार	वातव्याधि	यह हृदय एव मस्तिष्क के लिए उत्तम बलकारक, वात-पित्तज विकार-नाशक और वाजीकरण है। एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, पक्षाघात, अर्दित, अपतानक आदि मे विशेष उपयोगी है। इसकी प्रशमा

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				मे कहा गया है—'वृद्धोऽपि तरुणस्पर्धी कन्दर्पसमविक्रम ।'
२०. इच्छाभेदी रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध जमालगोटा, शुद्ध टकण, मोठ मरिच	प्रात काल १२० से २५० मिग्रा० तक, शीतलजल या शर्वत से	उदररोग	यह तीक्ष्ण विरेचन है, इमलिए नाजुक मिजाज, स्त्री या पुरुष या बालक और गर्भवती स्त्रियो को नही देना चाहिए। इसे खाने पर जितनी बार १-१ गिलास जल पिया जायेगा उतनी बार दस्त होगा। ज्यादे दस्त हो, तो गरम जल पिलाये। पथ्य मे खिचडी-दही दे।
२१. पुनर्नवादि मण्डूर (सि० यो० स०)	मण्डूर भस्म, पुनर्नवामूल, निशोथ, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, हरिद्रा-द्वय, कुटकी	५०० मिग्रा० गोमूत्र या पुनर्नवाष्टक क्वाथ से सबेरे-शाम	यकृत्-प्लीह-उदर-शोथ	पाण्डुरोग, मन्दाग्नि, अर्श, यकृत् प्लीहा विकार, शोथ और कृमिरोग मे हितकर है। अनुपान रोगानुसार।
२२ नवायस लौह	लौहभस्म, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद	२५० से ५०० मिग्रा० तक दूध से सवेरे-शाम	पाण्डुरोग	यह पाण्डुरोग, हृदयरोग, कुष्ठ, अर्श और कामला मे लाभकारी है।
२३ सप्तामृत लौह	लौहभस्म, मुलहठी और निर्वीज आँवला, हर्रा, वहेडा	$\frac{1}{2}$ ग्राम से १ ग्राम तक १ ग्राम घी और ३ ग्राम मधु से चाटकर गोदुग्ध पीना, प्रात -साय	नेत्ररोग	इसके सेवन से रात्र्यन्धता, तिमिर, शूल, दाह, काच आदि नेत्ररोग नष्ट होते है। यह दन्त-कर्ण एव जत्रूर्ध्व विकारोमे लाभकर है। यह वृष्य है। इसके प्रयोग से अग्नि प्रदीप्त, मुख

				कान्तिमान् और केश काले होते हैं।
२४ चन्दनादि लौह	लौहभस्म, लालचन्दन, पाठा, खश, पिप्पली, हर्रा, सोठ और त्रिमद	५०० मिग्रा० गुडूची-सत्त्व १ ग्राम और मधु से, सवेरे-शाम	ज्वर	यह जीर्णज्वर, विपमज्वर, नेत्रदाह, शिर शूल, शिरोभ्रम और पित्तज विकारो की खास दवा है। यकृत्-प्लीहा-विकारनाशक है तथा जीर्ण-ज्वर की प्रसिद्ध दवा है।
२५. बृहत् कस्तूरी-भैरव रस	कस्तूरी, स्वर्ण भस्म, रजत-भम्म, ताम्रभस्म, लौहभस्म, मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म	१२० मिग्रा० पान के अथवा अदरक रस और मधु से	ज्वर	यह सभी प्रकार के ज्वरो को दूर करता है। मन्निपात ज्वरो मे अधिक पसीना आने पर या शीताङ्ग होने मे, प्रलाप मे, तन्द्रा मे और नाडी की क्षीणता आदि होने पर रोगी के वलानुसार मात्रा तथा अनुपान से दिया जाता है। आमातिसार, ज्वरातिसार अथवा ग्रहणी मे वेलगिरी २ ग्राम, भुनाजीरा १ ग्राम के साथ दे। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा कास, प्रमेह, हलीमक मे भी हितकर है। विसूचिका मे जव श्वेतवर्ण का वमन और शौच हो रहा हो, मूत्राव-रोध हो, मुख का वर्ण नीला हो,

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				नेत्र धँस गये हो और नाडी क्षीण हो, तो इसके प्रयोग से लाभ होता है।
२६ चन्द्रप्रभा वटी	विडग, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, मेधा-सोचर-विडलवण, क्षार-द्वय, स्वर्णमाक्षीक भस्म, लौह-भस्म, गुग्गुलु, शिलाजीत, वशलोचन	५०० मिग्रा० से १ ग्राम तक, १ ग्राम घी और ३ ग्राम मधु से, वाद मे गोदुग्ध पीना, सवेरे-शाम	प्रमेह	प्रमेह, शुक्रदोष, गुल्म, भगन्दर, अर्श, प्रदर, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, स्त्री-पुरुष के जननेन्द्रिय रोग, श्वेतप्रदर और वहुमूत्र रोग को दूर करने की प्रसिद्ध औषध है। यह नवीन शुक्रकीटो को उत्पन्न करती है और रक्ताणुओ का शोधन करती है। शरीर को वलवान्, वीर्य-सम्पन्न और ओजस्वी वनाती है।
२७. गन्धकरसायन (सि० यो स०)	गाय के दूध मे ३ वार शुद्ध किया हुआ गन्धक ले, उसमे चतुर्जात, त्रिफला, गुरुच, भृग-राज और अदरक के रस या क्वाथ की ८-८ दिन भावना दे, फिर गन्धक के समान भाग मे मिश्री का चूर्ण मिलाये।	५०० मिग्रा० से १ ग्राम तक जल, दूध अथवा मञ्जिष्ठादि क्वाथ से सवेरे-शाम	कुष्ठ	यह सर्वविध कुष्ठरोग, नाडीव्रण, शूल, अग्निमान्द्य आदि उदररोगो को दूर करता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। इसके लगातार १-२ महीने तक सेवन करने से वल-वीर्य की वृद्धि और शरीर की पुष्टि होती है।

कूपीपक्वयोग

१ मकरध्वज (र० त०)	स्वर्ण भस्म या वर्क १० ग्राम शुद्ध पारद ८० ग्राम शुद्ध गन्धक १६० ग्राम पहले स्वर्ण वर्क को पारे के साथ घोटें, फिर गन्धक को मिलाकर घोटें। रोज ६ घण्टा घोटने पर ८ दिन में कज्जली तैयार होगी। पहले घृतकुमारी फिर रक्तपलाश पुष्पस्वरस की भावना देकर सुखा लें। तब ७ बार कपडमिट्टी की हुई आतशी शीशी में रखकर उसे बालुका यन्त्र में रख क्रमश मृदु, मध्य एव तीक्ष्ण अग्नि देकर २४ घण्टे में पकायें।	प्रात -साय १२० मिग्रा० पान के रस व मधु से या रोगानुसार घी, मिश्री, मक्खन, मलाई या दूध आदि से	ज्वर (यह चमत्कारी औषध योग-वाही है, अत जिस किसी रोग में सहायक औषध के साथ दी जा सकती है)	इसमें सभी रोगों को नष्ट करने की शक्ति है। यह हृदय और स्नायु-मंडल को ताकत देता है एव बल-वीर्य-कान्तिप्रद है। यह कुछ समय के लिए मृत्यु को भी रोक देने का सामर्थ्य रखता है। यह वाजीकरण है और नपुंसकता को हटाता है। राजयक्ष्मा तथा कफज रोगों को दूर करता है, हृदय की दुर्बलता मिटाता है। यह बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबके लिए लाभप्रद है। कस्तूरी के साथ यह सर्वश्रेष्ठ प्राणरक्षक महौषध है।
२ रससिन्दूर	शुद्ध पारद १६० ग्राम शुद्ध गन्धक १६० ग्राम इनकी कज्जली बनाकर मकरध्वज की तरह पकायें।	प्रात -साय १२० मिग्रा० से २५० मिग्रा० तक मधु से अथवा रोगानुसार अनुपान से	ज्वर (वात-कफात्मक रोगों में सहायक औषधों के साथ प्रयोज्य)	यह उष्णवीर्य और रसायन है। हृदय बलवर्धक, रस-रक्त-मांसगत विकार-नाशक एव आमरोग-नियामक है। न्यूमोनिया, उरस्तोय, सन्निपात, पाण्डु और संग्रहणी में लाभकर है।

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				कफप्रधान सन्निपात, इन्फ्लुएञ्जा एव जीर्ण कफज कास मे अभ्रक भस्म के साथ और राजयक्ष्मा मे स्वर्ण भस्म मिलाकर दें। यदि पित्तप्रधान रोगो मे देना हो तो अकेले न देकर मुक्ता पिष्टी, प्रवालपिष्टी, कामदुघा रस या गुडूचीसत्त्व मिलाकर दे।
३ समीरपन्नग रस	शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मखिया, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल—सब समान भाग मे एकत्र कज्जली वनाकर तुलसी पत्रस्वरस की ३ भावना देकर सुखा ले, फिर वालुका यन्त्र मे आतशी शीशी मे रखकर पकाये।	सवेरे-शाम ६० मिग्रा० से १२० मिग्रा० तक, अदरक के रस और मधु मे	वातव्याधि	यह अर्दित, पक्षाघात, एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात और गृध्रसी की श्रेष्ठ दवा है। न्यूमोनिया, उन्माद, सन्धिवात, तमकश्वास, वातज कास-श्वास, प्रतिश्याय एव सन्निपात ज्वर मे विशेष लाभकर है। शुष्क कास या श्वास का कष्टप्रद दौरा पड जाने से जब गले मे खराश हो, खाँसने मे पीडा हो, तो समीरपन्नग रस के साथ सितोपलादि चूर्ण या च्यवनप्राश मिलाकर ३-३ घण्टे पर दे।

					यह योग उर स्थल मे सचित दूषित कफ को निकालने मे उपयोगी है। यह वातजन्य अर्दित, जिह्वा-स्तम्भ, धनुर्वात आदि मे तथा वात-कफ प्रधान उन्माद मे लाभ करता है एव अग्निमान्द्य को मिटाता है। विशूचिका मे, शीताग, ऐठन, वेहोशी और पसीना अधिक होने की हालत मे ममीरपन्नग १२० मिग्रा० और स्वर्णमाक्षीक भस्म १२० मिग्रा० अदरक के रस और मधु स देने मे शरीर मे गर्मी आ जाती है और वेहोशी, नाडीक्षीणता और हृदय की दुर्वलता का ह्रास हो जाता है।

पर्पटीयोग

१ पञ्चामृत पर्पटी	शुद्ध पारद लौह भस्म अभ्रक भस्म ताम्र भस्म शुद्ध गन्धक पहले पारद-गन्धक की	१० ग्राम १० ग्राम १० ग्राम १० ग्राम ४० ग्राम	दिन मे ३ वार, ४-४ घण्टे पर १२० मिग्रा० से ४०० मिग्रा० तक भुने हुए जीरे के चूर्ण और मधु से। वाद मे मट्ठा पीना।	ग्रहणी	यह सग्रहणी रोग की प्रसिद्ध औषध है। अतिसार, ग्रहणी, पाण्डुरोग, अरुचि, मन्दाग्नि, दमा और शूल मे विशेष लाभदायक है। क्षुधा को प्रदीप्त करती है। अम्लपित्त मे गुलकन्द के साथ दें।

औषध नाम	मुख्य घटक		मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	कज्जली बनाये, फिर अन्य भस्में डालकर एक दिन मर्दन करे, तब पर्पटी बनाये।				ग्रहणी, पक्वाशय और वृक्क पर विशेष प्रभावकारी है। कज्जली और लौह के योग से ग्रहणी की शिथिलता दूर होती है। लौह भस्म पक्वाशय को शक्ति देती है और स्तम्भक है। पञ्चामृत पर्पटी में यकृद्दोष-शोधक ताम्र तथा फुफ्फुसों के लिए शक्तिप्रद अभ्रक होने से यकृत्-अन्त्र एवं फुफ्फुस-विकारयुक्त क्षय में विशेषतः लाभप्रद है।
२ रसपर्पटी	शुद्ध पारद शुद्ध गन्धक	५० ग्राम ५० ग्राम	प्रातः, सायं एवं मध्याह्न १२० मिग्रा० भुने जीरे का चूर्ण १ ग्राम और भुनी हींग ५० मिग्रा० मट्ठे से। प्रतिदिन १०० मिग्रा० बढ़ाते हुए प्रतिदिन १ ग्राम ३ बार में दें। अच्छा होने तक यही मात्रा दें। रोगमुक्त होने पर सौ-सौ मिग्रा० घटा-	ग्रहणी	अग्निमान्द्य, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, उदरशूल, कास और ज्वर में रोग के अनुसार अनुपान से दें। पित्तप्रकृतिवाले को न दें। वक्तव्य—अन्न, जल और लवण बन्द करके केवल दूध, मट्ठा और फलों के रस का पथ्य देकर पर्पटी का प्रयोग कराने से समुचित लाभ होता है।

		कर दवा बन्द कर दे। पर्पटी का प्रयोग ४० दिन तक कराया जाता है।		
३ बोलपर्पटी	शुद्ध पारद ५० ग्राम शुद्ध गन्धक ५० ग्राम बोल (खूनखराबा) १०० ग्राम पहले पारद-गन्धक की कज्जली बनाकर तब बोल डालकर घोटे	प्रात, साय एव मध्याह्न २५० मिग्रा० से ५०० मिग्रा० तक दूर्वास्वरस और मधु से	रक्तपित्त (रक्तस्राव)	यह रक्तपित्त, रक्तप्रदर, रक्तार्श, सरक्ता प्रवाहिका, रक्तातिसार आदि मे श्रेष्ठ लाभप्रद औषध है। शरीर के किसी भी भाग मे होनेवाले रक्तस्राव मे हितकर है।
४ श्वेतपर्पटी	कलमीसोरा ४०० ग्राम फिटकरी कच्ची ५० ग्राम नौसादर २५ ग्राम	५०० मिग्रा० से १ ग्राम तक शीतल जल से। दिन मे ३ बार	अश्मरी-मूत्रकृच्छ्र	यह मूत्रल, स्वेदल (पसीना लाने वाली) और वायु को अनुलोम करने वाली औषध है। इसके सेवन से अम्लपित्त, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, उदरशूल, आध्मान और अश्मरी में शीघ्र आरोग्य-लाभ होता है। अग्नि को प्रदीप्त कर पाचनतन्त्र को सबल बनाने की उत्तम दवा है।

वटीयोग

१. चित्रकादिवटी	चित्रकमूल की छाल, पिपरामूल, त्रिकटु, पञ्चलवण, भुनी हींग, नीबू के रस की भावना	आधे से एक ग्राम तक भोजन के बाद २ बार जल से या आवश्यकतानुसार	मन्दाग्नि अजीर्ण	यह उत्तम दीपन-पाचन वटी है। अजीर्ण, अरुचि, उदरशूल मे लाभकर है। अन्न का परिपाक ठीक न होने पर शौच मे आँवयुक्त कच्चा मल

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
				निकलता है। यदि इसकी चिकित्सा शीघ्र न की गयी तो संग्रहणी हो जाती है। चित्रकादि वटी के सेवन से पाचन तीव्र होकर आँव बनना बन्द हो जाता है। यह आमाशय, ग्रहणी और अन्न की पाचन-क्षमता में वृद्धि करती है।
२ लवङ्गादि वटी	लवङ्ग १० ग्राम मरिच १० ग्राम बहेड़े के फल की छाल १० ग्राम कत्था ३० ग्राम बबूल के छाल के क्वाथ की भावना	आधे ग्राम की गोली दिन भर में ७-८ गोली चूसना	कास-श्वास	यह खाँसी की प्रसिद्ध दवा है। सूखी हो या गीली, दोनों तरह की खाँसी में कफ को तरल बनाकर निकाल देती है, जिससे खाँसने के कष्ट में राहत मिलती है। गले की खराश और मुखपाक में भी लाभदायक है।
३ लवङ्गादि वटी (सिद्धयोगस०)	लवङ्ग, बहेड़े के फल का छिलका पीपल, काकड़ासिंगी, अनार के फल का सूखा छिलका, दालचीनी, मुलहठीसत्व, नौसादर, भुना सोहागा	आधे ग्राम की गोली दिन भर में ६-७ गोली चूसना	कास-श्वास	सूखी या पुरानी खाँसी, जिसमें कफ न निकलता हो और खाँसने में छाती और शिर में दर्द होता हो, उसमें चूसने को दें। कफ आसानी से निकलकर खाँसी में लाभ होता है।
४ खदिरादि वटी	कत्था, जावित्री, कपूर, शीतलचीनी, सोपारी	२५० मिग्रा० की गोली ७-८ गोली रोज चूसना	मुखपाक कण्ठरोग	मुखपाक, स्वरभग, दन्त, तालु, जिह्वा के विकार, मुखशोष और अरुचि को

				दूर करती है। कफ को पिघलाकर निकालती है।
५ व्योषादि वटी	त्रिकटु, त्रिजात, तालीसपत्र, अम्लवेत, जीरा, इमली, गुड की चासनी में गोली	आधे ग्राम की गोली दिन भर में ७-८ चूसना	प्रतिश्याय-कास	यह प्रतिश्याय-सर्दी-जुकाम की खास दवा है। कफ को बाहर निकालती है और बनने से रोकती है। मन्दज्वर, खांसी, सिर दर्द, दुर्गन्धयुक्त जुकाम, पीनस और मन्दाग्नि में लाभप्रद है।
६ शंखवटी (आ० सा० सं)	इमली क्षार, भुनी हींग, कज्जली, शुद्ध वत्सनाभ विष, त्रिकटु और पञ्चलवण	२५० मिग्रा० की गोली भोजन के बाद २ बार, २-२ गोली जल से या आवश्यकतानुसार	उदररोग अजीर्ण	यह पाचनप्रणाली को सुधारने की प्रसिद्ध दवा है। यह विष्टब्धाजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, खट्टी डकार आना, गले में जलन आदि को ठीक कर वायु को अनुलोम बनाती है। अन्नाजीर्णजन्य सिर शूल, मूर्च्छा, भ्रम, अंगमर्द, तृष्णा, वमन, अरुचि, आदि का शमन करती है। मन्दाग्नि और अजीर्ण को नष्ट करती है। यह आमाशय, ग्रहणी और अन्त्रों की विकृति में विशेष लाभ पहुँचाती है।

गुग्गुलुयोग

१ योगराज गुग्गुलु	देवदारु, पिपरामूल, जवायन, जीराद्वय, रास्ना, त्रिफला	आधा ग्राम से १ ग्राम की गोली/२ से ४ गोली	वातव्याधि	यह वातरोग की प्रसिद्ध औषध है। आमवात, वातरक्त, कास-श्वास, प्रमेह,

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	त्रिकटु, त्रिमद, गुग्गुलु	तक सवेरे-शाम, दशमूल क्वाथ या गोदुग्ध से		बहुमूत्र, अर्श, भगन्दर और शिरोरोग नाशक है। मन्दाग्नि, उदरविकार, कोष्ठबद्धता, मेदरोग और रक्तविकार को दूर करती है। स्त्री-पुरुषो के जननेन्द्रिय रोगो मे लाभप्रद हे।
२ महायोगराज गुग्गुलु	चाभ, चीता, सोठ, पीपर, पिपरामूल (पञ्चकोल), हीग भुनी, जवायन, जीरा, कुटकी, अतीस, वच आदि। रससिन्दूर, नाग-वग-लौह-मण्डूर, अभ्रक भस्म और गुग्गुलु	प्रात -साय आधा-आधा ग्राम गोदुग्ध से या रोगानुसार अनुपान से	वातव्याधि	यह योगवाही और रसायन है तथा दीपन, पाचन, आमदोष-नाशक, वातघ्न एव धातुपोषक है। आमवात, पक्षाघात, सन्धिवात, वातरक्त, उदावर्त, मेदवृद्धि, मन्दाग्नि कास-श्वास, शोथ, कामला, पुरुषो के वीर्यदोष, स्त्रियो के रजोदोष और हिस्टीरिया को दूर करता है। उन्माद, अपस्मार एव अपतन्त्रक मे लाभ करता है तथा रक्तादि धातुओ को पुष्ट कर शरीर को बलवीर्य-सम्पन्न, कान्तिमान और ओजस्वी बनाता है।
३. त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु	बबूल की फली या छाल, असगन्ध, गुरुच, शतावर, रास्ना, कचूर, जवायन, गुग्गुलु	आधे ग्राम की गोली २ से ४ गोली, गरम जल या महारास्नादि क्वाथ	वातव्याधि	आमवात, पक्षाघात, गृध्रसी, सन्धिवात, अस्थिशूल, स्नायुशूल आदि मे हितकर है। इसके लगातार ३-४

		से, सबेरे-शाम		महीने सेवन करने से खञ्जवात और पगुवात मे आरोग्य-लाभ होता है।
४. रास्नादि गुग्गुलु	रास्ना, गुरुच, एरण्डमूल, देव-दारु, सोठ, गुग्गुलु	आधे ग्राम की गोली १-१ गोली, रास्नादि क्वाथ से, प्रात साय	वातव्याधि	गृध्रसी, आमवात, सन्धिवात, कर्ण-रोग, शिरोरोग, नाडीव्रण और भगन्दर मे लाभ करता है।
५ त्रिफलादि गुग्गुलु	आँवला, हर्रा, बहेडा, गुग्गुलु	आधे ग्राम की गोली, २ से ४ गोली, गोमूत्र या त्रिफला क्वाथ से	कोष्ठगतवात व्रणशोथ	यह अल्परेचक, वातशामक और रसायन है। वातज शूल, आनाह, शोथ, अर्श, भगन्दर और कोष्ठवद्धता को दूर करता है तथा पुराने कब्ज को मिटा देता है।

चूर्णयोग

१. सितोपलादिचूर्ण	१ दालचीनी १० ग्राम २. छोटी इलायची २० ग्राम ३ पीपर ४० ग्राम ४. वशलोचन ८० ग्राम ५ मिश्री १६० ग्राम	४-४ घण्टे पर तीन बार २-२ ग्राम मधु मिलाकर	राजयक्ष्मा	इस चूर्ण के सेवन से कास-श्वास, राजयक्ष्मा, अग्निमान्द्य, अरुचि, जिह्वा की शून्यता, पार्श्वशूल, ज्वर, ऊर्ध्वंग रक्तपित्त और हाथ-पैर तथा अस-दाह—ये विकार शान्त होते है। यह रुचिकर, दीपन, पाचन, पित्त-शामक और कफनि सारक है।

औषध नाम	मुख्य घटक		मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
२. हिंग्वष्टक चूर्ण	१ सोंठ २. मरिच ३ पीपर ४ जवायन ५ सेंधानमक ६ जीरा ७ स्याहजीरा ८ घी में भुनी हींग	सभी द्रव्य समान मात्रा में	२ ग्राम की मात्रा भोजन के प्रथम ग्रास में घी मिलाकर खाना २ बार	अग्निमान्द्य आदि	यह सर्वोत्तम दीपन-पाचन चूर्ण है। डकारें, आध्मान, उदरशूल, मन्दाग्नि, अजीर्ण और वातगुल्मों को नष्ट करता है। उदर में वायु भरना, ऊपर उठकर आना और कूजन के साथ अनियमित मल होना आदि लक्षणों को नष्ट करता है।
३ लवणभास्कर चूर्ण (शार्ङ्गधरसहिता)	१ सामुद्र नमक २ सोंचल नमक ३ नौसादर ४ सेंधानमक ५. धनिया ६ पीपर ७ पिपरामूल ८ स्याहजीरा ९ तेजपात १० नागकेसर ११ तालीसपत्र १२ अम्लवेत	८० ग्राम ५० ,, २० ,, २० ,, २० , २० ,, २० ,, २० ,, २० ,, २० ,, २० ,, २० ,,	भोजन के बाद २ बार, २-२ ग्राम तक या मट्ठे में	अग्निमान्द्य अजीर्ण	यह चूर्ण उत्तम दीपन, पाचन और [illegible] तथा मल का अनुलोमन करता है। [illegible] [illegible] आदि [illegible], [illegible] आदि रोग नष्ट होते हैं। [illegible] यदि नियमित रूप से भोजन के बाद इसका सेवन किया जाय, तो पाचन-क्रिया की विकृति से होने वाले रोगों से बचा जा सकता

	१३ कालीमिर्च १० ग्राम १४ सफेद जीरा १० ,, १५ सोठ १० ,, १६ अनारदाना ८० ,, १७ दालचीनी ५ ,, १८ छोटी इलायची ५ ,,			है। मन्दाग्नि और संग्रहणी रोग की यह श्रेष्ठ औषध है।

लवणयोग

१. नारिकेल लवण	पके हुए नारियल को लेकर जटा उतार कर वर्मा से छेदकर पानी निकाल दे। फिर सेधा-नमक का चूर्ण १२० ग्राम लेकर उस छिद्र से नारियल मे डाल-कर कार्क लगा दे, जिससे छेद बन्द हो जाय। नारियल पर कपडमिट्टी लगाकर सुखाकर महापुट मे फूंक दे। आग ठण्डी होने पर नारियल को निकाल कर अन्दर के नमक को निकाल कर पीसकर रख ले।	१-१ ग्राम की मात्रा जल से ४-४ घण्टे पर दिन मे ३ बार	शूल	यह पित्तदोपजन्य शूल की खास औषध है। यह पाचक, पित्तशामक, अम्लपित्त-नाशक, वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज शूल तथा परिणाम-शूलनाशक है।
२ अर्क लवण	सेंधानमक के चूर्ण के समभाग मदार के पके पत्ते हण्डी मे तह	१ से २ ग्राम तक गरम जल से दिन मे ३ बार।	यकृत्प्लीह रोग गुल्म	यह अजीर्ण, मन्दाग्नि उदरशूल, गुल्म और पाण्डुरोग को नष्ट करता

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	लगाकर बीच में नमक नीचे-ऊपर बीच-बीच में रखकर हण्डी के मुख पर पर्दा लगाकर कपडमिट्टी कर सन्धि-बन्द कर गजपुट में फूंक दें। आग के शीतल होने पर हण्डी का मुख खोलकर नमक निकाल पीसकर रख लें।			है। इसके सेवन से [illegible] वृद्धि और [illegible] [illegible] नष्ट होते हैं। विशेष - [illegible] [illegible] से [illegible] इसके प्रयोग से लाभ होते देखा है। यह [illegible] को [illegible] [illegible] को शुद्ध करता है।

अवलेहयोग

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
१ वासावलेह	अडूसे की साफ और धोई हुई जड़ २ किलो लेकर जौकुट कर १६ लीटर जल में औटावें, जब २ लीटर पानी बचे तो छानकर उसमें २ किलो चीनी डालकर चाशनी बना लें। गाढ़ा होने पर नीचे उतार कर पिप्पली चूर्ण और ताजा घी प्रत्येक २५० ग्राम मिलाकर पात्र में रख लें।	५ से १० ग्राम [illegible] से, [illegible]-शाम	राजयक्ष्मा	यह [illegible] राजयक्ष्मा [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] तथा [illegible] को [illegible] करता है। यह [illegible] रोगों में विशेष लाभ करता है। इसके प्रभाव से [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] हो जाता है। [illegible] इससे [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] आदि में बहुत लाभ होता है। इसे ३ ग्राम की मात्रा में २५०

				मिग्रा० यवक्षार चूर्ण मिलाकर चटाने से खाँसी मे अधिक लाभ होता है।
२ व्याघ्रीहरीतकी (आ० सा० सं०)	कटेली पञ्चाग जौकुट ६¼ किलो हर्रा खडा १०० अदद क्वाथार्थ जल ३२ लीटर अवशिष्ट जल ८ लीटर गुड ६¼ किलो **प्रक्षेप द्रव्य—** चतुर्जात चूर्ण मिलित ६० ग्राम त्रिकटु चूर्ण मिलित १८० ग्राम	५ से १० ग्राम तक जल या दूध से प्रात -साय	काम	इमके सेवन से वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज कास, क्षयजकास, क्षतज कास प्रतिश्याय, श्वास, स्वर-भेद, ग्यारह लक्षणो से युक्त राजयक्ष्मा आदि रोग नष्ट होते है। यह काम-श्वास की विशिष्ट औपध है।
३. च्यवनप्राशावलेह	वेल की छाल — कचूर पाढल की छाल — जीवक गनियार ,, — ऋषभक गम्भार ,, — नागरमोथा सोनापाठा ,, — पुष्करमूल गोखरू — कौवाठोठी सरिवन — मुगवन पिठवन — मापवन छोटी कटेरी — विदारीकन्द वडी कटेरी — गदहपुर्ना छोटी पीपर — काकोली काकडासिंगी — क्षीरकाकोली	१० से २० ग्राम तक गोदुग्ध से प्रात -साय	राजयक्ष्मा	यह रसायन और श्रेष्ठ पौष्टिक अवलेह है। खाँसी, पुराना दमा, राज-यक्ष्मा, शुक्रदोप, मूत्रदोप, हृदयरोग, स्वरभग, स्मरणशक्ति के ह्रास आदि विकारो मे उत्तम लाभ करता है। वालक, वृद्ध, युवा, स्त्रीसभोग से क्षीण, शोपरोगी, वीर्यविकार, श्वास, उर शूल के रोगी, इन सबके लिए महान उपकारी है। इसका सेवन सभी ऋतुओ मे किया जा सकता है।

औषध नाम	मुख्य घटक		मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	मुनक्का	कमल के फूल			
	गुरुच	मेदा			
	हर्रा वक्कल	महामेदा			
	वरियारमूल	शतावर			
	भुई आंवला	छोटी लाइची			
	अडूसामूल	अगर			
	ऋद्धि	सफेद चन्दन			
	जीवन्ती				
	—प्रत्येक ५०-५० ग्राम लेकर मोटा कूटें।				
	क्वाथार्थ जल	१६ लीटर			
	अवशिष्ट	४ लीटर			
	आंवला ५०० गिनकर	६½ किलो			
	चीनी	६½ किलो			
	गोघृत	८०० ग्राम			
	प्रक्षेप द्रव्य—				
	वंशलोचन	२५० ग्राम			
	पीपर	१२५ ग्राम			
	दालचीनी	५० ग्राम			
	तेजपात	५० ग्राम			

	नागकेशर	५० ग्राम			
	छोटी इलायची	५० ग्राम			
	मधु	४०० ग्राम			
५. कूष्माण्डावलेह (वृहत्)	पका पुष्ट, निर्वीज, त्वचारहित, कद्दूकस से कसा हुआ सफेद कोहडा	५ किलो	२०-२५ ग्राम की १-१ मात्रा गोदुग्ध से प्रातःसाय ।	रक्तपित्त	रक्तपित्त, शीतपित्त, अम्लपित्त, अरोचक, मन्दाग्नि, दाह, तृष्णा, प्रदर, रक्तार्श, छर्दि, पाण्डुरोग, कामला, उपदश, विसर्प, जीर्णज्वर तथा विषमज्वर मे अतिशय लाभ पहुँचाता है ।
	गोदुग्ध	५ लीटर	**नोट**—इसे चीनी मिट्टी के पात्र या शीशे के वैयाम मे रखना चाहिए ।		यह अवलेह उच्चकोटि का वाजीकरण, पौष्टिक एव वल को बढाने-वाला है ।
	चीनी	७½ किलो			
	घृत	८०० मिली०			
	मधु	४०० मिली०			
	कद्दूकस मे कसी				
	नारियल गिरी	२०० ग्राम			
	चिरौजी	१०० ,,			
	तीखुर	५० ,,			
	सौफ १२ ग्राम कचूर	चूर्ण			
	वशलोचन चूर्ण जायफल	,,			
	अजवायन ,, लवग	,,			
	गोखरु ,, छोटीलाची	,,			
	तालमखाना,, बडीलाची	,,			
	हर्रा छिलका,, सिघाडा	,,			
	केवाँचबीज ,, पित्तपापडा	,,			

औषध नाम	मुख्य घटक		मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	दालचीनी चूर्ण	प्रत्येक ५० ग्राम			
	प्रत्येक २५ ग्राम	चन्दन चूर्ण			
	धनिया चूर्ण	सोंठ ,,			
	पीपर ,,	आमला ,,			
	नागरमोथा ,,	कमेल ,,			
	असगन्ध ,,	प्रत्येक १० ग्राम			
	जवाखर ,,	गज चूर्ण			
	तुलसी ,,	तालमखाना ,,			
	नागकेसर ,,	मजीठ ,,			
	नेत्रबाला ,,	प्रत्येक २५ ग्राम			
	तेजपात ,,				

आसव योग

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
१ कुमार्यासव (शा० ध० सं०)	घृतकुमारी स्वरस गुड़ लौहचूर्ण मधु स्वर्णमाक्षीक भस्म धावा का फूल	२०-२५ मि० ली० समान जल मिलाकर भोजन के बाद दोनों समय पीना	मन्दाग्निरोग	यह पाचन-प्रणाली की क्रिया को बढ़ाता है, क्षुधावर्धक और पौष्टिक है। इसके सेवन से गुल्म, परिणाम-शूल, यकृत्प्लीहाविकार, अग्निमान्द्य, पाण्डु, जीर्ण ज्वर, मन्दज्वर, प्रमेह,

	त्रिफला हाऊबेर त्रिकटु अकरकरा त्रिमद कुटकी पिपरामूल पुनर्नवा गजपीपर मुनक्का चाभ			उदावर्त, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, कृमि-रोग, मासिकधर्म का न होना या कम होना, गर्भाशय के दोष, सग्रहणी और अर्श आदि रोगो मे आरोग्य लाभ होता है।
२ लोहासव	लोहे का बुरादा त्रिकटु त्रिफला त्रिमद धावा का फूल मधु गुड जल	२०-२५ मि०ली० बराबर जल मिलाकर पीना भोजन के बाद दोनो समय	पाण्डुरोग	यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, यकृत्प्लीहा की विकृति को दूर करता है और रक्ताणुओ की वृद्धि करता है। इसके सेवन से पाण्डुरोग, गुल्म, शोथ, अरुचि, उदररोग, अर्श, सग्रहणी, जीर्णज्वर, अग्निमान्द्य, कास-श्वास, कुष्ठ, कण्डू, भगन्दर और हृद्रोग मे लाभ होता है।
३ कनकासव	शाखा-पत्र-मूल और फलसहित कूटा धतूर एव अडूसे की जड मुलहठी तालीसपत्र पीपर धावा का फूल छोटी कटेरी मुनक्का नागकेसर चीनी सोठ मधु भारगी जल	२०-२५ मि०ली० बराबर जल के साथ पीना। भोजन के बाद दोनो समय	हिक्का-श्वास	श्वास-पथ के शोथ, दमा और फुप्फुस के रोगो मे इसका प्रयोग सफल होता है। कफ ढीला होकर निकलने लगता है। इसके सेवन से कास-श्वास, यक्ष्मा, क्षतक्षय, जीर्णज्वर, रक्तपित्त, उर क्षत आदि रोग शान्त हो जाते हैं।

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
		अरिष्टयोग		
१ अशोकारिष्ट	अशोक की छाल के क्वाथ का जल गुड धावा का फूल त्रिफला स्याहजीरा नागरमोथा सोंठ दारुहल्दी नीलोफर आम की गुठली की गिरी सफेद जीरा सफेद चन्दन वासा मूल	२०-२५ मि०ली० बराबर जल मिलाकर पीना। भोजन के वाद दोनो समय	स्त्रीरोग	यह स्त्रियो को प्राय होनेवाले रोगो की प्रसिद्ध औषध है। यह श्वेत तथा रक्तप्रदर, कष्टार्तव, पाण्डु, शोथ, मन्दाग्नि, अर्श, अरुचि, गर्भाशय एव योनिभ्रंश, वन्ध्यत्व, ज्वर, रक्तपित्त आदि रोगो को नष्ट करता है।
२ सारस्वतारिष्ट	ब्राह्मी, शतावर, विदारीकन्द, वडी हर्रे, खस, अदरक, सौफ —इनका क्वाथ। मधु बहेडा चीनी छोटीलाची धावा का फूल दालचीनी हेणुका स्वर्णपत्र निशोथ वच पीपर अमगन्ध	१५-२० मि०ली० समान जल मिलाकर भोजन के वाद दोनो समय	रसायन-अधिकार	यह आयु, वीर्य, स्मृति, मेधा, वल, और कान्ति की वृद्धि करता है। वाणी को शुद्ध करता हे। हृदय को वल देने वाला और रसायन है। आवाल-वृद्ध-वनिता सवके लिए हितकर हे। भ्रम, तन्द्रा, अनिद्रा, स्वरभग, मूर्च्छा आदि को दूर करता हे। स्त्रियो के रजोदोप और पुरुपो के वीर्यदोष को दूर करता है। गर्भाशय को सबल

३	कुटजारिष्ट (आ० सा० स)	कुटज की छाल ५ किलो मुनक्का २½ किलो महुए का फूल ५०० ग्राम गम्भारी के फूल, फल या छाल ५०० ग्राम —सभी जौकुट क्वाथार्थ जल ५२ लीटर शेष १३ लीटर गुड ५ किलो धावा का फूल १ किलो वक्तव्य—कुटज कडवा होता है, इसलिए गुड ५ किलो और डालना चाहिए।	२०-२५ मिली० समान भाग जल मिलाकर भोजन के बाद दोनो समय पीना	अतिसार	इसके सेवन से पुरानी सग्रहणी, अतिसार, अग्निमान्द्य, अरुचि, जीर्णज्वर, दुर्बलता, ग्रहणी, सरक्ता प्रवाहिका, रक्तातिसार आदि रोग शान्त होते है। उदर मे ऐठन, मरोड होना, आँव गिरना, रह-रहकर दर्द उठना, अनियमित शौच लगना आदि शिकायतो को दूर करता है। अतिसार और ग्रहणी रोग मे इससे उत्तम लाभ होता है।

तैलयोग

१	महानारायण तैल	प्रक्षेप द्रव्य— रास्ना, तगर असगन्ध, नागरमोथा सौफ, तेजपात देवदारु, भृगराज	इस तेल का अभ्यग-मालिश करने, भोज्य-पेय मे खाने और वस्ति के रूप मे भी प्रयोग होता है।	वातव्याधि	इस तेल के प्रयोग से एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, अर्दित, गात्रकम्प, पङ्गु-खञ्जवात, मन्यास्तम्भ, हनुस्तम्भ, शाखाश्रित वात, कोष्ठाश्रित वात, दन्तशूल, शिर शूल तथा वाधिर्य

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	कूठ जीवक शालिपर्णी ऋषभक मुद्गपर्णी काकोली अगर क्षीरकाकोली नागकेसर मेदा सेंधानमक महामेदा जटामसी ऋद्धि हल्दी वृद्धि दारुहल्दी सुगन्धवाला छरीला वच सफेद चन्दन पलासमूल पोहकरमूल गठिवन छोटीलाची पुनर्नवामूल मजीठ चोरपुष्पी मुलहठी प्रत्येक द्रव्य ९६-९६ ग्राम का कल्क डालकर तैलपाक करें। **द्रव-द्रव्य—** बेल छाल, असगन्ध, बडी कटेरी, गोखरू, सोनापाठा,			आदि रोग दूर होते हैं। शरीर की कान्ति वढती है। स्त्री-प्रियता, शरीर-सौन्दर्य और स्मृतिशक्ति की वृद्धि होती है। देवासुर-सग्राम मे राक्षसो द्वारा स्नायुभग्न तथा अस्थिभग्न देवो के वृहण के लिए श्रीनारायण ने अपने नाम से इस तैल को बनाया था।

	वरियार पचाग, फरहद, छोटी कटेरी, पुनर्नवामूल, गनियार, ककहियापचाग, गन्धप्रसारिणी, पाढल—प्रत्येक ९३३-९३३ ग्राम ले। इन्हे जौकुट करके १८५ किलो जल मे क्वाथ करे और ४७ किलो शेष रखे। मूर्च्छित तिलतैल ११ किलो ६६२ ग्राम बकरी या गाय का दूध ११ किलो ६६२ ग्राम शतावर का क्वाथ ११ किलो ६६२ ग्राम वक्तव्य—तैल तैयार हो जाने पर उसमे कपूर, केशर और कस्तूरी ५०-५० ग्राम (यथालाभ) रेक्टीफाइड स्प्रिट मे मिलाकर सुरक्षित रख ले।			
२. महामाष तैल (आ०सा०स०)	प्रक्षेप द्रव्य— असगन्ध हीग कचूर सौफ देवदारु गोखरू	इन तैल का अभ्यङ्ग, पान और नस्य के द्वारा प्रयोग कराये।	वातव्याधि	पक्षाघात, हनुस्तम्भ, अर्दित, अपतन्त्रक, अववाहुक, विश्वाची, खञ्जवात, पगुवात, शिरोग्रह, मन्यास्तम्भ, वातिक अधिमन्थ, कलाय-

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	वरियार पिपरामूल गस्ना चित्रक प्रसारिणी सेधानमक कूठ मेदा फालसा महामेदा भारगी काकोली विदारीकन्द क्षीरकाकोली क्षीरविदारी जीवक पुनर्नवा ऋषभक शतावर ऋद्धि विजौरा नीबू वृद्धि सफेदजीरा मुलहठी स्याहजीरा जीवन्ती इन सबको मिलाकर २०० ग्राम लेकर कल्क बनाकर तैल में डालकर तैलपाक कर लें। १ दशमूल जौकुट २ ९८७ किलो क्वाथार्थ जल २३·८४२ किलो क्वाथ शेष ५ ९७४ किलो २ उडद जौकुट २ ९८७ किलो			खञ्ज, कर्णनाद आदि रोगो मे प्रयोग करना लाभप्रद है। कफ एव वात प्रकृतिवाले पुराने वातरोगो मे यह चमत्कारपूर्ण लाभ करता है। इसके साथ महायोगराज गुग्गुलु आधा-आधा ग्राम महारास्नादि क्वाथ के अनुपान के प्रात -साय लेते रहने से शीघ्र लाभ होता है।

क्वाथार्थ जल		२३.८४२ किलो
क्वाथ शेष		५.९७४ किलो
३	गोदुग्ध	१.५०० किलो
४.	मूर्छित तिलतैल	१.५०० किलो

३ बलातैल

प्रक्षेप द्रव्य—

काकोली	राल
क्षीरकाकोली	सरलकाष्ठ
मेदा	देवदारु
महामेदा	मजीठ
जीवक	लालचन्दन
ऋषभक	कूठ
ऋद्धि	छोटी इलायची
वृद्धि	तगर
मुद्गपर्णी	जटामसी
माषपर्णी	छडीला
वंशलोचन	तेजपात
पुण्डरीककाष्ठ	तगर
पद्माख	अनन्तमूल
जीवन्ती	वच
गुरुच	शतावर
काकडासिंगी	असगन्ध
किसमिस	सोवा

इसका प्रयोग रोगी के बल का विचार कर उचित मात्रा मे करना चाहिए। यह अभ्यङ्ग, पान और वस्ति के लिए प्रयुक्त होता है।

सुश्रुत ने मूढगर्भ मे सूतिका के वायुनाशार्थ योनितर्पण, अभ्यङ्ग, वस्ति आदि कर्मों मे प्रयुक्त करने को कहा है।

वातव्याधि

यह सूतिकारोग को नष्ट करता है। गर्भिणी स्त्री और क्षीणवीर्य पुरुष के लिए यह अतीव लाभकारक है।

मर्मस्थान पर चोट लगी हो या कही भी चोट हो, भग्न हो या श्रम-जनित पीडा हो, उनमे इसके प्रयोग से वेदना का शमन होता है।

आक्षेपक, हिक्का, कास, अधिमन्थ, गुल्म, श्वास आदि को नष्ट करता है। इसके लगातार प्रयोग से धातुओ का पोषण होता है और यौवन स्थिर रहता है।

औषध नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
	सेंधानमक पुनर्नवा अगर इनका मिलित कल्क १ किलो डालकर तैलपाक करे । १ वलामूल जौकुट १६ किलो क्वाथार्थ जल १२८ किलो अवशिष्ट क्वाथ ३२ किलो २ दशमूलमिलित जौकुट १६ किलो क्वाथार्थ जल १२८ किलो अवशिष्ट क्वाथ ३२ किलो ३ जौ-बेर-कुलथी मिलित १६ किलो क्वाथार्थ जल १२८ किलो अवशिष्ट क्वाथ ३२ किलो ४ गोदुग्ध ३२ किलो ५ मूर्च्छित तिलतैल ४ किलो			
४ षड्बिन्दु तैल	**कल्कद्रव्य —** एरण्डमूल सेंधानमक तगर दालचीनी	शिर शूल के रोगी को उत्तान सुलाकर दोनो नथुनो मे ६-६ बूँद इस	शिरोरोग	इसके नस्य से केश तथा दाँत दृढ होते हैं, दृष्टिशक्ति बढती है और गजापन दूर होता है ।

	मोवाबीज वायविडग जीवन्ती सोठ रास्ना मुलहठी इनका मिलित ७५० ग्राम का कल्क डालकर विधिवत् तैल-पाक कर ले। बकरी का दूध २.९८७ कि ग्रा भृगराजस्वरस ११.९४८ कि मूर्च्छित तिलतैल २.९८७ कि	तेल को डालना चाहिए।	बार-बार सर्दी-जुकाम होना, पुराना प्रतिश्याय और नासाशोथ मिटता है। सम्पूर्ण शिरोरोगो के नाश के लिए यह तेल अतीव प्रसिद्धि को प्राप्त है।
५ पातितभल्लातक तैल (चरक० चि०१।२।१४)	पके हुए पुष्ट भिलावो को लेकर सरौता से काटकर छोटे-छोटे टुकडे कर ले। फिर उन टुकडो को एक साफ मजबूत हाँडी मे भरकर रख दे। एक दूसरी हाँडी लेकर उसके भीतरी तह मे घी चुपडे और उसे गले तक जमीन मे गाड दे। फिर इस गडे हुए मृत्पात्र के ऊपर भिलावे से भरी हुई हाडी रख दे। भिलावो वाली हाँडी के मुख को ढक्कन से बन्द करके काली मिट्टी से ऊपर की हाँडी पूरा भाग तथा जमीन मे गडी हुई हाँडी के मुख के सन्धि-भाग को ऐसे बन्द कर दे कि जिससे नीचे की हाँडी के मुख से वाष्प बाहर न निकल पाये। अब हाँडी के ऊपर मोटे-मोटे गोहरे रखकर उनमे आग लगा दे। उस आग के ताप से भिलावो का स्वेदन हो जायेगा और उनका तैल पसीज कर नीचे की हाँडी मे गिर जायेगा। यही पातित भल्लातक तैल है।		गुण-कर्म—इससे रसायन के सभी लाभ प्राप्त होते है और १०० वर्ष तक बुढापारहित आयु प्राप्त होती है।

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म

वक्तव्य—ऊपर की भिलावो से भरी हांडी की पेंदी मे अनेक छोटे छिद्र कर देने चाहिए, जिससे तेल नीचे के पात्र मे सचित हो।

मात्रा—इस भल्लातक तैल को पहले अल्पतम मात्रा ५ बूँद मे ४० बूँद मधु और १० बूँद घृत मिलाकर दे। चिकित्सक के परामर्श से क्रमश मात्रा बढाये।

लेपयोग

औषधि नाम	मुख्य घटक	मात्रा/अनुपान	अधिकार	गुणकर्म
[illegible]ाङ्ग लेप	१ सिरस की छाल २ मुलहठी ३ तगर ४ लालचन्दन ५ छोटी इलायची ६ जटामसी ७ हल्दी ८ दारुहल्दी ९ कूठ १० गन्धवाला सब समान भाग मे लेकर वारीक चूर्ण बनाकर रख ले।	जैसे स्थान पर लेप करना हो, उसी अन्दाज मे चूर्ण लेकर घी मिलाकर लगाने योग्य बना ले और लेप करे।	विसर्प	इसके लेप करने से विसर्प, कुष्ठ और शोथ दूर होते हैं। शोथ के दर्द को और किसी जन्तु द्वारा काटने मे उत्पन्न शोथ की पीडा को नष्ट करता है। वक्तव्य—यदि इन्ही द्रव्यो का चूर्ण या क्वाथ आभ्यन्तर (खाने के लिए) प्रयोग किया जाए तो विसर्प आदि मे शीघ्र लाभ होता है।

आचार्य विद्याधर शुक्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व

जीवन-परिचय—आपका जन्म ग्राम–पुरैना तहसील–रुद्रपुर जिला–देवरिया (उ० प्र०) मे १ मई सन् १९२१ को हुआ। आपको आयुर्वेद का ज्ञान विरासत मे मिला है। आप पाँच भाइयो मे कनिष्ठ हैं। ज्येष्ठ भ्राता प० राजदेव शुक्ल और मझले भ्राता प० बाबूराम शुक्ल अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ के आचार्य हैं। आपके पिता स्व० प० रामसुभग शुक्ल और पितामह स्व० प० जयनारायण शुक्ल धर्मनिष्ठ, परम आस्तिक एव कुलीन जमीदार थे, जिनका प्रमुख व्यवसाय कृषि था।

शिक्षा—आपकी प्रारम्भिक शिक्षा समीपवर्ती ग्राम–करायल शुक्ल मे हुई। तदनन्तर आदर्श सस्कृत महाविद्यालय (किशोरगज, सलेमपुर, जि० देवरिया) मे दश वर्षों तक सस्कृत का अध्ययन कर व्याकरणशास्त्री, साहित्यशास्त्री और काव्य-तीर्थ की परीक्षाएँ क्रमश (सस्कृत) क्वीन्स कालेज, बनारस, बिहारोत्कल सस्कृत एसोसियेशन, पटना और बगाल सस्कृत एसोसियेशन, कलकत्ता से उत्तीर्ण की।

एम० ए० (सस्कृत एव प्राचीन इतिहास और सस्कृति) गोरखपुर विश्व-विद्यालय से किया। सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से 'आयुर्वेद-शास्त्रे भूतविद्याया सर्वेक्षणात्मकमध्ययनम्' विषय पर शोधप्रबन्ध उपस्थापित कर 'विद्यावारिधि' (Ph D) की उपाधि ग्रहण की।

आयुर्वेद—व्याकरण-साहित्य-दर्शन आदि के अध्ययन के पश्चात् अपने अग्रज बन्धुओ का चिकित्सक के रूप मे लोक-सम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा और धनार्जन को देखकर आपकी आयुर्वेदाध्ययन की ओर रुचि हुई। उन दिनो पटना के भारत-प्रसिद्ध वैद्यरत्न, आयुर्वेदरत्नाकर प० व्रजविहारी चतुर्वेदी, बनारस के प० त्र्यम्बक शास्त्री, बम्बई के यादवजी त्रिकमजी आचार्य, इन्दौर के प० ख्यालीरामजी द्विवेदी, नागपुर के प० गोवर्धन शर्मा छागाणी, कानपुर के प० किशोरीदत्त वाजपेयी और कलकत्ता के प० गणनाथ सेन सरस्वती का आयुर्वेद के श्रेष्ठतम चिकित्सको मे शीर्ष स्थान था। अग्रज प० बाबूराम शुक्ल ने पटना के चतुर्वेदीजी के सान्निध्य और शिष्यत्व मे रहकर शास्त्र और व्यावहारिक चिकित्सा का पर्याप्त अनुभव अर्जित किया था, जिसकी छाप आप पर पडी एव आपने स्व० प० व्रजविहारी चतुर्वेदी के सान्निध्य मे रहकर राजकीय आयुर्वेदिक कालेज के छात्र के रूप मे आयुर्वेदाचार्य (जी० ए० एम० एस०) की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। आपका कथन है कि—

'जईफी जिन्दगी मे वक्त की बेजा खानी है।
अगर जिन्दादिली है तो बुढापा भी जवानी है'।

आपका प्रत्येक क्षण व्यस्त है और वह किसी-न-किसी कार्य मे व्यतीत होता है। आप चाणक्य के इस सूत्र का बार-बार उद्धरण देते है—

'विद्या कामदुघा धेनु. सन्तोषो नन्दन वनम्'।

चिकित्सा—आपने पटना से आयुर्वेदाचार्य उत्तीर्ण कर देवरिया जिले के मुख्यालय देवरिया नगर मे चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया, जो सन् १९४५ से १९६५ तक सतत चलता रहा। सन् १९६५ मे आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग मे अध्यापक नियुक्त हुए और १९८१ तक वाराणसी मे चिकित्सा-कार्य करते रहे। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् अपने गृहजनपद के लगाव और निवास की सुविधा उपलब्ध होने के कारण पुन देवरिया नगरस्थ जलकल रोड वाले भवन मे रहकर चिकित्सा-कार्य कर रहे है। पूर्वाञ्चल के शिक्षाविद् आयुर्वेद चिकित्सको की गणना मे आप प्रथम व्यक्ति है।

अध्यापन—श्री राधाकृष्ण सस्कृत कालेज, देवरिया, बाबा राघवदास डिग्री कालेज, देवरिया, सन्त विनोबा डिग्री कालेज, देवरिया तथा आयुर्वेद महाविद्यालय सम्पूर्णानन्द सस्कृत वि० वि०, वाराणसी।

इन शिक्षा-संस्थानो मे आपने विभिन्न विषयो का अध्यापन-कार्य किया है। १ मई सन् १९८१ को आपने अवकाश ग्रहण किया। तब से अपने आवास पर चिकित्सा-सेवा मे सलग्न है और खाली समय का सदुपयोग पठन-मनन एव लेखन-कार्य मे करते है।

कृतित्व—

(१) 'आयुर्वेदशास्त्रे भूतविद्याया सर्वीक्षणात्मकमध्ययनम्'--यह आपका शोध प्रबन्ध है, जिसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने किया है।

(२) आपके निर्देशन मे सैकडो छात्रो ने कायचिकित्सा एव मौलिक सिद्धान्त के विभिन्न विषयो पर शोध-ग्रन्थ लिखा है।

(३) आयुर्वेद, साहित्य एव सामाजिक विषयो पर आपके शताधिक गवेषणात्मक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए है।

(४) **प्रकाशन**—१ 'भूतविद्या' शोध-प्रबन्ध, स० स० वि० वि० वाराणसी, २ आयुर्वेद का इतिहास और परिचय, ३ पदार्थ-विज्ञान, ४. आयुर्वेदीय विकृति विज्ञान, ५ कायचिकित्सा १ से ४ भाग सम्पूर्ण तथा ६. चरकसहिता-हिन्दी व्याख्या।

(५) **सामाजिकता**—१ नागरी प्रचारिणी सभा, देवरिया, २ रामलीला समिति, देवरिया, ३ पारिजात परिषद्, देवरिया, तथा ४ विश्व हिन्दू परिषद्, देवरिया आदि से सम्बद्ध।

(६) **परिवार**—स्त्री श्रीमती सुशीला देवी, पुत्र डा० आशुतोष शुक्ल, पुत्री नन्दा देवी, पौत्र सुधाशु शुक्ल तथा पौत्रियाँ - शुभ्रा और प्रज्ञा।

आशुतोष शुक्ल
आयुर्वेदाचार्य
जलकल रोड, देवरिया